श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

इष्टोपदेश प्रवचन

प्रथम व द्वितीय भाग

प्रवक्ता:
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमे ।

प्रथम सस्करण १०००] सन् १९७३ [मूल्य ७)

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एव प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान्	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२		वर्णीसघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,,	सेठ गैदामल दगडूशाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,,	मत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैनसघी,	जयपुर
२२	,	मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरजीलाल जी जैन	
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	

२६	श्रीमान् सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,, मुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बडौत
२८	,, गोकुलचद हरकचद जी गोधा,	लालगोला
२९	,, दीपचद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इजीनियर,	कानपुर
३०	,, मत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मडी,	आगरा
३१	,, सचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमक की मडी,	आगरा
३२	,, नेमिचन्द जी जैन, रुडकी प्रेस,	रुडकी
३३	,, झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,, रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,, मोल्हडमल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,, बनवारीलाल निरजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,, दिगम्बर जैनसमाज	गोटे गॉव
३९	,, माता जी धनवती देवी जैन, राजागज	इटावा
४०	,, ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"	रुडकी
४१	,, लाला महेन्दकुमार जी जैन,	चिलकाना
४२	,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन,	चिलकाना
४३	,, हुकमचद मोतीचद जैन,	मुलतानपुर
४५	,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४४	,, इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४६	श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी	मुलतानपुर
४७	,, * गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
४८	,, * बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावडा,	झूमरीतिलैया
४९	,, * सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या,	जयपुर
५०	,, * बा० दयाराम जी जैन आर. एस डी. ओ.	सदर मेरठ
५१	,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
५२	,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट—जिन नामोके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये है, शेष आने है तथा जिन नामोके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है ।

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हू स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मै वह हूं जो है भगवान, जो मै हू वह है भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह रागवितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दु:ख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दु:ख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दु:खका नहि लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचू निज धाम, आकुलताका फ़िर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मै जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहू अभिराम ॥५॥

°°°O°°°

[धर्मप्रेमी बधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नाकित अवसरो पर निम्नाकित पद्धतियो मे भारतमे अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोके बीचमे श्रोतावो द्वारा सामूहिक रूपमे ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमे ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमे छात्रो द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषो द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा ।

इष्टोपदेश प्रवचन प्रथम भाग

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

स्वभावावाप्ति—समस्त कर्मोका अभाव होनेपर जिसको स्वयं स्वभावकी प्राप्ति हो जाती है उस सम्यग्ज्ञानस्वरूप परमात्माके लिए मेरा नमस्कार हो। इस मंगलाचरणमे पूज्यपाद स्वामीने अपने आशयके अनुकूल प्रयोजनसे नमस्कार किया है। वे थे सम्यग्ज्ञानके पूर्ण विकासके इच्छुक, अत नमस्कार करनेके प्रसंगमे सम्यग्ज्ञानस्वरूप परमात्मापर दृष्टि गयी है। यह सम्यग्ज्ञानस्वरूपपना अन्य और कुछ बात नही है। जैसा स्वभाव है उस स्वभाव की प्राप्तिरूप है। जीवको ज्ञान कही कमाना नही पडता है कि ज्ञान कोई परतत्त्व हो और उस ज्ञानका यह उपार्जन करे, किन्तु ज्ञानमय ही स्वय है इसके विकासका बाधक कर्मोका आवरण है। कर्मोका आवरण दूर होनेपर स्वयं ही स्वभावकी प्राप्ति होती है।

प्रभुकी स्वयंभुता—प्रभुके जो परमात्मत्वका विकास है वह स्वयं हुआ है, इसी लिए वे स्वयंभू कहलाते है। जो स्वयं हो उसे स्वयभू कहते है। स्वय की परणतिसे ही यह विकास हुआ है, किसी दूसरे पदार्थके परिणमनको लेकर यह आत्मविकास नही हुआ है और न किसी परद्रव्यका निमित्त पाकर यह विकास हुआ है। यह विकास सहज सत्त्वके कारण बाधक कारणोके अभाव होनेपर स्वयं प्रकट हुआ है। इस ग्रन्थके रचयिता पूज्य-पाद स्वामी है। भक्तियोके सम्बन्धमे यह कहा जाता है कि जितनी भक्तियाँ प्राकृत भाषामे है उन भक्तियोके रचयिता तो पूज्य कुन्दकुन्दस्वामी है और जितनी भक्तियाँ सस्कृतमे है उनके रचयिता पूज्यपाद स्वामी है। ये सर्व विषयोमे निपुण आचार्य थे। इनके रचे गए वैद्यक ग्रन्थ, ज्योतिषग्रन्थ, व्याकरणग्रन्थ आदि भी अनूठे रहस्यको प्रकट करने वाले है। इस ग्रन्थका नाम इष्टोपदेश कहा गया है। इस ग्रन्थके अंतमे स्वयं ही आचार्यदेवने "इष्टो-पदेशं इति" ऐसा कहकर इस ग्रन्थका नाम स्वयं इष्टोपदेश माना है।

इष्टका उपदेश—इस ग्रन्थमे इष्ट तत्त्वका उपदेश है। समस्त जीवोको इष्ट क्या है? आनन्द। उस आनन्दकी प्राप्ति यथार्थमे कहाँ होती है और उस आनन्दका स्वरूप क्या है? इन सब इष्टोके सम्बन्धमे ये समस्त उपदेश है। आनन्दका सम्बध ज्ञानके साथ है, धन वैभव आदिके साथ नही है। ज्ञानका भला बना रहना, ज्ञानमे कोई दोष और विकार न आ सके, ऐसी स्थिति होना इससे बढकर कुछ भी वैभव नही है, जड विभूति तो एक अंधकार है।

उस इष्ट आनन्दकी प्राप्ति ज्ञानकी प्राप्तिमे निहित है और उस ज्ञानकी प्राप्तिका उद्देश्य लेकर यहाँ ज्ञानमय परमात्माको नमस्कार किया है। स्वभाव ही ज्ञान है। आत्माका जो शुद्ध चैतन्यरूप निश्चल परिणाम है, जो स्वतंत्र है, निष्काम है, रागद्वेष रहित है, उस स्वभावकी प्राप्ति स्वय ही होती है, ऐसा कहा है।

उपयोगसे स्वभावकी प्राप्ति—भैया! स्वभाव तो शाश्वत है किन्तु स्वभावकी दृष्टि न थी पहिले और अब हुई है, इस कारण स्वभावकी प्रसिद्धिको स्वभावकी प्राप्ति कहते है। स्वभावकी प्राप्तिमे कारण कुछ नही है, एक कर्मोका अभाव ही कारण है, विधिरूप कारण कुछ नही है किन्तु स्वभावकी दृष्टि न हो सकनेमे कारण था कर्मोका उदय इस कारण कर्मोके अभावको स्वभावकी प्राप्तिका कारण कहा है। स्वभावकी प्राप्ति होनेके बाद अनन्तकाल तक स्वभाव बना रहता है, विकसित रहता है, प्राप्त रहता है। वहाँ कौन सा कारण है, न कोई विधिरूप और न कोई निषेधरूप। वहाँ तो धर्म आदिक द्रव्य जैसे स्वभावसे अपने गुणोमे परिणत रहते है ऐसे ही ये सिद्ध संत भगवत अपने ही गुणोमे स्वभावत अपने सत्त्वके कारण शुद्धरूपसे परिणमते रहते है पर प्रथम बारकी प्राप्ति कर्मो के अभावको निमित्त पाकर हुई है। जिस समय तपश्चरण आदिक योग्य स्थितियोके धारण से ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मोका क्षय हो जाता है और रागद्वेषादिक भाव कर्मोका क्षय हो जाता है तब यह आत्मा सम्यग्ज्ञानस्वरूप इस चिदानन्द ज्ञानघन निश्चल टकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

स्वभावकी सहजसिद्धताका एक दृष्टान्त—स्वभाव कहीसे लाकर नही पाना है वह तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल है। जैसे पाषाणकी प्रतिमा पहिले एक मोटा पाषाण ही था। किसी धर्मात्माको कारीगरसे उस पाषाणमे से प्रतिमा निकलवानी है। कारीगर बडी गौर से उस पाषाणको देखता है और सब समझकर कह देता है कि हाँ इसमे ऐसी प्रतिमा निकल आयगी। कारीगरने पाषाणको देखकर ज्ञानबलसे उस पाषाणमे प्रतिबिम्बका दर्शन कर लिया है, उसने आँखोंसे नही उस प्रतिमाके दर्शन कर लिया, किन्तु ज्ञानसे। अब उस प्रतिमाको अनुरागवश प्रकट करनेके लिए कारीगर क्या करेगा? प्रतिमा न बनावेगा। प्रतिमा तो उस पाषाणके जिन अवयवोमे से प्रकट होगी उन्ही अवयवोमे अब भी है। उन प्रतिमाके अवयवोका आवरण करने वाले जो पाषाणखण्ड है उनको यह कारीगर अलग करता है, जिन पत्थरोके टुकडोके कारण वह प्रतिमा किसीको नजर नही आ रही है उन टुकडोको यह कारीगर अलग करता है, कारीगरको सब विदित है।

आवरकोंके अभावमें अन्तःस्वरूपके विकासका दृष्टान्तमर्म—यह कारीगर उन खण्डो को पहिले साधारण सावधानीके साथ अलग करता है। सावधानी तो उसके अन्दरमे बहुत

बडी है, किन्तु वहाँ इतनी आवश्यक नही समझी सो बडी हथौडासे उन खण्डोंको जुदा करता है। मोटे-मोटे खण्ड जुदे होनेपर अब उसकी अपेक्षा विशेष सावधानी बरतता है, उससे कुछ पतली छेनी और कुछ हल्की हथौडी लेकर कुछ सावधानीके साथ उन पाषाण खण्डोंको निकालता है। तीसरी वारमे अत्यन्त अधिक सावधानीसे और बडे सूक्ष्म यत्नसे बहुत महीन छेनीको लेकर और बहुत छोटे हथौड़ेको लेकर अब उन सूक्ष्म खण्डोंको भी अलग करता है, अलग हो जाते है, ये सब आवरक पाषाणखण्ड तो वे अवयव प्रकट हो जाते है जिन अवयवोमे मूर्तिका दर्शन हुआ है। कारीगरने मूर्ति बनानेके लिए कुछ नई चीज नही लाई, न वहाँके किन्ही तत्त्वोको उसने जोडा है, केवल जो प्रतिमा निकली है उन अवयवोके आवरक या खण्डोको ही उसने अलग किया है। वह प्रतिमा तो स्वयभू है, किसी अन्य चीजसे बनी हुई नही है।

आवरकोंके अभावमें अन्तःस्वरूपका विकास—ऐसे ही जो सम्यग्दृष्टि इस चैतन्य-पदार्थमे अत स्वभावके दर्शन कर लेते है उनके यह साहस होता है कि इस स्वभावको वे प्रकट कर ले। इस स्वभावके प्रकट होनेका ही नाम परमात्मस्वरूपका प्रकट होना है। स्वभाव प्रकट करनेके लिए किन्ही परतत्त्वोको नही जोडना है, किन्तु उस स्वभावको आवरण करने वाले जो विभाव है, रागद्वेष विषयकषाय शल्य आदिक जितने विभाव है उन सबको वह दूर करता है। कैसे वह दूर करता है ? स्वभावमे और उन परभावोमे भेदज्ञानका उपयोग करके करता है।

ज्ञानीकी सावधानी सहित वर्तना—भेदविज्ञानके यत्नमे इस ज्ञाताके पहिले तो एक साधारण सावधानी होती है जिसमे यह इस शरीरसे भिन्न आत्माको परखता है। यद्यपि अन्तरमे सावधानीका माद्दा वही पूर्णरूपेण पडा हुआ है लेकिन अत्यन्त अधिक सावधानीकी आवश्यकता नही रहती है किन्तु उसकी आतरिक सावधानीका सम्बंध रखकर जो साधारण सावधानी चलती है उससे ही शरीर और आत्मामे भेदकी परख हो जाती है, यह पहिली सावधानी है। इसके पश्चात् अतरगमे एक क्षेत्रावगाहसे पडे हुए जो अन्य सूक्ष्म कार्माण आदिक पुद्गल द्रव्य है, जिनका इस आत्माके साथ निमित्तनैमित्तिक बंधन है उन कार्माण द्रव्योसे भी अपनेको जुदा कर लेता है। इसके पश्चात तीसरी सावधानीमे कुछ विशेष ज्ञान-बल लगाना है। प्रवर्तते हुए रागद्वेषादिक भावोसे यह पृथक् है, इनसे भिन्न यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा हू ऐसा भेद डालना निरखना यह सूक्ष्म सावधानीका काम है। जहाँ रागद्वेष विषय कषायोकी कल्पनाए ये दूर हुई कि अपने आपमे बसा हुआ यह ज्ञायकस्वरूप स्वय विकसित हो जाता है। इसी कारण यह तत्त्वप्रभु परमात्मा स्वयभू कहलाता है।

परमात्माकी प्रभुता और विभुता—इस परमात्माका नाम प्रभु भी है। जो प्रकृष्ट

रूपसे हो उसे प्रभु कहते है। संसार अवस्थामे किसी विशिष्ट रूप रह रहा था, अब वह विशिष्ट दशाको त्यागकर ज्ञानोपयोगमे वमनेरूप उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हो रहा है। यह प्रभु कहलाता है, यह परमात्मा विभु भी कहलाता है। जो व्यापकरूपमे हो उसे विभु कहते है। यह ज्ञानस्वरूप परमात्मा ज्ञानद्वारा समस्त लोक और अलोकमे व्यापक है, इसी कारण इस परमात्माका नाम विभु है और इस ही परमात्माको स्वयंभु कहते है। जो यह विकास स्वयं प्रकट हुआ है उस विकासको स्वयंभु कहते है। यो समस्त कर्मोका अभाव होनेपर यह आत्मा स्वय विकसित हुआ है। परमात्माका दर्शन ज्ञानरूपमे ही किया जा सकता है और परमात्माके दर्शनमे ही वास्तविक शान्ति मिलती है। अधिक से अधिक समय इस ज्ञानमय परमात्मतत्त्वके दर्शनके लिए लगाएँ, इस ही को व्यवहार धर्मकी उन्नति कहते है।

ज्ञानस्वरूपके दर्शनसे जीवनकी सफलता—भैया ! साधुजन तो चौबीस घंटा इसही परमात्मतत्त्वके दर्शनके लिए लगाते हैं। और फिर श्रावकोमे भी उत्कृष्ट श्रावकजन अपना बहुत समय इस परमात्मतत्त्वके दर्शनमे लगाते है और उससे भी कुछ नीचे श्रावकजन भी और विशेष नही तो ५-५ घटे वाद समझिये सामायिकके रूपमे अपने आपको परमात्मदर्शन के लिए सावधान बनाते है। इस मनुष्य भवको पाकर करने योग्य काम एक यही है। अन्य-अन्य कार्योमे व्यस्त होनेसे तत्त्वकी बात क्या मिल जायगी ? कुछ मोहीजनोंने भला भला कह दिया तो निज आत्मामे कौनसी प्रगतिका अन्तर आ गया ? इसकी प्रगति तो रत्नत्रयकी प्रगतिमे है। जितना अधिक काल ज्ञानस्वरूप अपने आपको निरखनेमे जाय उतना काल इसका सफल है। ज्ञानके रूपमे परमात्माका दर्शन होता है. ज्ञानके रूपमे अपने आत्माका अनुभव होता है और विशुद्ध ज्ञानकी परिणतिके साथ आनन्दका विकास चलता है, इसी कारण परमात्माको सम्यग्ज्ञानस्वरूपकी मुद्रामे निरखा जा रहा है।

आदर्श—जो जिसका रुचिया होता है वह उसका सग करता है, वह उसकी धुन बनाता है, उसको उस ही मार्गका प्राप्त अर्थात् पहुँचा हुआ पुरुष आदर्श है, खोटे कार्योमे लगने वाले पुरुषको खोटे कार्योमे निपुण लोग आदर्श है और आत्महितकी अभिलाषा करने वाले मनुष्यको आत्महितमे पूर्ण सफल हुए शुद्ध आत्मा आदर्श है। जो जिस तत्त्वका अभि-लाषी होता है वह उस तत्त्वका ही यत्न करता है। अपने आपको ज्ञानस्वरूप निरखे बिना न तो परमात्मदर्शनमे सफलता हो सकती है और न आत्मानुभवमे सफलता हो सकती है। ये कषाय भी इस ही शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिके बलसे मद होती है। कषायोका विनाश भी इस ही स्वभावके अवलम्बनसे होता है क्योकि यह स्वभाव स्वय निष्कषाय है, निर्दोष है। इस स्वभावकी उपासना करने वाले संतजन सदा प्रसन्न रहते है। वे परपदार्थोके किसी भी परिणमनसे अपना सुधार और विगाड नही समझते है। वे सदा अनाकुल रहते है, परम

विश्रामका साधन जो स्वतन्त्र अकर्ता अभोक्ता प्रतिभात्मक तत्त्व है उसकी दृष्टि हो, न हो तो अनाकुलता वहाँ कैसे प्रकट हो ? जो अपने को अन्य किसी रूप मान लेते है वे जिस रूप मानते है उसही ओर उनकी प्रगति हो जाती है ।

स्वभावावाप्तिके अन्तर्बाह्य साधन—द्रव्यकर्मोंका अभाव होनेपर स्वभावकी प्राप्ति कहना एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी बात बताना है और रागद्वेष आदिक भावकर्मोका अभाव होने पर स्वभावके प्रकट होनेकी बात कहना यह प्रागभाव प्रध्वंस भावरूपमे कथन है अर्थात् हमारे विकासका साक्षात् बाधक भावकर्म है, द्रव्यकर्म तो हमारे बाधकोका निमित्त कारण है । स्वभावकी प्राप्ति इन समस्त कर्मोका अभाव होने पर होती है । जब स्वभावकी प्राप्ति हो लेती है तब उनका स्वरूप विशुद्ध सम्यग्ज्ञानमय होता है, ऐसे ज्ञानात्मक परमात्माको हमारा नमस्कार हो, वे सदा जयवत रहे और उनके ध्यानके प्रसादसे मुझमे अत बिराजमान परमात्मतत्त्व जयवत होओ । अन्त प्रकाशमान यह परमात्मतत्त्व व्यक्तरूपसे प्रकाशमान हो जावे—यही स्वभावकी परिपूर्ण प्राप्ति है । इस स्वसमयसारको मेरा उपासनात्मक नमस्कार होओ ।

योग्योपादानयोगेन दृषद. स्वर्णता मता ।
द्रव्यादिस्वादिसम्पत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ।।२।।

स्वभावावाप्तिका विधिरूप अन्तरङ्ग कारण—पहिले श्लोकमे आत्माके स्वभावकी प्राप्तिका उपाय निषेधरूप कारणसे बताया गया था अर्थात् समस्त कर्मोका अभाव होनेपर स्वभावकी स्वय प्राप्ति हो जाती है, इस तरह निषेधरूप कारण बताकर अभेद स्वभावकी प्राप्ति कही गयी थी, अब इस श्लोकमे विधिरूप कारण बताते है । जैसे योग्य उपादानके योगसे एक पाषाणमे जो कि स्वर्णके योग्य है जिसे स्वर्णपाषाण कहते है । उसमे स्वर्णपना माना गया है अर्थात् प्रकट होता है; इस ही प्रकार जब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके योग्य सामग्री विद्यमान हो जाती है तो इस आत्मामे निर्मल चैतन्यस्वरूप आत्माकी उपलब्धि होती है ।

स्वभावावाप्तिके अन्तरङ्ग कारणका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—दृष्टान्तमे यह कहा गया है कि जैसे खानसे निकलने वाले स्वर्णपाषाणमे स्वर्णरूप परिणमनका कारणभूत जब वह सुयोग्य होता है तो बाह्यमे कारीगरो द्वारा ताडना, तापना, पिटना आदिक प्रयोगोसे वह स्वर्णपाषाणसे अलग होकर केवल स्वर्ण कहलाने लगता है । अब उस स्वर्णमे स्वर्णपाषाण का व्यवहार नही रहता । वह तो सोना हो गया है, इस ही प्रकार अनादिकालसे कर्ममलसे मलिन हुआ ससारी आत्माके जब योग्य द्रव्य, योग्य क्षेत्र, योग्य काल और योग्य भावरूप साधनोकी उपलब्धि होती है तो बाहरी तपस्या, धर्म पालन आदिक जो बाह्य विशुद्धिके साधन कहे गए है उन साधनोके अनुष्ठानसे, आत्मध्यानके प्रयोगसे कर्मईंधन भस्म हो जाते

है और स्वात्माकी उपलब्धि हो जाती है। अपने आत्माके लिए अपना आत्मा योग्यद्रव्य कैसा होता है जिसमे शुद्ध परिणमनेके योग्य परिणमनशक्ति आने लगती है।

उपादानभूत द्रव्यकी योग्यता—इसे सुनिये द्रव्यमे २ प्रकारकी शक्ति है—एक ध्रुव शक्ति और एक अध्रुवशक्ति। द्रव्यमे शाश्वत सामान्य परिणमनरूप शक्ति तो ध्रुव शक्ति है और वह द्रव्य कब किस प्रकार परिणमनेकी योग्यता रखता है ऐसी शक्तिको पर्यायशक्ति कहते है। जैसे जीवमे ज्ञान दर्शन आदि सामान्यशक्ति ध्रुवशक्ति है और मनुष्यके योग्य काम कर सके ऐसा बोले चाले खाये पिये व्यवहार करे, इस तरहके रागादिक भाव हो इस पद्धति की जैसी मनुष्योके शक्ति होती है यह सब पर्यायशक्ति है। यह अध्रुव है, इस तरहकी योग्यता मनुष्यके रहना ठीक ही है, मनुष्य मिट गया फिर यह प्रकृति नही रहती। तो जब कल्याणरूप परिणमनकी योग्यता आती है तो वह है योग्य पर्यायशक्ति वाला द्रव्य। यह तो आंतरिक बात है। बाह्यमे योग्य गुरुजन योग्य उपदेशक इत्यादि पदार्थोका समागम मिलता है और उस वातावरणमे, उस समागममे जो विशुद्धि हो सकती है उस विशुद्धिके लिए वे योग्य द्रव्य कारण पडते है। बाह्यमे भी योग्य द्रव्य मिल जाये और अतरग योग्य होनेकी पर्यायशक्ति प्रकट हो जाय ऐसे योग्यद्रव्यका उपादान होनेपर अपने आपमे स्वभावकी प्राप्ति स्वय हो जाती है।

कल्याणयोग्य क्षेत्र काल भावकी प्राप्ति—योग्य क्षेत्र अपने आपमे उस प्रकारकी विशुद्धिके योग्य यह आत्मपदार्थ हुआ तो इस ही को एक आधारकी प्रमुखतासे निरखा जाय तो उसे योग्य क्षेत्र कहते है और बाहरमे योग्यस्थान—जैसे समवशरणका स्थान या अन्य कोई धर्मप्रभावक स्थान है। ऐसा योग्य क्षेत्र मिलनेपर इसकी दृष्टि इस स्वभावके निरखनेकी हो जाती है और वहा स्वभावकी प्राप्ति मानी गयी है। योग्य काल क्या है ? अपने आपके शुद्ध परिणमन होनेके लिए जो प्रथम पर्याय है, परिणमन है वह निजका योग्य काल है, और बाहरमे धर्म समागम वाले काल, चतुर्थकाल तीर्थंकरोके वर्तनेका काल, ये सब योग्य काल कहलाते है। योग्यकालकी प्राप्ति होनेपर इस आत्माके स्वभावकी उपलब्धि होती है। इस ही प्रकार योग्यभाव अंतरगमे जो स्वभाव भाव है वह तो शाश्वत योग्यभाव है; उस स्वभाव भावके विकास होनेरूप जो कुछ पर्याय योग्यता है, भव्यत्व भाव है, भव्यत्व भावके विपाक होनेके कालमे जो योग्य विशुद्ध परिणाम है वह शुद्ध विशुद्ध परिणाम योग्य भाव कहलाता है।

शुद्ध दृष्टिमें आत्मताकी व्यक्ति—उक्त प्रकारसे योग्य निज द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की प्राप्ति होनेपर आत्मामे आत्मता प्राप्त होती है। जैसे लोग कहते है कि इन्सान वही है जिसमे इन्सानियत है। भला, इन्सानियत बिना भी कोई इन्सान होता है ? नही होता

है। यहाँ इन्सानियतको केवल ईमानकी चीज इतना ही अर्थ न किया जाय अर्थात् जिन परिणामोसे इन्सानकी शोभा है, इसानियतकी प्रगति है- उन परिणामोका नाम इसानियत कह लीजिए तो यह वाक्य प्रयोगमे आने लगेगा कि जिसमे इसानियत नही है, वह इन्सान ही नही है। इस इन्सानमे इन्सानियत प्रकट हुई है तो क्या पहिले कभी इन्सानियत न थी ? थी, किन्तु इन्सानियतका अर्थ भले प्रकारके आचार विचार वाले परिणाम है, वे अब प्रकट हुए है। ऐसे ही यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मासे आत्मता प्रकट होती है। तो क्या यह आत्मता आत्मासे भिन्न थी ? न थी, फिर भी आत्मा उसको माना गया है आदर दृष्टिमे आ करके जो शुद्धस्वभावकी दृष्टि करता है, मोक्षमार्गमे अपना कदम रखता है, ऐसे मोक्षमार्गी जीवको आत्मा शब्दसे पुकारे और मोक्षमार्गमे चलनेकी जो पद्धति है उसको आत्मता माने तो यह आत्मता आत्मासे प्रकट होती है अर्थात् बहिरात्मत्वसे निवृत्त होकर यह अन्तरात्मत्व प्रकट होता है। बहिरात्मत्वका परिहार होकर यह विवेक, उपयोग प्रकट होता है। अहिसा आदिक व्रतोका भली प्रकार पालन करनेसे स्वरूपकी प्राप्ति होती है, यह सिद्धान्त सम्मत है।

एक जिज्ञासा—यदि उत्तम द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्री मिलनेसे ही स्वरूप की उपलब्धि हो जाय तो अहिसा आदि व्रतोका करना व्यर्थ हो जायगा। एक यहाँ जिज्ञासा उत्पन्न हो रही है कि ऐसा सिद्धान्त बनानेमे कि जब योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी, सामग्री मिलेगी तो स्वय ही स्वरूपकी प्राप्ति होगी, तब क्या तप करना, व्रत सयम करना, ये सब व्यर्थकी चीजे किसलिए की जाती है ? समाधानमे यह कह रहे है कि यहाँ यह नही समझना कि बाह्य व्रत तप सयम और अतरग व्रत, तप, सयमको निरर्थक कहा गया है। स्वरूपकी प्राप्तिके उद्यममे व्रत आदिका पालना निरर्थक नही है। उनके यथायोग्य पालन करनेसे पापकर्मोका निरोध हो जाता है और पहिले बंधे हुए कर्म निर्जराको प्राप्त होते है, और शुभोपयोगरूप परिणमते हुएके पुण्यकर्मका सचय होता है। जिसके उदयकालमे इष्ट सुखोकी प्राप्ति अनायास हो जाती है इसी तरह योग्य चतुष्टयरूप उपादानके रहते हुए भी व्रतोका पालना निरर्थक नही है, इस बातको और स्पष्ट रूपसे कह रहे है।

वर वृतैः पदं दैव नाव्रतैवर्त नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

अव्रतभावसे व्रतभावकी श्रेष्ठता—जैसे कोई पुरुष छायामे बैठकर अपने किसी दूसरे साथीकी बाट जोहे और कोई अन्य पुरुष गर्मीकी धूपमे बैठकर अपने साथीकी बाट जोहे, उन दोनो बाट जोहने वालोमे कुछ फर्क भी है कि नही ? फर्क है। वह फर्क यही है कि छायामे बैठकर जो अपने दूसरे साथीकी राह देखता है वह पुरुष छायामे तो है, उसे छाया

शान्तिसे तो दे रही है, और जो धूपमे बैठा हुआ साथीकी बाट जोह रहा है उसे धूपमे कष्ट हो रहा है। इसी तरह व्रतके अनुष्ठानसे स्वर्ग आदिक सुखोकी वर्तनाके बाद मोक्ष प्राप्त होता है और अव्रतसे पहिले नरकके दुःख भोगने पडते है, फिर बात ठीक बने तो मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति जाने वाले मानो दो जीव है, जायेंगे वे मुक्त, पर एक व्रताचरणमे रह रहा है तो वह स्वर्ग आदिके सुख भोगकर बहुत काल तक सुखी रहकर मनुष्य बनकर योग्य करनीसे मोक्ष जायगा। और कोई पुरुष पाप कर रहा है, अव्रतभावमे है तो पहिले नरकके कष्ट भोगेगा, नरकके दुःखोको भोगकर फिर मनुष्य होकर अपनी योग्य करनीसे मोक्ष जा सकेगा। सो व्रत आदिक करना निरर्थक नही है, वह जितने काल ससारमे रह रहा है उतने काल सुख और शान्तिका किसी हद तक कारण तो यह व्रत बन रहा है।

व्रतकी प्रायोजनिक सार्थकता—यहाँ यह शका की गई थी कि द्रव्य आदिक चतुष्टय रूप सामग्रीके मेलसे आत्मस्वरूपकी उपलब्धि हो जायगी तब ऐसे तो व्रत आदिकका पालन करना व्यर्थ ही ठहरेगा। इसपर यह समाधान दिया गया है कि व्रतोका आचरण करना व्यर्थ नही जाता क्योकि अव्रत रहनेसे अनेक तरहके पापोका उपार्जन होता है, और उस स्थितिमे यह हित और अहितमे विवेकसे शून्य हो जाता है। पाप परिणामोमे हित और अहितका विवेक नही रहता, तब फिर यह बढकर मिथ्यात्व आदिक पापोमे भी प्रवृत्ति करने लगता है, तब होगा इसके अशुभकर्मका बध। उसके फलमे क्या बीतेगी ? उसपर नारकादिककी दुर्गतिया आयेंगी, घोर दुःख उठाना पडेगा, अव्रत परिणाममे यह अलाभ है किन्तु व्रत परिणाममे अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्यागकी विशुद्धि प्राप्त होनेसे नारकादिक दुर्गतियोके घोर कष्ट कही सहने पडते है क्योकि जो व्रतोके वातावरणमे रहता है उसके हित और अहितका विवेक बना रहता है, पापोसे वह भयभीत बना रहता है और आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए वह सावधान बना रहता है। होता क्या है कि व्रती पुरुष परलोकमे स्वर्ग आदिकके सुखोको चिरकाल भोगते हैं। चिरकाल सुख भोगनेके बाद आयु क्षय होनेपर ये मनुष्य बनते है और यहाँ भी योग्यजीवन व्यतीत करते हुए ये कर्मोका क्षय कर देते है और भवातीत बन जाते है। व्रत और अव्रतमे तो शान्ति अशान्तिविषयक तत्काल का भी फर्क है।

वास्तविक व्रतकी व्यर्थता—भैया ! जो वास्तविक पद्धतिमे व्रती होता है वह अशात नही होता है किन्तु जो व्रतीका बाना तो रख ले, पर अंतरगमे व्रतकी पद्धति नही है, ससार, शरीर और भोगोसे विरक्ति नही है तो उस पुरुषको इन व्रतोसे लाभ नही पहुचता। वह व्रती ही कहाँ है ? वह तो अपने अंतरगमे अज्ञानका अधेरा लादे है, इसीसे वह दुःखी है, अशान्त है, व्रत करना तो कभी व्यर्थ नही जाता।

सदाचारसे दोनों लोकमें लाभ—एक बार किसी पुरुषने एक शंका की कि परभवको कौन देख आया है कि परभव होता है या नही, उस परभवका ख्याल कर करके वर्तमानमे क्यो कष्ट भोगा जाय ? कम खावो, गम खावो, व्रत करो, अनेक कष्ट भोगे जाये इनसे क्या लाभ है ? तो दूसरा पुरुष जो परभवको मानने वाला था वह कहता है कि भाई तुम्हारा कहना ठीक है कि परभव नही है किन्तु अब हम लोगोको करना क्या है ? सत्य बोले, कुशीलसे बचे, परिग्रहका संचय न करे, अहिसाका पालन करे, किसी जीवको न सताये, यह करना है ना, तो देखो ऐसा योग्य व्यवहार जो करता है उस पर क्या दुनिया ने कोई आफत डाली है ? जो चोर होते है, झूठे व दगाबाज होते है, कुशील परिणामी होते है, परिग्रहके संचयका भाव रखते है ऐसे पुरुष पिटते है, दंड पाते है । तो अच्छे कामोके करने से इस जीवनमे सुख है । यह तो केवल कहने कहनेकी बात है कि खूब आरामसे स्वच्छन्द रहे, जब मन आये खाये, जब जो मन आये सो करे । मनुष्यजन्म पाया है तो खूब भोग भोगे, वे इनमे सुखकी बात बताते है किन्तु सुख उन्हे है नही । आनन्द जिसे होता है वह अक्षुब्ध रहता है । वैषयिक सुखोकी प्राप्तिके लिए तो बडे क्षोभ करने पडते है और जब कभी सुख मिल भी जाय तो उस सुखका भोगना क्षोभके बिना नही होता । उस सुखमे भी इस जीवने क्षोभको भोगा, शान्तिको नही भोगा । तो उत्तम व्रत आचरण करनेसे वर्तमानमे भी सुख शान्ति रहती है और यदि परभव निकल आये तो परभवको लिये वह योग्य काम होता ही है, किन्तु पाप दुराचारके बर्तावसे इस जीवनमे भी कुछ सुख शान्ति नही मिलती और परभव होनेपर परभवमें जाना पडे तो वहाँ पर भी अशान्तिके ही समागम मिलेगे, इस तरह व्रतोका अनुष्ठान करना व्यर्थ नही है ।

सुविधासमागमसे अपूर्व लाभ लेनेका अनुरोध—अरे भैया ! भली स्थितिमे रहकर मोक्षमार्गका काम निकाल लो । पापप्रवृत्तिमे रहनेसे प्रथम तो मोक्षमार्गमे अन्तर पड जाता है और दूसरे तत्काल भी अशान्ति रहती है । इस कारण ये व्रत आदिक परिणाम मोक्षमार्ग के किसी रूपमे सहायक ही है, ये व्यर्थ नही होते है, लेकिन यह बात अवश्य है कि मोक्ष-मार्ग शुद्ध दृष्टिसे ही प्रकट होता है, अर्थात् सम्यक्त्व हो, आत्मस्वभावका आलम्बन हो तो मोक्षमार्ग प्रकट होता है । जिस आत्माके आलम्बनसे मोक्षमार्ग मिलता है वह आत्मा पाप पुण्य सर्व प्रकारके शुभ अशुभ उपयोगोसे रहित है, ऐसे अविकारी आत्मामे उपयोग लगानेसे यह अविकार परिणमन प्रकट होता है । आनन्द है अविकार रहनेमे । ममतामे, कषायमे, इच्छामे, तृष्णामे शान्ति नही है । ऐसे इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्माका आलम्बन हो और बाह्यमे योग्य व्रत आदिक हो, ऐसे जीवोको स्वभावकी प्राप्ति होती है ।

यत्र भाव शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी ।
यो नयत्याशु गव्यूति क्रोशार्द्धे कि स सीदति ।।४.।

शान्तिबललाभके लिये क्लेशोंके सिलसिलाकी सुध—संसारमे नाना प्रकारके क्लेश भरे हुए है । किसी भवमे जावो, किसी पदमे रहो, संसारके सभी स्थानोमे क्लेश ही क्लेश है । कोई धनी हो तो वह भी जानता है कि मुझे सारे क्लेश ही क्लेश है, बाह्यपदार्थोकी रक्षा, चिन्ता, जो अपने वशकी बात नही है उसे अपने वशकी बात बनानेका सकल्प, इस मिथ्याश्रयमे क्लेश ही क्लेश है । कोई धनी न हो, निर्धन हो तो वह भी ऐसा जानता है कि मुझे क्लेश ही क्लेश है । कोई सतानवाला है तो वह भी कुछ समय बाद समझ लेता है कि इन समागमोमे भी क्लेश ही क्लेश है । न हो कोई सतान तो वह भी अपनेमे दुःख मानता है कि मुझे बहुत क्लेश है । तब और कौनसी स्थिति ऐसी है जहाँ क्लेश न हो ? ससारमे है कुछ ऐसा ? जो लोग देशके नेता हो जाते है अथवा ऊँचे अधिकारी हो जाते है उनके भी सकटोको देख लो, वे कितनी बेचैनीमे रहते है । ससारकी किसी भी दशामे चैन नही है । ऐसा जानकर अपनेको यो ही समझो कि जब यह ससारकी दशा है तो इसमे ऐसा होना ही है । दुःख आये तो उनमे क्या घबडाना ?

कष्टमें यथार्थ सुधसे कष्टसहिष्णुताका लाभ—एक कोई सेठ था, उसे किसी अपराध मे उसे जेल कर दी गयी । अब जेलमे तो चक्की पीसनी पडती है । जेलमे उस सेठको सब कुछ करना पड़े तो सेठ सोचता है कि कहाँ तो मैं गद्दा तक्कीपर बैठा रहा करता था, आज इतने काम करने पडते है । वह बहुत दुःखी हो रहे । इसी तरह सोच-सोचकर वह सदा दुःखी रहा करे । तो एक कोई समझदार कैदी था, उसने समझाया कि सेठ जी यह बतावो कि इस समय तुम कहाँ हो ? बोला जेलमे । तो जेलमे और घरमे कुछ अन्तर है क्या ? हाँ अन्तर है । यहाँ जेलमे सब कुछ करना पडता है और वहाँ आराम भोगना होता है । तो सेठ जी अब वहाँका नाता न समझो, अब अपनेको यहाँ सेठ न समझो । यह तो जेल है, ससुराल नही है । जेलमे तो ऐसा ही काम करना होता है । समझमे कुछ लगा और उसे दुःख कम हो गया । ऐसे ही कितने ही सकट आये, यह समझो कि यह ससार तो सकटोसे भरा हुआ है । यहाँ तो सकट मिला ही करते हैं । इतनी भर समझ होनेपर सब सकट हल्के हो जाते है । और जहाँ यह जाना कि यह आया मुझपर संकट तो इस प्रकार को अनुभूतिसे सकट बढ जाते है ।

संकट मुक्तिका उपाय—समस्त संकटोके मेटनेका उपाय क्या है ? लोग बहुत उपाय कर रहे है सकट मेटनेका, कोई धन कमाकर, कोई परिवार जोडकर, कोई कुछ करके, किन्तु जैसे ये प्रयत्नमे बढ रहे है वैसे ही दुःख और बढते जा रहे हैं । सच बात तो यह है कि

संकट मेटनेका उपाय बाह्य वस्तुका उपयोग नही है। अपना मुख्य काम है अपनेको ज्ञान और आनन्दस्वरूप मानना। यह शरीर भी मै नही हू—ये विचार विकल्प जो कुछ मनमे भरे हुए है ये भी मै नही हू। मै तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू। इस प्रकार अपने आपकी प्रतीति हो तो शान्तिका मार्ग मिलेगा। बाह्य पदार्थोका उपयोग होनेसे आनन्द नही मिल सकता है।

आनन्दविकासके पथमें व्यवहार और निश्चय पद्धति—उस यथार्थ आनन्दको प्रकट करनेके लिए दो पद्धतियोको लिया जाना चाहिये—एक व्यवहार पद्धति और एक निश्चय पद्धति। जैसे हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहका त्याग कर देते है, और और भी मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तियाँ कर रहे है ये सब व्यवहार पद्धतिकी बाते है। निश्चय पद्धति मे अपने आपके सहजस्वरूपका ही अवलोकन है, इन दो बातोमेसे उत्कृष्ट बात अपने आत्मा के स्वभावके परखकी है, इनमे जो अपना परिणाम लगाते है उन्हे जब मोक्ष मिल जाता है इन परिणामोसे तो इससे स्वर्ग मिल जाय तो यह आश्चर्यकी बात नही है। जो मनुष्य किसी भारको अपनी इच्छासे, बहुत ही सुगमता और शीघ्रतासे दो कोश तक ले जाता है वह उस भारको पाव कोश ले जानेमे क्या खेद मानता है? वह तो उस पाव कोशको गिनती मे ही नही लेता है, शीघ्र उस भारको ले जाता है। यो ही जिस भावमे मोक्ष प्राप्त करा देनेकी सामर्थ्य है वह कौनसा भाव है जिस भावपर दृष्टि देनेसे स्वर्ग भी मिल जाता है और मोक्ष भी मिलता है? अपने-अपने पद और योग्यताके अनुरूप वह भाव है अपने आपकी सच्ची परख। जो पुरुष अपनी परख नही कर पाते वे कितनी ही लोकचतुराई कर ले पर शाति नही मिल सकती। इस तरह सबसे पहिले अपनी सच्ची श्रद्धा करना जरूरी है। मैं पुरुष हू, मैं स्त्री हू, मै अमुककी चाची हू, अमुककी मा हू, अमुकका चाचा हू इत्यादि किसी भी प्रकारकी अपनेमे जो श्रद्धा बना रक्खी है उसका फल क्लेश ही है। कहाँ तो अपने भगवान तक पहुंचना था और कहाँ इस शरीरपर ही दृष्टि रख रहे है।

दृष्टिकी परख—एक राजसभामे बड़े-बडे विद्वान आये थे। वहाँ एक ऋषि पहुंचा जिसके हाथ पैर, पीठ, कमर सभी टेढे थे और कुरूप भी था। वह व्याख्यान देने खडा हुआ तो वहाँ बैठे हुए जो पडित लोग थे वे कुछ हँसने लगे क्योकि सारा अंग टेढा था। वह विद्वान् ऋषि उन पडितोको सम्बोधन करके बोला—हे चमारो! सब लोग सुनकर दंग रह गये कि यह तो हम सभी लोगोको चमार कहते है। खैर, वह स्वयं ही विवरण करने लगा। चमार उसे कहते है जो चमडेकी अच्छी परख कर लेता है, तो यहाँ आप जितने लोग मौजूद है सब लोग हमारे चमडेकी परख कर रहे है। आप लोग हमारे शरीरका चमड़ा निरख कर हंस रहे है, तो जो चमडेकी परख करना जाने कि कौनसा अच्छा चमडा

है और कौनसा खराब चमडा है उसका ही तो नाम चमार है। तो सभी लोग लज्जित हुए ? अब अपनी-अपनी बात देखो कि हम चमडेकी कितनी परख करते है और आत्माकी कितनी परख करते है ? इसमे कुछ डरकी बात नही है, अगर चमडेकी हम ज्यादा परख करते है तो हम कौन है ? कह डालो अपने आपको खुद हर्ज नही है। खुद ही कहने वाले और खुद को ही कहने जा रहे है, खूब दृष्टि पसारकर देखो कि हम कितना चमडेकी परख मे रहा करते है ? यह मैं हू, यह स्त्री है, यह पुत्र है, इस चाम ही चामको देखकर व्यवहारमे बसे हुए जो जीव है उन्हे ही सब कुछ माना करते है, उस जानने देखने, चेतने वाले को दृष्टिमे लेकर कोई नही कहता है। जो मिल गया झट पहिचान गये कि यह मेरे चाचाका लडका है। इस तरहसे सभी जीव इस चमडेकी परख करते रहते है, इसका ही तो इन्हे दुःख है।

शुद्धपरिणामकी सामर्थ्य—भैया ! हम आप सभी इसी बातमे आनन्द मानते है कि खूब धन बढ गया, खूब परिवार बढ गया पर जिस भावमे आनन्द है उसका अज्ञानियोको पता ही नही है। ज्ञानियोको स्पष्ट दीखता है कि सच्चा आनन्द तो इससे ही मिलेगा। वह भाव है एक ज्ञान प्रकाश अमूर्त, किसी भी दूसरे जीवसे जिसका रच सम्बन्ध नही, ऐसा यह मैं केवल शुद्ध प्रकाशात्मक हू, ऐसे ज्ञानस्वभावमे परिणाम जाय तो यह परिणाम मोक्षको देता है, फिर स्वर्ग तो कितनी दूरकी बात रही, अर्थात् वह तो निकट और अवश्यभावी है। जो मनुष्य बलशाली होता है वह सब कुछ कर सकता है। सुगम और दुर्गम सभी कार्योको सहज ही सम्पन्न कर सकता है। कौन पुरुष ऐसा है जो कठिन कार्यो के करनेकी तो सामर्थ्य रखता हो और सुगम कार्योके करनेकी भी सामर्थ्य न रखता हो। वह अपने आपमे अपनी शक्तिको खूब समझता है। उसके लिए सभी कार्य दुर्गम अथवा सुगम हो, सरल होते है।

महती निधिसे अल्पलाभकी अतिसुगमता—जैसे कोई बडा बोझा उठानेमे बलशाली है तो वह छोटा बोझा उठानेमे कुछ असुविधा नही मानता है, ऐसे ही जिस शुद्ध आत्माके भावमे भव-भवके बाधे हुए कर्म कालिमाको भी जलानेकी सामर्थ्य है, स्वात्माकी प्राप्ति करने की सामर्थ्य है उससे स्वर्ग आदिक सुख प्राप्त हो जायें इसमे कौनसी कठिनाई है ? किसान लोग अनाज पैदा करनेके लिए खेती करने है तो उद्यम तो कर रहे है धान और अनाजको पैदा करनेका और भुसा उन्हे अनायास ही मिल जाता है। कोई खाली भुसाके लिए खेती करता है क्या ? अरे भुस तो स्वय ही मिल जाता है। तो जिसका जो मुख्य प्रयोजन है वह अपने कार्यमे उसीका ही ध्यान रखता है, बाकी सब कुछ तो अनायास ही होता है, इसी तरह जिसके भेदाभ्यासमे इतना बल है कि उसकी तपस्यासे भव-भवके सचित कर्म क्षणमात्र

मे ध्वस्त हो जाते है, तो उस तपस्याके प्रसादसे ये ससारके सुख मिल जाना यह तो कुछ दुर्लभ ही नही है।

व्रतका लाभ—आत्मीय जो सत्य आनन्द है उसकी प्राप्तिमे उत्तम द्रव्य मिलना, उत्तम क्षेत्र, उत्तम काल और उत्तम भाव मिलना, जब ऐसी योग्य सामग्री मिलती है तो उसकी उस शक्तिसे मोक्षरूप महान् कार्य उत्पन्न हो जाता है फिर उससे स्वर्ग मिल जाय तो कौनसा आश्चर्य है, किन्तु अल्प शक्ति वाले व्रतका आचरण करें तो उसे स्वर्ग सुख ही मिल सकता है मोक्षका आनन्द नही। इससे ज्ञानी पुरुषोको आत्माकी भक्ति, प्रभुकी भक्ति करनी चाहिये। समस्त धर्म कार्योमे कभी प्रमाद न करना चाहिए और न कभी पापोमे परिणति करना चाहिए, क्योकि पापके कारण नरक आदिके दु:ख मिलेगे और कदाचित् उसके बाद मोक्ष भी प्राप्त होगा, तो होगा पर दु ख भोग-भोगकर पश्चात् मोक्षकी विधि उसे लग सकेगी। और कोई व्रत करता है तो व्रतके आचरणके प्रसादसे लोकसुखके उसे आत्माकी भी प्राप्ति होगी, स्वर्ग भी मिलेगा। तो व्रत करना हमेशा ही लाभदायक है।

मनके जीते जीत—भैया! व्रतमे कठिनाई कुछ नही है, केवल भावकी बात है। अपने भावोको सम्हाल ले तो काम ठीक बैठता है। मानो जाडेके दिन है, रात्रिको प्यास न लगती होगी पर जरासी भी कुछ बात हो तो रातको भी प्यासकी वेदनासी अनुभव करते और थोडी हिम्मत बनायी तो गर्मीके दिनोमे भी रातको पानीकी वेदना नही सताती। मन के हारे हार है मनके जीते जीत। जो योगी पुरुष गुरुके उपदेशानुसार आत्माका ध्यान करते है उनके अनन्त शक्तिवाला आनन्द तो उत्पन्न होगा ही, पर स्वर्ग सुख भी बहुत प्राप्त होता है। जिसको उस ही भवसे मोक्ष जाना है ऐसा मनुष्य जिस समय आत्माका अरहत और सिद्धके रूपसे ध्यान करता है उसे इस आत्मध्यानके प्रतापसे मोक्ष मिलता है। न हो कोई चरम शरीरी और फिर भी वह अरहत सिद्धके रूपसे आत्माका ध्यान करता है उसे भी स्वर्गादिकके तो सुख मिलते ही है।

आत्माकी प्रभुस्वरूपता—अपने आपको जो लोग यह समझते है कि मै अमुक लाल हूँ, अमुकचन्द हूँ, ऐसे बाल बच्चो वाला हूँ, अमुकका अमुक हू, ऐसी पोजीशनका हू उनका संसार बढता रहता है। अरे इस ही आत्मामे जो हम आप है वह शक्ति है कि अरहंत और सिद्ध बन सकते है। तो जैसी पवित्र परिणति इसकी हो सकती है उस रूपमे हम ध्यान किया करे तो उत्तमपरिणति हो सकती है। मैं अरहंत हूँ, वर्तमान परिणतिको निरखकर न बोलो, किन्तु अपने स्वभावपर बल देकर जिस स्वभावका पूर्ण विकास अरहंत कहलाता है उस स्वभावपर बल देकर अनुभव करिये। मैं अरहंत हू, अरहंत कुछ चेतन जातिको छोड़कर अन्य जातिमे नही होता है। यह ही मै चेतन हू और अरहत जो हुए है

वे भी ऐसे ही चेतन है, केवल दृष्टिके फर्कसे यह इतना बडा फर्क हो गया। सारभूत यह है कि जिसे धर्म करना हो तो पहिले यह समझना होगा कि मै न मनुष्य हू न स्त्री हूँ, न इस शरीरवाला हूँ किन्तु एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हू, ऐसी समझके बिना धर्म हो ही नही सकता।

अपनी तीन जिज्ञासायें—भैया! एक सीधी सी बात है कि जिसका मन मोहमे फंसा है उसे अन्तर्ज्ञानकी यह बात समझमे नही आ सकती है। वह उस बातपर ध्यान नही दे सकता है, और जिसे व्यामोह नही है, सुनते ही के साथ उसकी समझ मे आ जायगा कि यह ठीक मार्ग है। ऐसे इस आत्माके ज्ञानको बढायें, उसकी ही दृष्टि रखे और उसकी ही दृष्टिके प्रसादसे पाप आदिक अवस्थावोको त्यागकर व्रत आदिक तपश्चरण आदिक धर्मकी क्रियावोमे लग जाय तो ऐसी निर्मलता पैदा होती है कि यह आत्मा भगवान हो जाता है। हम क्या है, हमे क्या बनना है और उसके लिये हमे क्या करना चाहिए, इन तीनो बातों का सही उत्तर ले लो तब धर्म आगे बनेगा। हम क्या है सोच लो। हम वह है जो सदा रहता है। जो नष्ट हो वह मैं नही हू। अब यह निर्णय करलो कि हमे क्या बनना है? हमे बनना है सहज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप। एतदर्थमे हमे क्या करना चाहिए? कौनसा ऐसा काम है जिसके कर लेने पर फिर काम करनेको बाकी न रहे। भला काम तो वही है जिसके कर लेने पर फिर वह पूर्ण हो ही गया। अब आगे कुछ भी करनेकी जरूरत न रही ऐसा कौनसा काम है? पचेन्द्रियके विषयोके साधन जुटाना, यह तो आकुलताको बढाने वाला है। करने योग्य काम तो केवल ज्ञाताद्रष्टा रहनेका है।

मिथ्या आशयसे कर्तव्यमें बाधा—दो भाई थे। वे परस्परमे एक दूसरेको चाहने वाले थे। उनमे से बडा भाई एक दिन बाजारसे दो अमरूद खरीद लाया। दाहिने हाथमे बड़ा अमरूद था और बायें हाथमे छोटा अमरूद था। सामने से एक उसका लडका और एक भाईका लडका आ गया तो दाहिनी ओर था छोटे भाईका लडका और बाँई ओर था उसका लडका। तो उसने बडा अमरूद अपने लडके को देनेके लिए यो हाथोका क्रास बनाकर अमरूद दिया। छोटे भाई ने इस घटनाको देख लिया। उसके हृदयपर इस बातसे बडा धक्का पहुचा। वह कहाँ गम खाने वाला था। देखो इतनी छोटी सी बात पर हो छोटा भाई कहता है बडे भाईसे कि भाई अब हम अलग होना चाहते है, एकमे नही रहेगे। बडे भाई ने बहुत कहा कि भैया अलग न हो, तुम चाहे हमारी सारी जायदाद ले लो। कहा—नही, नही हमे अलग हो जाने दो। तो यह मोह और पक्षकी बात अच्छी नही होती है। अपनी आत्माको पहिचानो और सबको एक समान मानो।

हृषीकजमनातङ्कं दीर्घकालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

व्रतके फलमें स्वर्गीय सुख—इससे पहिले श्लोकमे यह बताया था कि जिस तत्त्वमे दिया हुआ भाव मोक्षको भी दे देता है तब उससे स्वर्ग कितना दूर रहा अर्थात् स्वर्ग तो बिल्कुल ही प्रसिद्ध है, ऐसी बात सुनकर कोई जिज्ञासु यह प्रश्न करता है कि उस स्वर्गमे बात है क्या ? लोग स्वर्गकी बात ज्यादा पसंद करते है। कभी धर्मकी भावना होती है तो स्वर्ग तक ही उनकी दौड होती है। धर्म करो स्वर्ग मिलेगा, उस स्वर्गकी बात उपसर्गके सुख इस श्लोकमे संकेत रूपके कहे जा रहे है। अध्यात्ममे तो स्वर्गसुख हेय बताये गए है, किन्तु व्रतका आचरण करनेवाले पुरुष मोक्ष न जाये तो फिर जायेगे कहाँ, उसे भी तो बताना चाहिए। मोक्ष न जा सके, थोडी कसर रह गयी भावोमे तो उसकी फिर क्या गति है, उसका भी बनना आवश्यक है। जो मोक्ष न जा सका, थोडी कसर रह जाय शुद्धिमे तो सर्वार्थसिद्धि है। विजय वैजयंत जयंत व अपराजित ये तो सर्वार्थ सिद्धि है, अनुत्तर है, अनुदिश है, ग्रैवयेक है और नही तो स्वर्ग तो छुडाया ही किसने है ?

व्रतकी नियामकता—जो व्रत धारण करता है, चाहे श्रावकके भी व्रत ग्रहण करे, मुनि व्रत ग्रहण करे, व्रत ग्रहण करनेके बाद देव आयु ही बँधती है दूसरी आयु नही बधती। व्रती पुरुष मोक्ष जाय या देवमे उत्पन्न हो। और व्रत ग्रहण करनेके पहिले यदि अन्य आयु बध गयी है नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तो उसके व्रत ग्रहण करनेका परिणाम भी नही हो सकता है। अन्य आयुके बँधनेपर सम्यक्त्व तो हो सकता है पर व्रत नही हो सकता है। अणुव्रत भी और महाव्रत भी उसके नही हो सकते जिसने नरक आयु, तिर्यञ्च आयु या मनुष्य आयुमे से कोई सी भी आयु बाँध ली है। और जिसने देव आयु बांध ली है या तो उसके व्रत होगा या जिसने कोई आयु नही बाँधी है परभावके लिए, उसके व्रत होगा। व्रतधारण कितनी ऊची एक कसौटी है कि जिससे यह परख हो जाय कि यह देव ही होगा या मोक्ष जायगा। तो ऐसी व्रतकी वृत्ति हो तो उसके फलमे क्या होता है, उसका वर्णन इस श्लोकमे है।

स्वर्गीय सुखका निर्देशन—स्वर्गोमे क्या मिलता है, कैसा सुख है ? उसके लिए कह रहे है कि देवोका सुख इन्द्रियजन्य है। ऐसा कहनेमे कुछ विशेषता नही जाहिर हुई, कुछ बडप्पनसा नही आ पाया, इन्द्रियजन्य है, लेकिन जो इन्द्रियजन्य सुखके लोभी है उनको कुछ खटकनेवाली बात भी नही होती है। देवोका सुख आतकरहित है। बाधा, आपदा, वेदना ये सब नही है, उन देवोको न भूखकी बाधा होती है, न प्यासकी बाधा होती है। हजारो वर्षोमे जब कभी भूख लगती है तो कंठसे अमृत झड जाता है और उनकी तृप्ति हो जाती है। अमृत क्या चीज है, जैसे अपन लोग अपने मुँहका थूक गटक लेते है, इससे कुछ बढकर है, मगर जाति ऐसी ही होगी, हमारा ऐसा ध्यान है। जब कभी अपन बडे सुखसे

यहाँ वहाँकी चिता नही है, ध्यान भी बडा अच्छा जग गया हो ऐसी विशुद्ध स्थितिमे कभी मुह बद हुएमे एक गुटका आ जाता है तो बडी शान्ति और सतोषको व्यक्त करता है। और क्या होगा जो उनके कठमे से झरता है। उन्हे प्यासकी भी वेदना नही, ठड गर्मीकी वेदना नही। जो इस औदारिक शरीरमे रोग होता है, वेदना होती है यह कुछ भी देवोके शरीरमे नही है।

स्वर्गसुखसे आत्मबाधा—भैया ! स्वर्गसुखका यह विश्लेषण सुनकर तो कुछ अच्छा लग रहा होगा पहिले विश्लेषणकी अपेक्षा, लेकिन एक कानून और बता दे, जहाँ क्षुधा, तृषा, ठड, गर्मीकी वेदना न हो वहाँ मुक्ति असम्भव है। जहाँ ये वेदनाएँ चलती हैं उस मनुष्यपर्यायसे मुक्ति सम्भव है। इसमे भी क्या कारण है ? जहाँ इन्द्रियजन्य सुखकी प्रचुरता है वहाँ वैराग्यकी प्रचुरता नही होती है। जैसे यहाँ हम मनुष्योमे भी देखते है ना, जो बडे आराममे है, समृद्धिमे है, वैभवमे है ऐसे पुरुषोके वैराग्यकी वृत्ति कम जगती है। वह नियम यहाँ तो नही है क्योकि मनुष्य जातिका मन विशिष्ट ही प्रकारका है। वह सुख भोगते हुएमे भी विरक्त रह सकता है, उसे परित्याग करके आत्ममग्न हो सकता है। ये देव दुखी भी नही है और उनके सुखका जो साधन है उसका परित्याग करनेमे समर्थ भी नही है।

स्वर्गसुखमे लौकिक विशेषता—स्वर्गके देवोके एक आफत यह भी लगी है कि जो बहुत छोटे देव है, उन देवोके, उनकी अपेक्षामे जो पापी देव है मान लो तो, उनके भी कम से कम ३२ देवागनाएँ होती है। यहाँ तो एक स्त्रीका दिल राजी रखनेमे बडी हैरानी पडती है, साडी, साडी ही खरीदनेमे पूरी समस्या नही सुलझ पाती है। वहाँ ३२ देवाँगनावोका मन रखनेके लिए कितनी तकलीफ उठानेकी बात है ? यहाँ तो स्त्री मनुष्य ही है ना, सो वे सतोष कर सकती है पर उन देवागनावोके कहाँ सतोषकी बात है ? जब बहुत छोटे देवो का यह हाल है तो जो बडे देव है, इन्द्रादिक है उनके तो हजारोका नम्बर है। एक बात और है कि जहाँ एक देवी मरी उसी समय उसी स्थान पर दूसरी देवी उत्पन्न होती है और वह अन्तर्मुहूर्तमे ही पूर्ण जवान हो जाती है। देवोमे ऐसा नियम है। तो छुटकारा होनेमे बडी कठिनाई है, लेकिन यहाँ सुखकी बात बता रहे है कि उनके ऐसा सुख है। स्वर्ग सुखोमे एक विशेषता यह भी है कि सागरो पर्यन्त, करोडो वर्षो पर्यन्त, दीर्घ काल तक वे सुख भोगा करते है। वे कभी बूढे होते नही, सदा जवान ही रहते है। इन्द्रिय विषयोका सुख सदा उन देवोंके प्रबल रहता है और वे सागरो पर्यन्त ऐसा ही सुख पाते है। देवोका सुख साधारणजनोके लिए उपादेय बन जाता है किन्तु जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, जो शुद्ध आनन्दका अनुभवन कर चुके है उनमे विषयोकी प्रीति नही हो सकती है।

देवोंके सुखकी उपमा—उन देवोका सुख किस तरहका है कुछ नाम लेकर बतावो।

कोई मनुष्य उस तरहका सुखी हो तो उसका नाम लेकर बतावो। है नही ना कोई ? तो यह कहना चाहिए कि देवोका सुख देवोकी ही तरह है। जैसे साहित्यमे एक जगह कहते है कि राम रावणका युद्ध कैसा हुआ, कुछ दृष्टान्त बतावो। तो बताया है कि राम रावण का युद्ध रामरावणकी ही तरह हुआ है। अभी किसी मनुष्यकी तारीफ करना हो और थोडे शब्दोमे कहना हो और बहुत बात कहना हो तो यह ही कह देते है कि यह साहब तो यह ही है, बस हो गयी तारीफ। इससे बढकर और क्या शब्द हो सकते है ? इस प्रकार देवोके सुखकी बात यहाँ बता रहे है कि स्वर्गोमे देवोका सुख स्वर्गोमे देवोकी ही तरह है। उसकी उपमा यहा अन्य गतियोमे नही मिल सकती है। यहा यह बताया जा रहा है कि व्रत पालन करने वाले पुरुष परभवमे कैसा सुख भोगा करते है।

इस कालके पुराण पुरुषोंकी परिस्थिति—भैया ! न दो स्वर्गसुखोमे दृष्टि, व्रत धारण, करो तो यह मिलेगा। इस पचमकालमे जो मुनीश्वर हो चुके है—अकलकदेव, समतभद्र, कुन्दकुन्द आदिक अनेक जो आचार्य हुए है वे बडे विरक्त थे, तपस्वी थे और ज्ञानकी तो प्रशसा ही कौन करे ? हम लोग जब उनके रचित ग्रन्थोके हृदयमे प्रवेश करे तो अनुमान कर सकते है, अन्यथा जैसे कहते है कि ऊट अपनेको तब तक बडा मानता है जब तक पहाडके नीचे न पहुचे, ऐसे ही हम लोग अपनेको तब तक ही चतुर समझते है और उत्कृष्ट वक्ता तब तक जानते है जब तक इन आचार्योकी जो रचनाए है उन रचनावोमे प्रवेश न पाया जाय। ऐसे ज्ञानवान, चारित्रवान्, तपस्वी साधुजन बतावो अच्छा कहा होगे इस समय ? गुजर तो गये है ना, अब तो यहा है नही वे गुरुजन, तो इस समय वे कहा होगे कुछ अदाजा बतावो; यही अंदाज बतावोगे कि स्वर्गमे होगे ! और स्वर्गमे क्या कर रहे होगे ? मडप भरा होगा, देवागनाए नृत्य कर रही होगी और ये कुन्दकुन्द, समन्तभद्र आदिके जीव बने हुए देव सिर भी मटका रहे होगे। क्या करे, व्रत धारण करनेपर या तो मोक्ष होगा या स्वर्ग मिलेगा, तीसरी बात नही होती। कोई पूर्वकालमे स्वर्गसे ऊपर भी उत्पन्न हो लेते थे, । हा एक बात है कि भले ही ये आचार्य वहा देव बनकर रह रहे है, पर वहा भी वे सम्यग्दृष्टि होगे तो उनमे आशक्ति न हो रही होगी, पर होगे वहा।

सम्यक्त्वसहित मरणकी नियामकता—कर्मभूमिका मनुष्य मरकर, कर्मभूमिका मनुष्य बने तो उसके मरण समयमे सम्यक्त्व नही रहता है। मरण समयमे जिस मनुष्यके सम्यक्त्व है, उस सम्यक्त्वमे मरेगा तो वहाँ सम्यग्दर्शनके रहते हुए मरण होगा तो देव ही होगा, हाँ एक क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य ऐसा है कि उससे पहिले नरक आयु बाँध ली हो तिर्यञ्च आयु बाँध ली हो या मनुष्य आयु बाँध ली हो, और फिर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न कर लिया तो नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य गतिमे जाना पडेगा, लेकिन नरकमे जायगा तो पहिले

नरकमे, तिर्यञ्चमे जायगा तो भोगभूमियामे और मनुष्यमे जायगा तो भोगभूमियामे। सम्यग्दृष्टिजीव मरकर भोगभूमिया, तिर्यञ्च व मनुष्य भोगभूमियामे भी इन्द्रियजन्य सुख बहुत है।

इष्टवियोगका विशेष संकट—यहाँ सबसे बडा कष्ट एक यह भी है कि पुरुष स्त्री है अब उनमे कोई मरेगा जरूर पहिले, मरेंगे सभी हम आप, जो भी जन्मे है सबका मरण होगा, पर एक प्रसगकी बात यह देखो कि पति पत्नीमे आधारभूत प्रेम है, किन्तु उनमेसे एक कोई पहिले तो मरेगा ही ना ? अब कल्पना करो कि पति पहिले मरता तो पत्नी कितना विलखती और पत्नी पहिले मरती तो पति कितना विलखता, अर्थात् पति भी अपनेको शून्य समझता। अब और क्या गति होगी सो बतावो ? ऐसा यहाँ बहुत कठिनाईसे हो पाता है कि पति पत्नी दोनो सग ही गुजरे, पर भोगभूमियामे ऐसा ही होता है, पति पत्नी दोनो एक साथ मरते है। अब कुछ अदाज हो गया ना कि यह लौकिक सुखोकी बात है कि दोनो मरे तो एक साथ मरे।

मरणमें हानि किसकी ?—भैया ! एक बात और विचारो कि किसीके मरनेपर ज्यादा नुक्सान मरनेवालेका होता है कि जो जिन्दा रहनेवाले है उनका होता है ? इसपर जरा कुछ तर्कणा कीजिए। परिवारका कोई एक गुजर गया और परिवारके दो चार लोग अभी जिन्दा है तो यह बतावो कि मरनेवाला टोटेमे रहा कि जिन्दा रहनेवाले टोटेमे रहे ? टोटेमे तो जिन्दा रहनेवाले रहे क्योकि मरनेवाला तो दूसरे भवमे गया, अच्छा नया, रंगा, चगा शरीर पाया और जो बचे हुए लोग है अथवा नाते रिश्तेदारजन है वे रोते है बिलखते है। तो टोटेमे तो जिन्दा रहनेवाले रहे। भोगभूमिमे पति पत्नी दोनोका एक साथ मरण होता है।

भोगभूमिज सुख—भोगभूमिमे यह भी एक सुखकी बात है। वहाँ किसीको ३ दिन मे, किसीको दो दिनमे और किसीको एक दिनमे भूख प्यासकी वेदना रहती है। वह भी भोजन कितना करते ? कोई आवले बराबर, कोई बहेडा बराबर, कोई बेर बराबर। हाँ खाये हुएका सबका रस बनता है ऐसी भी सुखकी बात है। तो भोगभूमिमे भी ऐसा इन्द्रियजन्य सुख रहता है सम्यक्त्वसहित मरणमे यदि मनुष्य होना पडे तो ऐसे भोगभूमिज होते है।

व्रतपरिणामके परिणामका प्रतिपादन—व्रती पुरुष मरनेके बाद स्वर्गके सुख भोगते है, व्रत धारण करना बहुत अच्छी बात है, लेकिन कोई पुरुष उस कहानीको सुनकर सोचे कि मैं व्रत ग्रहण कर लूं, इससे स्वर्गके सुख मिलते है, तो ऐसे स्वर्गका सुख नही मिलता है क्योकि उसके अंतरंगमे ममता बसी हुई है। वह अपने आत्मकल्याणके लिए व्रत नही ले रहा है, वह तो स्वर्ग सुख पानेकी धुन बनाये हुए है सो व्रत ले रहा है। वह व्रत नही है। जो ज्ञानी सत वैराग्यके कारण व्रत ग्रहण करते है, जिनके सहज वैराग्य बनता है, ऐसे

पुरुषोंकी कहानी है कि वे तो मोक्षमें जायेंगे या स्वर्गमें जावेंगे। स्वर्गमें कैसा सुख है, उसकी बात इस श्लोकमें चल रही है।

व्रतजनित पुण्यका फल—सुख तो एक आत्माका गुण है। जब रागादिक होते हैं तो सुखकी दशा बदल जाती है या तो हर्षरूप संकटोंका परिणमन होगा या दुःखरूप परिणमन होगा। जब तक यह आत्मा सांसारिक सुख और परतंत्रताका अनुभव करता है तब तक उसे बाधारहित आत्मीय आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता है। हाँ कभी साताबेदनीयके उदयमें कुछ इन्द्रिय सुखकी प्राप्ति हुई, साताख्प परिणमन हुआ, अर्थात् कुछ दुःख कम हो गया तो उस दुःखके कम होनेका नाम संसारी जीवोंने सुख रख लिया है। व्रत आदि करनेसे जो कषाय मंद होता है और मंद कषाय होनेसे पुण्यका संचय होता है तो उससे स्वर्ग आदिकके सुख बहुत काल तक भोगनेमें आते हैं, लेकिन वास्तविक जो आनन्द है अनाकुलताका वह तो आत्मदृष्टिमें ही है।

सांसारिक सुखकी उलझन—ये सांसारिक सुख तो उलझन है, वे देव सुखमें समस्त रहते हैं तो वे मरकर एकेन्द्रिय भी बन सकते हैं। उनमें नियम है कि दूसरे स्वर्ग तकके देव एकेन्द्रिय बन सकते हैं, उससे ऊपर १२ वें स्वर्ग तकके देव पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च बन सकते हैं, उससे ऊपरके देव मनुष्य ही बन सकते हैं। देखो देवगतिके देव कोई पेड तक बन जाते हैं, मरने के बाद ऐसी उनकी दुर्गति हो सकती है, और इतना तो समझना ही है कि वे मरकर नीचे ही गिरेंगे। आगममें देवोंके मरनेका नाम च्युत होना कहा गया है। देव च्युत होते हैं अर्थात् नीचे गिरते हैं और नारकी मरकर ऊपर आते हैं। उन देवोंमें ऐसा हृषीकज, अनातङ्क व दीर्घकालोपलालित सुख है, पर वास्तविक आनन्द नहीं है।

वास्तविक आनन्द—जो वास्तविक आनन्द है उसमें इन्द्रियकी आधीनता नहीं है, समयकी सीमा नहीं है, क्षणभंगुर नहीं है, न किसीके प्रति चिंता है। इस आनन्दके जानने वाले पुरुष भी स्वर्गके सुखको हेय मानते हैं और स्वानन्दके आनन्दको उपादेय मानते हैं। देवोंका सुख देवोंकी ही तरह है, ऐसा कहनेमें ज्ञानियोंको समाधान मिलेगा और अज्ञानियों को भी समाधान मिलेगा। अज्ञानी तो उन शब्दोंमें सुखका बडप्पन समझ लेंगे और ज्ञानी उन्हीं शब्दोंमें सुखको हेय समझ लेंगे। खैर, कैसा ही सुख हो, व्रतधारणके फलमें स्वर्ग आदि के सुख मिलते हैं, इस बातका इस श्लोकमें वर्णन है।

वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि ॥६॥

सुखकी दुःखरूपताके वर्णनका संकल्प—इसमें पहिले श्लोकमें देवोंका सुख बताया गया था। इस सुखके सम्बंधमें अब यहाँ यह कह रहे हैं कि यह सुख संसारी जीवोंका जो

कि इन्द्रियजनित सुख है वह सुख केवल वासनामात्रसे ही सुख मालूम होता है किन्तु वास्तव मे यह सुख दुःखरूप ही है। भ्रमसे जीव इसको आनन्द समझते है। ये भोग जिनका कि सुख माना है वे चित्तमे उद्वेग उत्पन्न करते है। कोई भी सुख ऐसा नही है जो सुख शान्ति से भोगा जाता हो। खुद भी इसका अनुभव कर लो। ये संसारके सुख क्षोभपूर्वक ही भोगे जाते है। भोगनेसे पहिले क्षोभ, भोगते समय क्षोभ और भोगनेके बाद भी क्षोभ। केवल कल्पनासे मोही जीवसे सुख समझते है। आत्मामे एक आनन्द नामका गुण है जिसके कारण यह आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप कहलाता है। उस आनन्दशक्तिके तीन परिणमन है– सुख, दुःख और आनन्द। सुख वह कहलाता है जो इन्द्रियोको सुहावना लगे, दुःख वह कहलाता जो इन्द्रियोको असुहावना लगे और आनन्द उसका नाम है जिस भावमे आत्मामे सर्व ओर से समृद्धि उत्पन्न हो।

सुख और आनन्दमें अन्तर—यद्यपि सुख, दुःख और आनन्द, ये आनन्द गुणके परिणमन है, तथापि इन तीनोमे आनन्द तो है शुद्ध तत्त्व, सुख और दुःख ये दोनो है अशुद्ध तत्त्व। यह इन्द्रियजन्य सुख आत्मीय आनन्दकी होड नही कर सकता है। स्वानुभव मे जो आनन्द उत्पन्न होता है अथवा प्रभुके जो आनन्द है उस आनन्दकी होड तीन लोक तीन कालके समस्त ससारी जीवोका सारा सुख भी जोड लीजिए तो भी वह समस्त सुख भी उस आनन्दको नही पा सकता है। यह सासारिक सुख आकुलता सहित है और शुद्ध आनन्द अनाकुलतारूप है। सासारिक सुखमे इन्द्रियकी आधीनता है। इन्द्रिया भली प्रकार है तो सुख है और इन्द्रियोमे कोई फर्क आया, बिगाड हुआ तो सुख नही रहा, किन्तु आत्मीय आनन्दमे इन्द्रियकी आवश्यकता ही नही है। हृषीकज सुख पराधीन है, नाना प्रकार के विषयोके साधन जुटे तो यह सुख मिलता है; परन्तु आत्मीय आनन्द पराधीन नही है, अत्यन्त स्वाधीन है। समस्त परपदार्थोंका विकल्प न रहे, केवल स्वात्मा ही दृष्टिमे रहे तो उससे यह आनन्द उत्पन्न होता है। इस इन्द्रियज सुखमे दुःखका सम्मिश्रण है किन्तु आत्मीय आनन्दमे दुःखकी पहुँच भी नही है। ससारका कोई भी सुख ऐसा नही है जिसमे दुःख न मिला हुआ हो। धनी होनेमे सुख है तो उसमे भी कितने ही दुःख है। सतानवान होनेका सुख है तो उस प्रसंगमे भी कितने ही दुःख भोगने पडते है। ससारका कोई भी सुख दुःखके मिश्रण बिना नही है। सासारिक सुख कर्म बन्धनका कारण है परन्तु आत्मीय आनन्द कर्म बन्धनका कारण नही है। सासारिक सुख इस आनन्दके अशको भी नही प्राप्त कर सकता है।

वासनामात्र कल्पित सुखमें बाधा और विषमता—भैया! सुख और दुःखकी कल्पना उस ही पुरुषके होती है जिसमे ऐसी वासना बनी हुई है कि यह पदार्थ मेरा उपकारी है

इसलिए इष्ट है और यह पदार्थ मेरा अनुपकारी है इसलिए अनिष्ट है। ऐसा जब भ्रम उत्पन्न होता है तो उस भ्रममे आत्मामे जो भी संस्कार बन जाता है उसका नाम वासना है। संसारी जीव इन्ही वासनावोके कारण इन्द्रियसुखमे वास्तविक सुखकी कल्पना कर लेते है। यह भोगोसे उत्पन्न हुआ सुख अनेक बाधावोसे भरा हुआ है, पर आत्माके अनुभवसे उत्पन्न होनेवाला आनन्द बाधावोसे रहित है। यह इन्द्रियजन्य सुख विषम है। कभी सुख बढ गया, कभी सुख घट गया, कभी सुख न रहा ऐसी इन भोगोके सुखमे विषमता है, परतु स्वके अनुभवसे उत्पन्न होनेवाला आनन्द विषम नही है, वह एक स्वरूप है और समान है। सुख और दुखमे महान् अन्तर है। इस इन्द्रियजनित सुखमे मोहीजन भ्रमसे वास्तविक सुख को कल्पना करते है।

सांसारिक सुखोंकी उद्वेगरूपता––यह हृषीकज सुख उद्वेग ही करता है। जैसे ज्वर आदिक रोग चित्तको दुःखी कर देते है ऐसे ही ये भोग भी चित्तको दुःखी कर देते है। मोही जन दुःखी हो जाते है और दुःख नही समझते है। जैसे चरचरी मिर्च खानेमे सुख नही होता है, दुःख होता है, पर जिसे चटपटी मिर्चसे मोह है वह दुःखी भी होता जाता है और मिर्च भी मागता जाता है, और लावो मिर्च। किस तरहका उनके मिर्चका भाव लगा लगा है? क्या कारण है कि उस मिर्चसे सी-सी करते जाते, आसू भी गिरते जाते, कौर भी मुश्किलसे गुटका जाता, फिर भी मागते है कि लाल मिर्च और चाहिए। ऐसे ही भोगके दुःख होते है; इन भोगोसे कुछ भी आनन्द नही मिलता है, लेकिन मोहवश भोगोमे ही यह आनन्द मानता है और उन्ही भोगके साधनोको जुटानेमे श्रम करता है।

परमतत्त्वके लाभ बिना कोरी दरिद्रता––जो मनुष्य भूख प्याससे पीडित है उन्हे सुन्दर महल या सगीत साज या कुछ भी चीज उनके सामने रख दो तो उन्हे रमणीक नही मालूम होती है। किसीको भूख लगी हो उसका स्वागत खूब किया जाय और खानेको न पूछा जाय तो क्या उसे वे स्वागतके साधन रमणीक लगते है? नही रमणीक लगते है। जीवके जितने आरम्भ है वे सब आरम्भ तब सुन्दर लगते है जब खाने पीनेका अच्छा साधन हो। कोई लोग ऐसे भी है कि घरमे तो खाने पीनेका कलका भी साधन नही है और अपनी चटक मटक नेकटाई और बडी सज धज, शानकी बातें मारते, तो जैसे इस तरहके लोग कोरे पोले है, उनमे ठोस बात कुछ नही है। ऐसे ही समझिये कि जिस पुरुषमे ज्ञान विवेक नही है, जिस तत्त्वकी दृष्टिसे आनन्द प्रकट होता है उस तत्त्वकी जरा भी खबर नही है और वे भोगके साधन, भारी चेष्टाएँ आदि करे तो वे अपनेमे पोले है, उन्हे शान्ति सतोष नही प्राप्त हो सकता।

सांसारिक सुखोंकी वासनामात्र रम्यता––यह सारा इन्द्रियसुख केवल वासनामात्र

रम्य है, उस ओर मोह लगा है इसलिए सुखद मालूम होता है। जो पक्षी बडी गर्मीमे अपनी स्त्रीके साथ याने (पक्षिणीके साथ) भोगोमे उलझ जाता है उसे धूपका कष्ट नही मालूम होता है। जब रात्रिको उस पक्षीका वियोग हो जाता है जैसे एक चकवा चकवी होते है उनके रातका वियोग हो जाता है, क्या कारण है, कैसी उनकी बुद्धि हो जाती है कि वे विमुख हो जाते है ? तब उन पक्षियोको चन्द्रमाकी शीतल किरणे भी अच्छी नही लगती। जब उनका मन रम रहा है, वासनामे उलझे है तब धूप भी कष्टदायी नही मालूम होती और जब उनका वियोग हो जाय तो उस समय चन्द्रमाकी शीतल किरणे भी अच्छी नही लगती। पक्षियोकी क्या बात कहे—खुदकी ही बात देख लो—जिसे धन सचय प्रिय है वह पुरुष धन सचयका कोई प्रसग हो, धन आनेकी उम्मीद हो, कुछ आ रहा तो ऐसे समयमे वह भूखा प्यासा भी रह सकेगा, धूपका भी कष्ट उठा सकेगा और भी दुःख सहन कर लेगा। और यदि कोई बडा नुक्सान हो जाय, टोटा पड़ जाय तो ऐसे समयमे उसे बढिया भोजन खिलावो, और और भी उसका मन बहलानेकी सारी बाते करो तो भी वे सारी बाते नीरस लगती है। उनमें चित्त नही रमता है। तो अब बतलावो सुख क्या है ? केवल वासनावश यह जीव अपनेको सुखी मानता है।

परसमागममें कल्पित सुखकी भी अनियतता—इस इद्रियजन्य सुखमे वासनाएँ बनाना, सुखकी कल्पनाएँ बनाना बिल्कुल व्यर्थ है। वह महाभाग धन्य है जिसकी धुन आत्मीय आनदको प्राप्त करनेकी हुई है। ससारके समागत समस्त पदार्थोंको जो हेय मानता है, उनमे उपयोग नही फसाता है वह महाभाग धन्य है। ससारमे तो मोही, भोगी, रोगी लोग ही बहुत पडे हुए है। वे इन ही असार सुखोको सुख समझते है। क्या सुख है ? गर्मीके दिनोमे पतले कपड़े बहुत सुखदाई मालूम होते है, वे ही महीन कपडे जाडेके दिनोमे क्या सुखकारी मालूम होते है ? सुख किसमे रहा ? फिर बतलावो जो जाडेके दिनोमे मोटे कपडे सुहावने लगते है, वे कपड़े क्या गर्मीके दिनोमे सुखकर मालूम होते है ? सुख किसमे है सो बतलावो। जिनमे कषाय मिला हुआ है, मन मिला हुआ है ऐसे मित्र अभी सुखदाई मालूम होते है, किसी कारणसे मन न मिले, दिल बिगड जाय तो उनका मुख भी नही देखना चाहते है।

सुखके नियत विषयका अभाव—भैया ! सुखका नियत विषय क्या है ? किसको मानते हो कि यह सुख है। जो मिष्ट पदार्थ लड्डू वगैरह भूखमे सुहावने लग रहे है, पेट भरनेपर क्या वे कुछ भी सुहावने लगते है ? कौनसे पदार्थका समागम ऐसा है जिससे हम नियम बना सके कि यह सुखदायी है ? मनुष्योको नीम कडुवी लगती है, पर ऊँटका तो वही भोजन है। ऊँटको नीम बडी अच्छी लगती है। कहाँ सुख मानते हो ? गृहस्थोको गृहस्था-

वस्थामे सुख मालूम होता है, पर ज्ञान और वैराग्य जग जाय तो उसे ये सब अनिष्ट और दु खकारी मालूम होते है। कौनसी चीज ऐसी है जिसमे नियमरूपसे सुखकी मान्यता ला सके ? ये सासारिक भोग उपभोग, सासारिक सुख सुखरूपसे बन रहे थे, वे ही सब कुछ थोडे समय बाद दु खरूपमे परिणत हो जाते हैं। बहुतसी ऐसी घटनाएँ होती है कि शादी विवाह हुआ, दो चार साल तक बडे आरामसे रहे, मानो एकके बिना दूसरा जिन्दा नही रह सकता, कुछ साल गुजर जाते है तो लडाई होने लगती है, आमना-सामना नही होता है, मानो तलाकसी दे देते है। तो कौनसी ऐसी स्थिति है जिसमे यह नियम बन सके कि यह सुखदायी स्थिति है ? सब केवल वासनामात्रसे सुखरूप मालूम होता है।

सुखका दुःखरूपमें परिणमन— यह सुख थोडे ही समय बाद दु खरूप परिणत हो जाता है। मान लो पति पत्नी ५०-६०-७० वर्ष तक एक साथ रहे, खूब आनन्दसे समय गुजरा, पर वह समय तो आयगा ही कि या तो पति पहिले गुजरे या पत्नी पहिले गुजरे। उस ही समय वह सोचता है कि सारी जिन्दगीमे जितना सुख भोगा है उतना दु ख एक दिनमे मिल गया। ये सभी सुख कुछ ही समय बाद दु खरूप मालूम होते है। भोजन करना बडा सुखदायी मालूम होता है, करते जावो डटकर भोजन तो फिर वही दु खका कारण बन जाता है। रोग पैदा हो आता है, पेट दर्द करता है, विह्वलता बनी रहती है। ससार मे भी सुखके भोगनेका हिसाब सबके एकसा ही बैठ जाता है। जैसे खानेका हिसाब सबका एकसा बैठ जाता है। चाहे चार दिन खूब डटकर बढ़िया मिष्ट भोजन करलो और फिर १० दिन केवल मूंगकी ही दाल खानेको मिलेगी। तो अब हिसाबमे १४ दिनका एवरेज लगालो और कोई आदमी १४ दिन रोज सात्विक भोजन करे और साधारण अल्प भोजन करे तो वह भी एवरेज एकसा ही बैठ गया। इन भोगविषयोको कोई बहुत भोग भोगले तो अतमे दुर्गति होती है और कोई मनुष्य इन भोगोको विवेकपूर्वक थोडा ही भोगता है।

वास्तविक आनन्दके लाभका उपाय—इन भोगोमे वास्तविक सुख नही है। वास्तविक आनन्द तो निराकुल परिणतिमे है। वह कैसे मिले ? अपना स्वरूप ही निराकुल है ऐसे भान बिना निराकुलता प्राप्त नही हो सकती। अपने आपको तो गरीब समझ रहा है यह जीव और निराकुलताकी आशा करे तो कैसे हो सकता है ? उसे कुछ पता ही नही है कि ये जगतके बाह्य पदार्थ है, ये जैसे परिणमते हो परिणमे, उनसे मेरा कोई बिगाड नही है। यह मै तो स्वभावसे शुद्ध सच्चिदानन्दरूप हू। ऐसे निज निराकुल स्वरूपका भान हो तो इस ही स्वरूपका आलम्बन करके यह निराकुलता प्राप्त कर सकता है। और यह निराकुल पद मिले तो फिर उस ही स्वरूपमे स्थिर रहता है। उस पदमे न बुढापा है, न मरण है, न इष्टका वियोग है, न अनिष्टका सयोग है, न ज्वर आदिक कोई रोग है, सब सकटोका

वहाँ विनाश है।

करणीय आशा—भैया! ऐसे सुखकी क्या लालसा करे जिस सुखमे सुखका भरोसा ही नही है। थोडा सुख मिला, फिर दुःख आ गया, और इस ही सुखके पीछे दुःख आता रहता है, तो ऐसे सुखकी क्यो आशा करे, आशा करे तो उस आनन्दकी आशा करे जिसके प्रकट होनेपर फिर कभी संकट नही आता है। वह सुख कर्मोके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होता है, आत्मासे उत्पन्न होता है, उसमे किसी भी प्रकारकी बाधा नही है, न उसमे कोई दुःख का सदेह है, ऐसा जो आत्मीय आनन्द है उसका किसी समय तो अनुभव कर लो। घरमे, दूकानमे, मदिरमे किसी जगह हो किसी क्षण सर्वसे भिन्न अपनेको निरखकर अपने आपके निर्विकल्प अनुभवका कुछ स्वाद तो ले लो। इस अनुभवका स्वाद आनेपर यह जीव कृतार्थ हो जायगा, इसे फिर आपत्ति न रहेगी। आपत्ति तो मोहमे थी। अमुक पदार्थ यो नही परिणमा तो आपत्ति मान ली। अब जब कि तत्त्व विज्ञान हो गया है तो उसमे यह साहस है कि अमुक पदार्थ यो नही परिणमा तो बलासे, वह उस ही पदार्थका तो परिणमन है। मै तो सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा स्वभावत कृतार्थ हू मुझको परपदार्थमे करने योग्य काम कुछ भी नही है। यह परमे कुछ कर भी नही सकता है, ऐसा तत्त्वज्ञान हो जानेपर, आत्मीय रसका अनुभव हो जानेपर फिर इसे कहाँ सकट रहा? सकट तो केवल अपनी भ्रमभरी कल्पनामे है।

सांसारिक सुखमें आस्थाकी अकरणीयता—इस श्लोकसे पहिले श्लोकमे व्रतोका फल बतानेके लिए देवोके सुखकी प्रशसा की गयी थी, लेकिन प्रयोजनप्रदर्शनवश भी की गई झूठी प्रशंसा कब तक टिक सकती है? इसके बादके श्लोकमे यह कहना ही पड़ा कि वह सारा सुख केवल वासनाभरका है, वास्तवमे वह चित्तको उद्वेग ही करने वाला है। ऐसे सुखमे आस्था न रखकर एक सच्चिदानन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्वमे उपयोगको लगाना ही श्रेयस्कर है।

मोहेन सवृत्तं ज्ञानं स्वभाव लभते न हि।
मत्त· पुमान् पदार्थाना यथा मदनकोद्रवै ॥७॥

मोहीका अविवेक—मोहसे ढका हुआ ज्ञान पदार्थोके यथार्थ स्वभावको प्राप्त नही कर पाता है अर्थात् स्वभावको नही जान सकता है, जैसे कि मादक कोदोके खानेसे उन्मत्त हुआ पुरुष पदार्थका यथावत भाग नही कर पाता है जैसे मादक पदार्थोके पान करनेमे मनुष्य का हेयका और उपादेयका विवेक नष्ट हो जाता है, उसे फिर पदार्थोका सही ज्ञान नही रहता। जैसे पागल पुरुष कभी स्त्रीको मां और मांको स्त्री भी कहता है और किसी समय मां को मां भी कह दे तो भी वह पागलकी ही बात है, इसी तरह मोहनीय कर्मके उदयवश यह जीव भी अपने शुद्ध स्वरूपको भूल जाता है, उसे हेय और उपादेयका सच्चा विवेक

नही रहता है। जो अपनी चीज है उसको उपादेय नही समझ पाता, जो परवस्तु है उसको यह हेय नही समझ पाता। उपादेयको हेय किए हुए है और हेयको उपादेय किए हुए हैं।

अमीरी और गरीबी—भैया! अपने स्वरूपका यथावत भान रहे, उसकी तरह जगत में अमीर कौन है? जिसको अपने स्वरूपका भान नही है उसके समान लोकमे गरीब कौन है। गरीब वह है जिसके अशाति बसी हुई है और अमीर वह है जिसके शान्ति बसी हुई है। धन सम्पदा पाकर यदि अशान्ति ही बस रही है, उस सम्पदाके अर्जनमें, रक्षणमें या उस सम्पदाके कारण गर्व बढानेमे अशान्ति बनी हुई है तो उस अशान्तिसे तो वह गरीब ही है। अमीर वह है जिसे शान्ति रहती है। शान्ति उसे ही रह सकती है जो पदार्थोका यथावत् ज्ञान करता है। जो पुरुष अपनेसे सर्वथा भिन्न धन वैभव सम्पदाके स्त्री पुत्र मित्र आदिक मे आत्मीयत्वकी कल्पना कर लेता है, यह मैं हू, यह मेरा है, इस तरहका भ्रम बना लेता है, दु खकारी सुखोको, भोगोको भी सुखकारी मान लेता है तो उसे फिर यह अपना आत्मा भी यथावत् नही मालूम हो सकता। इस मोही जीवको अपना आत्मा नाना रूपोमे प्रतिभासित होता है, मैं अमुकका दादा हू, पिता हूँ, पुत्र हू इस कल्पनामे उलझकर अपने स्वरूपको भुला देता है।

मोहमें विचित्ररूपता—यह मोही जीव अपनेको यथार्थ एकस्वरूप निरख नही पाता। मोहवश यह अपनेको न जाने किन-किन रूप मानता है? जब जैसी कल्पना उठी तैसा मानने लगता है। जैसे डाकके सम्बधसे दर्पणमे अनेकरूप दिखने लगते है, लाल कागज लगावो तो वह मणि लाल दिखती है, उसके पीछे लाल हरा जैसा कागज लगावो तैसा ही दिखने लगता है। ऐसे ही नाना विभिन्न कर्मोंका सम्बध आत्माके साथ है। सो जिस-जिस प्रकारका सम्बंध है उससे आत्मा नाना तरहका दिखता है लेकिन जैसे उस स्फटिक मणिसे उपाधि हटा दी जाय तो जैसा वह स्वच्छ है तैसा ही व्यक्त प्रतिभासमे आता है। ऐसे ही जब आत्मासे द्रव्यकर्मका भावकर्मका सम्बंध छूटता है तो वह अपने इस शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है, फिर उसे यह चैतन्यस्वरूप अखण्डस्वरूप अनुभवमे आता है।

अचरजभरा बन्धन—देखो भैया! कितनी विचित्र विचित्र बात है कि यह आत्मा तो आकाशवत् अमूर्त है। इस आत्मामे किसी परद्रव्यका सम्बन्ध ही नही होता, लेकिन कर्मोका बंधन ऐसा विकट लगा हुआ है ऐसा एक क्षेत्रावगाह है, निमित्तनैमित्तिक रूप तन्मयता है कि आत्मा एकभव छोडकर दूसरे भवमें भी जाय तो वहाँ भी साथ ये कर्म जाते हैं। यह क्यो हो गया कर्मबन्धन इस अमूर्त आत्माके साथ? देख तो रहा है, अनुभवमे आ तो रहा है यह सब कुछ, यही सीधा प्रबल उत्तर है इसका। मैं ज्ञानमय हूँ इसमे तो कोई सदेह ही नही, जो जाननहार है वह ही मैं हू। अब कल्पना करो कि जाननहार पदार्थ

रूपी तो हो नही सकता। पदार्थको किस विधिसे जाने, कुछ समझ ही नही बन सकती है। पुद्गल अथवा रूपी जाननका काम नही कर सकता है। वह तो मूर्तिक है, रूप, रस, गध स्पर्शका पिड है, उसमे जाननेकी कला नही है, जाननहार यह मैं आत्मा अमूर्त हू। इसमे ही स्वयं ऐसी विभावशक्ति पडी हुई है कि पर-उपाधिका निमित्त पाये तो यह विभावरूप परिणमने लगता है और विभावका निमित्त पाये तो कार्माणवर्गणा भी कर्मरूप हो जाती है, ऐसा इसमे निमित्तनैमित्तिक बन्धन है।

मूर्च्छाकी पद्धति—यह ज्ञान मोहसे मूर्छित हो जाता है। कैसे हो जाता है मूर्छित ? तो क्या बताए। उसकी तो नजीर ही देख लो। कोई पुरुष मदिरा पी लेता है तो वह क्यो बेहोश हो जाता है ? उसका ज्ञान क्यो मूर्छित हो जाता है ? क्या सीसीकी मदिरा ज्ञानके स्वरूपमे घुस गयी है ? कैसे वह ज्ञान मूर्छित हो गया है, कुछ कल्पना तो करो। यह कल्पना निमित्तनैमित्तिक बधन है, वहा यह कहा जा सकता है कि उस मदिराके पीनेके निमित्तसे ज्ञान मूर्छित नही होता है किन्तु पौद्गलिक जो द्रव्येन्द्रियाँ है वे द्रव्येन्द्रियाँ मूर्छित हो गयी हैं। जैसे डाक्टर लोग चमडीपर एक दवा लगा देते है जिससे उतनी जगह शून्य कर दे, ऐसे ही मदिरा आदिकका पान इन्द्रियोको शून्य कर देनेमे निमित्त है, वह ज्ञानको बिगाडनेमे निमित्त नही है। अच्छा न सही ऐसा, वह मदिरा द्रव्येन्द्रियके बिगाडनेमे ही निमित्त सही, पर द्रव्येन्द्रिय बिगड गयी तो वह तो निमित्त है ना ज्ञानके ढकनेका, मूर्छित होनेका और बिगडनेका। ऐसे ही सही, पर मदिरापान होनेसे यह ज्ञान मूर्छित हो गया है। फिर यह मोहनीय कर्म तो बहुत सूक्ष्म और प्रबल शक्ति रखने वाला है। उसके उदयका निमित्त पाकर यह ज्ञान मूर्छित हो जाय तो इसमे कोई आश्चर्य नही है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बध है। मदिरा जैसे बोतलमे रक्खी हुई है तो उसे पीनेवाले पुरुषके ज्ञानको मूर्छित करनेमे वह मदिरा निमित्त है, बोतलको मूर्छित कर देनेमे निमित्त नही है। उस काँचमे मूर्छित होनेकी शक्ति, कला व योग्यता नही है। तो वहाँ भी यह देखा जाता कि जो मूर्छित हो सकता है वह मदिराके निमित्तसे मूर्छित हो सकता है। इसी तरह कर्मोके उदयके निमित्तसे मूर्छित हो सकने वाले पदार्थ ही मूर्छित हो सकते है। शराब पीनेसे ज्ञानकी मूर्छित हुई दशामे मत्त पुरुषको जैसे हेय और उपादेयका विवेक नही रहता है ठीक इसी तरह जो आत्मा मोहमे ग्रस्त है वह अपने स्वरूपसे गिर जाता है और नाना प्रकारके विकारी भावोमे घिर जाता है, कर्मोसे बँध जाता है।

विडम्बनाओंके विनाशका सुगम उपाय—जैसे बहुत बडी मशीनके चलाने और रोकनेका पेंच एक ही जगह मामूली-सा लगा है, कमजोर पुरुष भी दबा और उठा सकते हैं, चला सकते है, बन्द कर सकते है, ऐसे ही इतनी बडी विडम्बना संसारमें हो रही है, जन्म

हो, मरण हो, जीवनभर अनेक कल्पनाएँ की, अनेक कष्टोंका अनुभव किया, इतनी सारी विडम्बनाएँ है किन्तु उन सब विडम्बनावोंके विनाशका उपाय केवल एक अपने आपके सहज स्वरूपका अनुभवन है, दर्शन है। इसके प्रतापसे भावकर्म भी हटते है, द्रव्यकर्म भी हटते है, और यह शरीर भी सदाके लिए पृथक् हो जाता है। सर्व प्रकारका उद्यम करके अपने सबको करने योग्य काम एक यह ही है कि अपने सहजस्वरूपका अवलोकन करे, दर्शन करे, अनुभवन करे, उसमें ही अपने उपयोगको लीन करके सारे संकटोंसे छुटकारा पाये।

कर्मबन्धनकी अनादिता—यह आत्मा परमार्थतः अपने स्वरूपमात्र है, लेकिन अनादिकालसे यह कर्मबंधनसे ग्रस्त है, विषय कषायके विभावोंसे मलिन है, इस कारण इन मूर्त कर्मोंसे वह बंधनको प्राप्त हो रहा है। कबसे इस जीवके साथ कर्म लगे है और कबसे इस जीवके साथ रागद्वेष लगे है इसका कोई दिन मुकर्रर किया ही नही जा सकता है, क्योंकि रागद्वेष जो आते है वे कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर आते है। कर्मोंका उदय तब हो जब कर्म सत्तामे हो। कर्म सत्तामे तब हो जब कर्म बँधे, कर्म तब बंधे जब रागद्वेष भाव हो तो अब किसको पहिले कहोगे? इस जीवके साथ पहिले कर्म है पीछे रागद्वेष हुए ऐसा कहोगे क्या? अथवा इस जीवके साथ रागद्वेष तो पहिले थे पीछे कर्म बंधे? ऐसा कहोगे क्या? दोनोमे से कुछ भी नही कह सकते।

द्रव्यकर्म व भावकर्ममें किसीकी आदि माननेमें आपत्ति—यदि जीवमे रागद्वेष पहिले थे, कर्म पीछे बँधे तो यह बतावो कि वे रागद्वेष जो सबसे पहिले थे वे हुए कैसे? यदि जीव मे अपने आप सहज हो गए तो यह जीव कर्मोंसे छूटनेके बाद एक बार वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा होनेके बाद भी अगर यो ही सहज रागद्वेष आ गए तो ऐसी मुक्तिका क्या करे कि जिसमे किसी प्रकार एक बार संकटसे छूट पाये थे और अब संकटसे घिर गये, इस कारण यह बात नही है कि जीवमे रागद्वेष पहिले थे, कर्मबंध न था, रागद्वेषके कारण फिर कर्म बंधना शुरू हुआ, यह नही कहा जा सकता। यदि ऐसा कहेगे कि जीवके साथ कर्म बंध पहिले था, उसके उदयमे ये रागद्वेष हुए है। तो वह बतलावो कि जब जीवमे सबसे पहिले कर्म बंध था, तो वह कर्मबंध हो कैसे गया? किस कारणसे हुआ या बिना कारणके हुआ। किस कारणसे हुआ यह तो कह न सकेगे इस प्रसंगमे, क्योंकि सबसे पहिले कर्म बंध हुआ मान रहे हो। यदि अकारण ही ये कर्म जीवके साथ है तो मुक्त होनेके बाद फिर अकारण कर्म बंध जावेगे तो फिर इसने संसारमे रुलना होगा, फिर मुक्तिका स्वरूप ही क्या रहा, इससे न भाव कर्म ही सर्वप्रथम हुआ कह सकते और न द्रव्य कर्मको ही सर्व प्रथम हुआ कह सकते।

द्रव्यकर्म व भावकर्मकी अनादिता पर दृष्टान्त—द्रव्यकर्म, भावकर्मकी अनादिता

समझनेके लिये एक दृष्टान्त लो—आमके बीजसे आमका पेड उगता है, आप सब जानते है और आमके पेडसे आमका बीज उत्पन्न होता है। आमके फलके बीजसे आम वृक्ष हुआ, आम वृक्षसे आमका फल हुआ तो आप अब यह बतलावो कि वह लगा हुआ फल कहाँसे आया ? आमके पेडसे और वह आमका पेड कहाँसे आया ? आमके फलसे और वह आम का फल कहांसे आया ? आमके वृक्षसे, इस तरह बोलते जावो, कहानी पूरी हो ही नही सकती। कोई फल ऐसा नही था जो कभी पेडसे न हुआ था और कोई पेड ऐसा नही था जो कभी बीजसे न हुआ था। तो जैसे बीज और वृक्ष इन दोनोकी परम्परा अनादिसे चली आ रही है उसमे किसे पहिले रक्खोगे ? ऐसे ही जीव और कर्मका यह सम्बध कि कर्मसे रागद्वेष हुए, रागद्वेषसे कर्म बँधे, यह सम्बध अनादिसे चल रहा है। अच्छा बतावो आज जो बेटा है वह किसी पितासे हुआ ना, और वह पिता अपने पितासे हुआ। क्या कोई ऐसा भी पिता किसी समय हुआ होगा जो बिना पिताके आकाशसे टपककर आया हो या यह किसी और तरह पिता हुआ हो, बुद्धिमे नही आता ना। तो जैसे यह सतान अनादि है इसी प्रकार यह जीव और कर्मका सम्बध भी अनादि है।

द्रव्यकर्म व भावकर्मके अनादि सम्बन्ध होनेपर भी विविक्तता—भैया ! जीव और कर्मका बन्धन अनादि, फिर भी ये दोनो तत्त्व भिन्न-भिन्न है, और ऐसा उपयोग बन जाय सही तो कर्म जुदा हो सकते है और आत्मा केवल विविक्त हो सकता है। जैसे खानमे जो सोनेकी खान है वहाँ स्वर्ण पाषाण निकलता है उसमे वह स्वर्ण किस समयसे बना हुआ है ? ऐसा तो नही है कि पहिले वहाँ अन्य किस्मका कोरा पत्थर था, पीछे स्वर्ण उसमे जडाया गया हो ? वह पाषाण तो ऐसे ही स्वर्णपाषाण रहा आया है, उस पाषाणमे स्वर्ण का सम्बध चिरकालसे है, जबसे पाषाण है तबसे ही है, लेकिन उसे तपाया जाय या जो प्रक्रिया की जाती है वह प्रक्रिया की जाय तो वह स्वर्ण उस पाषाणसे अलग हो जाता है। जैसे तिलमे तैल बतावो किस दिनसे आया है, क्या कोई नियम बना सकते हो कि कबसे आया ? वह तो व्यक्तरूपसे जबसे तिलका दाना शुरू हुआ है, बना है तबसे ही उसमे तैल है। तो जबसे तिल है तबसे उस दानेमे तैल है। रहे आवो शुरूसे दोनो एकमेक, लेकिन कोल्हूमे पेले जानेके निमित्तसे तिल अलग नजर आता है और तैल अलग नजर आता है, ऐसे ही ये जीव और कर्म दोनो अनादिसे बद्ध है लेकिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रके प्रतापसे यह जीव विविक्त हो जाता है और ये सब कर्म और नोकर्म जुदे हो जाते है। जब यह जीव द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनोसे मुक्त हो जाता है, फिर कभी भी कर्मोंसे नही बँधता।

परिस्थिति और कर्तव्यशिक्षा—यहा यह बतला रहे है कि जब यह कहा गया था

कि ये सुख केवल वासना मात्र है, ये है नही, परमार्थत तो स्वभाव ही अपना है। तो फिर यह जीव इस परमार्थभूत स्वभावको क्यो नही प्राप्त कर लेता है, इस आशंकाके समाधानमे यह बताया गया है कि मोहके उदयसे यह आत्मा अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है, विवेक फिर नही रहता। विवेक न रहने के कारण पदार्थका स्वरूप यथार्थ परिज्ञान नही हो पाता है। जब अपना अंतस्तत्त्व न जान पाया तो यह बाह्य उपयोगी रहा, बहिरात्मा रहा, वहाँ यह परपदार्थमे यह मेरा है, यह मै हूँ, ऐसी विधिसे कल्पना बनाता रहा। अज्ञान दशामे यह बहिरात्मा दशा जब तक रहती है तब तक यह ज्ञानी अतस्तत्व का ज्ञान नही कर पाता, इस कारण मिथ्यात्व त्यागकर ज्ञानी होकर परमात्मपदका साधन करना चाहिए। इससे इस मिथ्या सुख दु खसे परे शुद्ध आनन्द प्रकट हो जायगा।

वपुर्गृहं धन दारा पुत्रा मित्राणि शत्रव॰।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढ स्वानि प्रपद्यते ।।८।।

मूढमान्यता—मोहसे मूर्छित हुआ यह अज्ञानी प्राणी कैसा बाह्यमे भटकता है कि जो-जो पदार्थ सर्वथा अपनेसे भिन्न स्वभाववाले है उन परपदार्थोको यह मैं हू इस प्रकार मानता फिरता है। शरीर घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र और कहा तक कहा जाय, शत्रुको भी मोही जीव अपना मानता है। कहते है कि यह मेरा शत्रु है, उसे अपना माना है।

शरीर क्या—जो शीर्ण हो, जीर्ण हो, गले उसका नाम शरीर है, यह तो सस्कृतका शब्द है, उर्दू मे भी शरीर कहते है। जिसका प्रतिकूल शब्द है शरीफ। शरीफकाहै अर्थ सज्जन उससे उल्टे शरीरका दुर्जन, बदमाश। तो यह शरीर शरीर है, दुर्जन है, बदमाश है, इससे कितना ही प्रेम करो, कितना ही खिलावो, कितना ही तेल फुलेल लगावो, कितनी ही सेवा करो, यह जब फल देता है तो बदबू, पसीना आदि ऐब देता है। ये जितनी मूर्तियाँ दिखती है हम आपको ये सब बडी अच्छी देवतासी साफ सुथरी दिख रही है, सिरमे तेल लगा है, बडा श्रृंगार है, कपडे भी चमकीले है, किसीका चद्दर श्रृंगार है, किसीका कोट। सजे धजे देवतासे सब बैठे है, पर ये सब भरे पूरे किस चीजसे है उसका भी दर्शन कर लो। अपनी ग्लानि अपनेको जल्दी मालूम हो सकती है और दूसरेकी भी। मोही जीव इस शरीर को अपना मानते है।

शरीरसेवाका कारण—जो बुद्धिमान पुरुष होते है वे भी इस शरीरकी सेवा करते है, वे भी स्वस्थ रहने के उपाय बनाते है, सयत भोजन करते, सयमित दिनचर्या करते, सब कुछ स्वास्थ्य ठीक रखनेका प्रोग्राम रखते है लेकिन शरीरकी यह सेवा अपना मोह पुष्ट करने के लिए नही करते किन्तु इस शरीर को सेवक समझ कर इस शरीरसे कुछ अपने आत्माकी नौकरी लेना है, कुछ आत्माका हित करना है, केवल इस हितभावसे शरीरकी

सेवा करते है।

शरीरकी अस्वता—यह शरीर ममत्वके लायक नही है, यह अपनेसे अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला है। मै चेतन हू, यह शरीर अचेतन है, इसको जो आपा मानता है उसीको तो बहिरात्मा कहते है। जो पुरुष इस शरीरको और आत्माको एक मानता है वह अज्ञानी है। कितने शरीर पाये इस जीवने ? अनन्त। सबको छोडकर आना पडा। उसी तरहका तो यह शरीर है। कितने समय तक रहेगा शरीर ? आखिर इसे भी छोडकर जाना होगा। जिसका इतना मोह कर रहे है यह शरीर कुटुम्बियो द्वारा, मित्रजनो द्वारा जला दिया जायगा। इसको क्या अपना मानना ? क्या इस शरीरकी सेवा करना, अपने अंतरमे सावधानी बनाये रहो कि मै शरीर नही हूँ, यह मूढ जीव ही इस शरीरको अपना बनाए फिरता है।

मूढका गृह—घरका नाम है गृह। गृह उसे कहते है जो ग्रहले, पकडले या जो ग्रहा जाय पकडा जाय। यह मोही जीव जिसको पकडकर रहे उसका नाम गृह है। आप जिस घरके है कुछ कामवश घर छोडकर १० साल भी बाहर रहे तो भी जब सुध आती है तो आप फिर अपने घर आ जायेंगे, उसीका नाम घर है। ऐसे ही गृहणी है। गृह और गृहणी ये दोनो जकडी जाने वाली चीजें है। प्रयोजनवश कितना भी दूर रह जायें पर गृह और गृहिणी ये दोनो नही छूटते है। किन्तु विरक्त ज्ञानी हो तो ये छूटते है, इस जीव का ज्ञानानन्दस्वरूप है, किन्तु मोही जीव विकट जकडा हुआ है इस गृहसे। इस गृहको मूर्ख जीव मानते है कि यह मेरा है। घर तो इस आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाही भी नही है घर तो प्रकट जुदा है फिर भी ऐसा थूलमथूला कि जहाँ खुद धरा है वही धरा है, कुछ भी हिल-डुल नही सकता। ऐसे प्रकट अचेतन घरको भी यह मोही जीव अपना मानता है। कभी यह जिज्ञासा हो सकती है तो फिर क्या करें। क्या घर छोड दे। अरे भैया ! छोडो अथवा न छोडो—छोड दो तो भी कुछ संकट नही है और न छोड सको कुछ काल तो भी कुछ मिथ्यात्व नही आ गया है, लेकिन सत्य बात जो है उसका प्रकाश तो रहना चाहिए। यह घर मेरा कुछ नही है।

धन—धनकी भी निराली बात है। धनमे परिजनको छोडकर सब कुछ आ गये। सोना चाँदी, रुपया पैसा, गाय भैंस सभी चीजे आ गयी। ये सब भी प्रकट जुदे है। लेकिन कल्पनामे ऐसे बसे हुए है कि ज्ञानप्रकाशके लिए भी कुछ ख्याल नही आता। छोडनेकी बात तो दूर रहो, पर किसी समय कुछ हिचकता भी नही धनकी कल्पना करतेमे, इस धन से भिन्न अपनेको यह मोही नही मान पाता है।

स्त्री—स्त्री–यह भी एक भिन्न जीव है, सबके अपने-अपने कर्म है, सबके अपने

अपने कषाय है। कषायसे कषाय मिल रही है इस कारण परस्परमें प्रेम है। जिस घरको पुरुष आबाद रखना चाहता है उस ही घरको स्त्री भी आबाद रखना चाहती है, एकसी कषाय मिल गयी और उसके प्रसगमे प्रत्येक बातमे भी प्राय: एकसी कषाय मिल गयी है। जब दोनो उद्देश्य एक हो जाता है तो कषाय अनुकूल हो ही जाती है। किसी एक काम को मिलजुलकर करनेकी धुन बन जाय ५ आदमियोकी भी तो उन पाँचोकी इच्छा कषाय एकसी अनुकूल हो जायगी और फिर उस अनुकूलतामे एक दूसरेके लिए श्रम करते रहेगे।

दार, भार्या, कलत्र––यहाँ स्त्रीको दारा शब्दसे कहा गया है। हिंदीमे लोग दारी-दारी कहा करते है। गालीके रूपमे यह शब्द बोला जाता है। यह रिवाज यहाँ चाहे न हो पर देहातोमे अधिक है। दाराका अर्थ है दारयति भ्रातृन् इति दारा, जो भाई-भाईको लडाकर जुदा कर दे। स्त्रीका नाम दारा भी है। उस शब्दमे ही यह अर्थ भरा है। यद्यपि यह रिवाज हो गया है कि बडे हो गए तो अब जुदे-जुदे होना चाहिए, मगर बडे हो जानेसे जुदा कोई नही होता। विवाह होनेसे स्त्री होनेसे फिर जुदेपनकी बात मनमे आती है तो उस जुदेपनके होनेका कारण स्त्री है ना इसलिए उसका नाम दारा रक्खा गया है। स्त्रीका भार्या भी नाम है। जो अपनी जिम्मेदारी समझकर घरको निभाये उसे भार्या कहते है। कलत्र भी कहते है। कल कहते है शरीरको और त्र मायने हैं रक्षा करने वाला। पतिके शरीरकी रक्षा करे, पुत्रके शरीरकी रक्षा करे और खाना देकर सभीके शरीरकी रक्षा करती है इसलिए उसका नाम कलत्र है, इसे यह मूढ जीव अपना मानता है।

स्त्रीकी पतिसे विविक्तता––स्त्रीजन पुरुषोके विषयमे सोच ले कि वे पतिको अपना समझती है व्यवहारमे चूंकि एक उद्देश्य बना है और कषाये मिल रही है इस कारण मिल जुलकर रहा करती है तिसपर भी ऐसा नही है कि पुरुषकी इच्छासे स्त्री काम करती हो, स्त्रीकी इच्छासे पुरुष काम करता हो, यह त्रिकाल हो ही नही सकता है। सब अपनी-अपनी इच्छासे अपना-अपना काम करते हैं। मिलजुल गयी इच्छा और कषाय, पर प्रेरणा सबको अपनी-अपनी इच्छाकी ही मिली हुई है, ये मोही जीव ऐसे परजनोको अपना मानते है।

पुत्र––व्यामोही पुरुष पुत्रको अपना मानते है। पुत्र किसे कहते है ? जो कुलको बढाये, पवित्र करे। इस आत्माका वश है चैतन्यस्वरूप। इस चैतन्यस्वरूपको पवित्र करने वाला, वृद्धिगत करने वाला तो यह ज्ञानपरिणत स्वयंका आत्मा है इसलिए यह मेरा तत्त्व-ज्ञान ही वस्तुत मेरा पुत्र है जो मेरे चैतन्य कुलको पवित्र करे। यहाँ कौनसा कुल अपना है ? आज इस घरमे पैदा हुए है तो इस घरके उत्तरोतर अधिकारी बनते जायें ऐसा कुल मान लेते है पर यहाँके मरे कहाँ पहुँचे, ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे न जाने कहाँ-कहाँ

जन्म हो जाय, क्या रहा फिर यहाँका समागम ? सब मोहकी बाते है । पुत्रका दूसरा नाम है सुत । सुत उसे कहते है जो उत्पन्न हो, इसीसे सूतक शब्द बना है । कही ऐसी प्रथा है कि जन्मके १० दिनोको सौर कहते है और मरेके १२ दिनोको सूतकके दिन कहते है, मगर सूतक नाम उत्पन्न होनेका है, जन्ममे कहते है सूतक और मरनेमे कहते है पातक । किसीके यहाँ बच्चा पैदा हुआ हो और जाकर कह दो कि अभी इनके यहाँ सूतक है तो वह बुरा मान जाता है, वह सोचेगा कि हमारे घरमे किसीका मरना सोचते है क्योकि मरेपर सूतक कहनेका रिवाज हो गया है । पर ऐसा नही है मरेको पातक और पैदा होनेको सूतक कहते है । चाहे कुपूत हो, चाहे सुपूत हो सब सुत कहलाते है ।

लौकिक मित्र—ससारके दोस्तोकी बात देख लो—एक कहावत है कि आप डूबते पाँडे तो डूबै जजमान । गिरते हुएको एक धक्का लगा देते है ऐसी परिभाषा है दोस्तोकी । कोई लोग यह घटाते है कि जो दोस्त होते है वे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए दोस्त होते है, ठीक है, यह भी अर्थ है पर अध्यात्ममे यह अर्थ लेना कि जो जिगडी मित्र है, हार्दिक मित्र है, निष्कपट है, ससारकी दृष्टिमे वह बिल्कुल स्वच्छ हृदयका है तो भी सिवाय मोहगर्त मे गिरानेके और करेगा क्या वह ? मित्र लोग विषयोके साधन जुटानेके लिए, ससारके गड्ढोमे गिरानेके लिए, ससारके सकटोमे भटकानेके लिए होते है । परमार्थसे तो अपने मित्र है देव शास्त्र और गुरु । देव, शास्त्र, गुरुके सिवाय दुनियामे कुछ मित्र नही है । जैसे मित्र जन प्रसन्न हो गए तो क्या करा देगे ? ज्यादासे ज्यादा दुकान करा देगे, विवाह करा देगे, तृष्णाकी बाते लगा देगे । चाहिए तो वही पाव डेढ पाव अन्न और दो मोटे कपड़े और तृष्णा ऐसी बढ जायगी कि जिसका अंत ही नही आता । कितने ही मकान बन जायें, कितना ही धन जुड जाय, कितने ही धन आनेके जरिये ठीक हो जाये तिसपर भी तृष्णाका अत नही आता । कभी यह नही ख्याल आता कि जो भी मिला है वही आवश्यकतासे अधिक है । तो मोहमे मित्र जन क्या करेगे, तृष्णा बढानेका काम करते है और संसारके गड्ढेमे गिराते है । यह मूढ जीव मित्रको भी अपना मानता है ।

शत्रु—यह व्यामोही शत्रुको भी अपना मानता है । देखिये विचित्रता कि यह अज्ञानी प्राणी शत्रुका ध्वस करना चाहता है । शत्रु इसके लिये अनिष्ट बन रहा है, किन्तु मिथ्यात्व भावकी परिणति कैसी है कि शत्रुके प्रति भी यह मेरा शत्रु है, इस प्रकार अपनत्वको जोडता है । शत्रुको मिटानेके लिये अपनत्वको जोड रहा है । हद हो गई मिथ्यात्वकी । यह मोही जाव मोहकी बेहोशीमे यह मेरा शत्रु है ऐसा मानता है ।

मोहमें भूल—भैया ! मोहके उदयमे यही होता है । अपने स्वरूपको भूलकर अपने भले बुरेका कुछ भी विवेक न रखकर बाहरी पदार्थोंमे अपनी तलाश करते है, मैं कौन हू,

मेरा क्या स्वरूप है, मुझे क्या करना चाहिए ? जिन समागमोमे पड़े हुए हो उन समागमों से, परपदार्थोंसे तुम्हारा कुछ सम्बंध भी है क्या ? किसीकी भी चिता नही करता है। ये सभी पदार्थ मेरी आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। इन पदार्थोंमे से किस पदार्थमे झुकवर शाति हासिल कर ली तो बतावो ? परके झुकावमे शान्ति हो ही नही सकती, क्योंकि परकी ओर झुकाव होना यह साक्षात् अशान्तिका कारण है। ये सर्व भिन्न स्वभाव वाले है फिर इन्हे मैं क्यो अपना मान रहा हू, ऐसी चित्तमे ठेस इस जीवके मोहमे हो नही पाती है। क्योंकि इसने अपने इस शरीरपर्यायको ही आपा मान लिया है। जब मूलमे ही भूल हो गयी तो अब जितना भी यह अपने गुजारेका विस्तार बनायेगा वह सब उल्टा ही विस्तार बनेगा।

भूलपर भूल—देहको ही जीव आत्मा समझते है, उनके उपयोगका जितना विस्तार बढेगा वह सब कुमार्गका विस्तार बढेगा। घरमे रसोईमें चावल शाक आदि बनानेकी जो भगोनी है, पतेली है वे किसी कोनेमे दस, पाँच इकट्ठी लगानी है तो चूँकि जगह कम घिरे इसलिए एकके ऊपर एक क्रमसे लगाते है। तो नीचेकी पतेली यदि औधी कर दी है तो ऊपर जितनी भी पतेली रखी जावेगी वे सब औधी ही रखी जा सकेगी, सीधी नही, और नीचेकी पतेली यदि सीधी रखी है तो ऊपरकी सभी पतेली सीधी ही रखी जा सकेगी, औधी नही। यो ही प्रारम्भमे उपयोग यदि सही है तो विकार विस्तार भी सही रहेगा और मूलमे ही यदि भूल कर दी तो अब जितने भी विकार होगे, श्रम होगे वे सब उल्टे ही उल्टे हो जायेगे। यह मूढ जीव पर्याय व्यामोहके वश हुआ इन समस्त पदार्थोंको अपना मानता है। ये सब विडम्बनाएँ इस निज आत्मस्वरूपको न जाननेके कारण है।

दिग्देशेभ्य खगा एत्य सवसति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्याति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९॥

क्षणसंयोगका पक्षियोंके दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—जैसे पक्षीगण नाना देशोसे उड करके शामके समय पेडपर बैठ जाते है, रात्रिभर वहाँ बसते है, फिर वे अपने-अपने कार्यके वशसे अपने कार्यके लिए प्रभात होते ही चले जाते है इस ही प्रकार ये ससारके प्राणी, हम और आप अपने अपने कर्मोदयके वशसे नाना गतियोसे आकर एक स्थानपर, एक घरमे इकट्ठे हुए है, कुछ समयको इकट्ठे होकर रहते है, पश्चात् जैसी करनी है, जैसा उदय है उसके अनुसार भिन्न-भिन्न गतियोमे चले जाते है।

क्षण संयोगपर यात्रियोंका दृष्टान्त—जब ऐसी स्थिति है इस संसारकी जैसे कि यात्रीगण किसी चौराहेपर कोई किसी दिशासे आकर कोई किसी दिशासे आकर मेले हो जाये तो वे कितने समयको मेले रहते है। बस थोडी कुशल क्षेम पूछी, राम-राम किया, फिर तुरन्त ही अपना रास्ता नाप लेते हैं। ऐसे ही भिन्न-भिन्न गतियोसे हम और आप

आये है, एक महलमे जुड गये है, कोई कहीसे आया कोई कहीसे, कुछ समयको इकट्ठे है। जितने समयका सयोग है उतना समय भी क्या समय है ? इस अनन्तकालके सामने इतना समय न कुछ समय है। ऐसे कुछ समय रहकर फिर बिछुड जाना है, फिर किसीसे राग करनेमे क्या हित है ?

क्षणभंगुर जीवनमें वास्तविक कर्तव्य—भैया ! थोडे अपने जीवनमे भी देख लो। जो समय अब तक गुजर गया है सुखमे, मौजमे वह समय आज भी ऐसा लग रहा है कि कैसे गुजर गया ? सारा समय यो निकल गया कि कुछ पता ही नही पडा। तो रही सही जिन्दगी यो ही निकल जायगी कि कुछ पता ही न रहेगा। ऐसी परिस्थितिमे हम और आपका कर्तव्य क्या है ? क्या धनके मोहमे; परिवारके मोहमे पडे रहना ही अपना काम है ? धनका मोह धनके मोहके लिये नही है, अपने नामके मोहके लिये है इसीलिए तो लोग धनका मोह रखते है कि यह बहुत जुड जाय तो हम दुनियाके बीचमे कुछ वडे कहलाएँ। अरे परवस्तुके सचयसे कोई बडा नही कहलाता है। मान लो कि इस अज्ञानमय दुनियाने थोडा बडा कह दिया, पर करनी है खोटी, कर्म बध होता है खोटा, तो मरनेके बाद एक-दम कीडा हो गया, पेड बन गया तो अब कहा बडप्पन रहा ? अथवा बडप्पन तो इस जीवनमे भी नही है। काहेके लिए धनका मोह करना, उसमे शान्ति और सतोष नही मिलता और किसलिए परिजनसे मोह करना ? कौनसा पुरुष अथवा स्त्री कुटुम्बी हमारा सहायक हो सकता है ? सबका अपना अपना भाग्य है, सबके अपनी अपनी करनी है, जुदी जुदी कषाये है, सब अपने ही सुखमे तन्मय रहते है। परिजनमे भी क्या मोह करना ? ठीक स्वरूपका भान करले यही वास्तविक कर्तव्य है।

संसारमें संयोग वियोगकी रीति—गृहस्थीमे जो कर्तव्य है ऐसे गृहस्थीके कार्य करे, पर ज्ञानप्रकाश तो यथार्थ होना चाहिए। यह दुनिया ऐसी आनी जानीकी चीज है, जैसा एक अलंकारमे कथन है जब पत्ता पेडसे टूटता है तो उस समय पत्ता पेडसे कहता है—पत्ता पूछे वृक्षसे कहो वृक्ष बनराय। अबके बिछुडे कब मिलें दूर पडेंगे जाय॥ पत्ता पूछता है कि हे वृक्षराज ! अब हम आपसे बिछुड रहे है अब कब मिलेगे ? तब वृक्ष यो बोलियो—सुन पत्ता एक बात। या घर याही रीति है इक आवत इक जात॥ पेड कहता है कि ऐ पत्ते ! इस ससारकी यही रीति है कि एक आता है और एक जाता है। तुम गिर रहे हो तो नये पत्ते आ जायेगे। ऐसा ही यहाँका सयोग है, कोई आता है कोई बिछुडता है, जो आता है वह अवश्य बिछुडता है।

तृष्णाका गोरखधधा—भैया ! बडा गोरखधधा है यहाँका रहना। मन नही मानता है, इस दुनियामे अपनी पोजीशन बढाना, और बाह्यमे दृष्टि देना, इससे तो आत्माका सारा

बिगाड़ हो रहा है, न धर्म रहे, न संतोषसे रहे, न सुख रहे। तृष्णाके वश होकर जो सम्पदा पासमे है उसका भी सुख नही लूट सकते। जो कुछ है उसमे अच्छी प्रकारसे तो गुजारा चला जा रहा है, सब ठीक है, पर अपने चित्तमे यदि तृष्णा हो जाय तो वर्तमानमे जो कुछ है उसका भी सुख नही मिल पाता। इस संसारके समागममे कही भी सार नही है।

सचेतन संगका कड़ा उत्तर—और भी देखो कि अचेतन पदार्थ कितने ही सुहावने हो, किन्तु अचेतन पदार्थ कुछ उसे मोह पैदा करानेकी चेष्टा नही करते है, क्योकि वे न बोलना जानते है, न उनमे कोई ऐसा कार्य होता है जो उसके मोहकी वृद्धिके कारण बने। ये चेतन पदार्थ मित्र, स्त्री आदिक ऐसी चेष्टा दिखाते है, ऐसा स्नेह जताते है कि कोई विरक्त भी हो रहा हो तो भी आत्मकार्यसे विमुख होकर उनके स्नेहमे आ जाता है। तब जानो कि ये चेतन परिग्रह एक विकट परिग्रह है, ये सब जीव नाना दिशावोसे आये है, नाना गतियोसे आए है। और अपनी अपनी आयुके अनुसार बादमे अपनी करनीके अनुसार नाना दिशावो और गतियोको चले जावेगे। इन पाये हुए समागमोमे हितका विश्वास नही करना है। मेरा हित हो सकता है तो यथार्थ ज्ञानसे ही हो सकता है। सम्यग्ज्ञानके बिना कितने भी यत्न कर लो संतोष व शान्ति प्रकट न हो सकेगी। यहाँ रहकर जो इष्ट पदार्थ मिले है उनमे हर्ष मत मानो, और कभी अनिष्ट पदार्थ मिलते है तो उनमे द्वेष मत मानो।

अपने बचावका कर्तव्य—भैया! ये इष्ट अनिष्ट पदार्थ तो न रहेगे साथ, किन्तु जो हर्ष और विषाद किया है उसका संस्कार इसके साथ रहेगा अभी, और परभवमे क्लेश पैदा करेगा। इस कारण इष्ट वस्तुपर राग मत करो और जो कोई अनिष्ट पदार्थ है उनसे व जो प्राणी विराधक है, अपमान करने वाले है या अपना घात करने वाले है, बरबादी करने वाले है, ऐसे प्राणियोसे भी अन्तरमे द्वेष मत करो। बचाव करना भले ही किन्ही परिस्थितियोमे आवश्यक हो, पर अतरंगमे द्वेष मत लावो। मेरे लिए कोई जीव मुझे बुरा नही करता है क्योंकि कोई कुछ मुझे कर ही नही सकता है। कोई दुष्ट भी हो तो वह अपना परिणाम भर ही तो बनायेगा, मेरा क्या करेगा? मै ही अपने परिणामोसे जब खोटा बनता हूँ तो मेरेको मुझसे ही नुकसान पहुँचता है तो इष्ट पदार्थमे न राग करो और न अनिष्ट पदार्थमे द्वेष करो।

> विराधक कथ हन्त्रे जनाय परिकुप्यति।
>
> त्र्यगुलं पातयन् पद्भ्या स्वयं दण्डेन पात्यते ॥१०॥

अपकारीपर क्रोध करनेकी व्यर्थता—कोई पुरुष किसी दूसरेका घात करना चाहता हो, सताता हो या घात किया हो तो वह जीव भी किसी न किसी समय सतायेगा बदला लेगा। जब कोई सता रहा हो तब यह सोचना चाहिए कि मैंने इसे सताया होगा,

क्लेश पहुँचाया होगा पहिले तो यह प्रतिकार कर रहा है, इस पर क्या क्रोध करना ? जैसा मैंने किया तैसा इसके द्वारा मुझे मिल रहा है। जैसे कोई पुरुष भूसा काठ या लोहेके बने हुए तिरगुलसे समेटते है, उसमे तीन अगुलिया सी बनी होती है। उसके चलानेपर चलाने वाला आदमी भी झुक जाता है। वह तिरगुल चलाने वाला जब भुस समेटता है तो जमीन पर वह अपने पैर भी चलाता जाता है। यदि वह दोनो पैरोसे चलावे तो एकदम लट्ठकी तरह गिर जावेगा। उदाहरणमे यह बात कही गयी है कि जो दूसरेको मारता है वह भी उस दूसरेके द्वारा कभी मारा जाता है, जो दूसरेको सताता है वह भी कभी उस दूसरेके द्वारा सताया जाता है। जब कोई सताये तो यह सोचना चाहिए कि इसपर क्या क्रोध करना, मैंने ही किसी समयमे इसका बुरा किया है, कर्म बध किया है उसके उदयमे यह घटना आ गयी है। इसमे दूसरे पर क्या क्रोध करना है ?

रोष और द्वेषभावनामें बरबादी—इस दृष्टान्तमे दूसरी बात यह भी जानना कि भुस को समटने वाला तो तिरगुल होता है, उसे चलाते है और साथ ही पैर घसीटते है ताकि भुस आसानीसे इकट्ठा हो जाय। कोई पुरुष एक पैरसे तिरगुल ढकेलता है और कोई पुरुष दोनो पैरोसे ढकेले तो वह पुरुष ही गिर जायगा, ऐसे ही जो पुरुष तीव्र कषाय करके किसी दूसरे पुरुषका घात करता है, अपमान करता है, सताता है तो वह पुरुष ही स्वय अपमानित होगा और कभी विशेष क्लेश पायगा। इस कारण अपने मनको बिलकुल स्वच्छ रखना चाहिए। किसीका बुरा न सोचा जाय, सब दुखी रहे। जो पुरुष सबके सुखी होनेकी भावना करेगा वह सुखी रहेगा और जो पुरुष दूसरेको दुखी होनेकी भावना करता है वह चूंकि सक्लेश परिणाम बिना कोई दूसरेके दुखी होनेकी कभी सोच नही सकता, सो जिस समय दूसरेको दुखी होनेकी बात सोची जा रही है उस समयमे यह स्वयं ही दुखी हो रहा है। जो दूसरेका दुखी होना सोचेगा वह दूसरोके प्रति सोचकर अपनी व्यग्रता बढा रहा है।

अपकारमें प्रत्ययकारकी प्राकृतिकता—लोकमे जो पुरुष दूसरेको सुख पहुँचाता है दूसरे भी उसे सुख पहुचाते हैं। अभी यहाँ ही देख लो—किसीसे विनयके वचन बोलो तो दूसरेसे भी इज्जत मिलेगी और खुद टेढे कठोर वचन बोलेंगे, तो दूसरोसे भी वैसे ही वचन सुननेको मिलते है, वैसा ही व्यवहार देखनेको मिलता है। तो जब यह सुनिश्चित है कि हम जैसा दूसरेके प्रति सोचेगे, करेंगे वैसा ही मुझे होगा, तब अपकार करने वाले मनुष्यका बदलेमे कोई दूसरा अपकार कर रहा है तो उस पर क्रोध करना व्यर्थ है। जो किया है सो भोगा जा रहा है। अब यदि उसपर क्रोध करते हैं तो एक भूल और बढाते है। पूर्व कालमे भूल किया था उसका फल तो आज भोग रहे हैं और उसी भूलको अब फिर दुहरायेंगे तो भविष्यमे फिर दुख भोगना पडेगा। अब कोई पुरुष अपना अपकार करता हो, अपनी

किसी प्रकारकी बरबादीमे कारण बन रहा हो तो यह सोचना चाहिए कि यह पुरुष जो मेरा उपकार कर रहा है बुरा कर रहा है, अथवा मेरी किसी विपत्तिके ढानेमे सहायक हो रहा है तो उसने जो कुछ इसके साथ बुरा किया था उसका यह बदला दे रहा है। उमे इसपर रुष्ट होनेकी क्या आवश्यकता है ?

करणीय विवेक—भैया ! तत्त्वज्ञानमे अपूर्व आनन्द है, अपूर्व शान्ति है। कोई तत्त्व ज्ञानके ढिग न जाये और शान्ति चाहे तो यह कभी हो नही सकता कि शान्ति प्राप्त हो। इससे जो अपना बुरा कर रहा हो उसके प्रति यही सोचना चाहिए या हिम्मत हो ऐसी तो ऐसा काम करे जिससे ऐसा बदला लिया जा सके जो वह जीवनभर भी श्रम करता रहे, वह बदला है भलाई करनेका। कोई पुरुष अपना अपकार करता है तो हम उसकी भलाई करे, वह पुरुष स्वय लज्जित होगा और आपकी सेवा जीवनभर करेगा, ऐहसान मानेगा। बुरा करने वालेके प्रति हम भी बुराईकी बात करने लगे, कोई अपनेपर किसी तरह विपदा ढाता है तो हम भी उसपर विपदा ढाने लगे तो इससे शातिका समय न मिल सकेगा, विरोध ही बढेगा, अशान्ति ही बढेगी। इससे अपकार करने वालेका बहुत तगडा बदला यह है कि उसका भला कर दे तो वह जीवनभर अनुरागी रहेगा और किसी समय बहुत काम आयगा।

मानवताके अपरित्यागमें कल्याण—भैया ! बुरा करने वालेके प्रति खुद बुरा करने लगे तो उसमे लाभ नही है, सज्जनता भी नही है, बडप्पन भी नही है। वहाँ तो ऐसी स्थिति हो जायगी, जैसे पुराणोमे एक घटना आयी है कि कोई साधु जंगलमे नदीके किनारे किसी शिलापर रोज तपस्या किया करता था। साधु चर्याविधिसे आहारके समय किसी निकटके गाँव चला जाता था और आहार लेकर लौटनेपर उसी शिलापर तपस्या करता था। वह शिला बहुत अच्छी थी। एक दिन साधुके आनेके पहिले एक धोबी आकर उसपर कपडे धोने लगा। साधुने देखा कि धोबी उम शिलापर कपडे धो रहा है, सो कहा कि यहाँसे तुम चले जावो, अन्य जगह कपड़े धोलो, यह शिला हमारे तपस्या करनेकी है। धोबीने कहा—महाराज तपस्या तो किसी भी जगह बैठकर की जा सकती है, पर कपडे धोनेके लिए तो यह ही शिला ठीक है। आखिर दोनोमे बात बढी। साधुने धोबीके दो तमाचे मार दिये। धोबीको भी गुस्सा आया तो उसने भी मार दिया। अब वे दोनो बहुत जूझ गये तो धोबी पहिने था तहमद, सो वह छूट गया, अब दोनो नग्न हो गए। अब तो दोनो एकसे ही लग रहे थे। बहुत विवादके बाद वह साधु ऊपरको निगाह करके कहने लगा कि अरे देव-तावो, तुम्हे कुछ खबर नही है कि साधुके ऊपर संकट आ रहा है ? तो आकाशसे आवाज आयी कि महाराज देवता तो सब धर्मात्मावोकी रक्षा करनेको उत्सुक है, पर हम सब लोग इस सदेहमे पड गए है कि इन दोनोंमे साधु कौन है और धोबी कौन है ? एक सी दोनोवे

कषाय है, एकसी लडाई है, एक सी गाली-गलौज है तो उसमे कैसे निपटारा हो कि अमुक साधु है और अमुक धोबी है।

सन्मार्गका सहारा--भैया! बुरा करने वालेका बुरा करने लग जाना यह कोई अच्छा प्रतिकार नही है। सज्जनता तो इसमे है कि कुछ परवाह न करो कि कोई मेरा क्या सोचता है, तुम सबका भला ही सोच लो। एक यही काम करके देख लो। किसीका बुरा करनेमे तो खुदको भी सक्लेश करना पडेगा तब बुरा सोच सकते है। जैसे किसीको गाली देना है तो अपने आपमे यह भाव लाना पडेगा कि गाली दे सके। और किसीको सम्मान भरी बात कहना है तो उसमें शान्तिसे बात कर सकते हो। इससे यह निर्णय रक्खो कि हमारा कर्तव्य यह है कि हम सब जीवोके प्रति उनके सुखी होनेकी ही भावना करे, इसमे ही हमे सन्मार्ग प्राप्त हो सकेगा।

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीव ससाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

रागद्वेषवश मन्थन--यह जीव रागद्वेषरूपी दोनो लम्बी नेतनियोके आकर्पणके द्वारा संसारसमुद्रमे अज्ञानसे घूम रहा है। दही मथने वाली जो मथानी होती है उसमें जो डोरी लिपटी रहती है तो उस डोरीको नेतनी कहते हैं। उस नेतनीके आकर्पणकी क्रियासे, जैसे मथानी मटकीमे बहुत घूमती रहती है इसी प्रकार रागद्वेष ये दो तो डोरिया लगी हुई है, इन दो डोरियोके बीचमे जीव पडा है। यह जीव मथानीकी तरह इस संसारसागरमे भ्रमण कर रहा है। देहादिक परपदार्थोमे अज्ञानके कारण इस जीवको राग और द्वेष होता है, इष्ट पदार्थोमे तो प्रेम और अनिष्ट पदार्थोमे द्वेष, सो इन रागद्वेषोके कारण चिरकाल तक ससार मे घूमता है। जिस रागसे दु ख है उस ही रागसे यह जीव लिपटा चला जा रहा है।

राग द्वेपका क्लेश—भैया! परवस्तुके रागसे ही क्लेश है। आखिर ये समस्त परवस्तु यहाँके यहाँ ही रह जाते है। परका कोई भी अश इस जीवके साथ नही लगेगा, लेकिन जिस रागसे जीवनभर दु खी हो रहा है और परभवमे भी दु खी होगा उसी रागको यह जीव अपनाए चला जा रहा है, उसका आकर्षण बना है, कैसा मेरा सुन्दर परिवार, कैसी भली स्त्री, कैसे भले पुत्र, कैसे भले मित्र सबकी ओर आकर्षण अज्ञानमे हुआ करता है। मिलता कुछ नही वहाँ, बल्कि श्रद्धा, चारित्र, शक्ति, ज्ञान सभीकी बरबादी है, लेकिन राग बिना इस जीवको चैन ही नही पडती है। ऐसी ही द्वेषकी बात है। जगतके सभी जीव एक समान है और सभी जीव केवल अपना ही अपना परिणमन कर पाते है तब फिर शत्रुताके लायक तो कोई जीव ही नही है। किससे दुश्मनी करनी है? सबका ही अपना जैसा स्वरूप है। कौन शत्रु है, लेकिन अज्ञानमे अपने कल्पित विषयोमे बाधा जिनके निमित्त

से हुई है उन्हे यह शत्रु मान लेता है। सो राग और द्वेष इन दोनोसे यह जीव खिचा चला जा रहा है।

रागद्वेषके चढाव उतार—जैसे बहुत बडी भूलनेकी पलकिया होती है, मेलेमे उनपर बैठकर लोग भूलते है। बम्बई जैसे शहरोमे बिजलीसे चलनेवाली बहुत बडी पलकियाँ होती है। बालक लोग शौकसे उसपर बैठते है, पर जैसे पलकियाँ चढती है तो भय लगता है और जब ऊपर चढकर गिरती है तब और भी अधिक भय लगता है। भय भी सहते जाते है और उसपर शौकसे बैठते भी जाते है। ऐसे ही ये राग और द्वेषके चढाव उतार इस जीवके साथ लगे है जिसमे अनेको संकट आते रहते है, उन्हे सहते जाते है, दु खी होते जाते है, किन्तु उन्हे त्याग नही सकते है। भरत और बाहुबलि जैसी बात तो एक विचित्र ही घटना है, न यहाँ भरत रहे और न बाहुबलि रहे किन्तु जिस जमानेमे उनका युद्ध चला उस जमानेमे तो वे भी संकट काटते रहे होगे। कौरव और पाण्डवका महाभारत देखो। महाभारतका युद्ध हुआ था उस समय तो दुनियामे मानो प्रलय सा छा गया होगा, ऐसा सकट था। न कौरव रहे न पाडव। पुराण पुरुषोने भी बडे-बडे वैभव भोगे, युद्ध किया, अतमे कोई विरक्त होकर अलग हुए, कोई सक्लेशमे मरकर अलग हुए। जिनका सयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होता है, परन्तु ये मोही जीव अज्ञानमे इन बाह्य वस्तुवोको अपना सर्वस्व मानते है, जो जीव राग और द्वेषमे व्यग्र रहते है वे अनन्तकाल तक जन्म मरणके कष्ट उठाते रहते है।

राग और द्वेषका परस्पर सहयोग—राग और द्वेष ये दोनो परस्पर सहयोगी है। जैसे मथानीमे जो डोर लगी रहती है उनके दोनो छोर परस्पर सहयोगी है, एक छोर अपना काम न करे तो दूसरा छोर अपना काम नही कर सकता है। एक अपनी ओर खिचता है तब एक दूसरा छोर मथानी की ओर खिच जाता है। जैसे मथानीकी रस्सीमे दोनो छोरोका परस्पर सहयोग है ऐसे ही राग और द्वेषका मानो परस्पर सहयोग है। किसी वस्तुका राग है तो उस वस्तुके बाधकके प्रति द्वेष है। किसी बाधकके प्रति द्वेष है तो उसके बाधकके प्रति राग है। ये राग और द्वेष भी परम्परमे एक दूसरेके किसी भी प्रकारका सहयोग दे रहे है। द्वेषके बिना राग नही रहता है और रागके बिना द्वेष भी नही रहता है। किसी वस्तुमे राग होगा तभी अन्य किसीसे द्वेष होगा। और अध्यात्ममे यही देख लो जिसका ज्ञान और वैराग्यसे द्वेष है उसको विषय कषायोसे राग है, जिसका ज्ञान वैराग्यसे प्रेम है उसे विषय कषायोसे द्वेष है। यो यह तो अध्यात्मकी बात है। इस प्रकरणमे तो लौकिक चर्चा है।

सर्व दोषोंका मूल—यह जीव राग द्वेषके वश होकर इस संसारसमुद्रमे गोते खा

रहा है। जहाँ राग हो वहाँ द्वेष नियमसे होता है। जिसे धन वैभवमे राग है उसमे कोई दूसरा बाधक हो गया तो उसको द्वेषी मान लिया। जिसका जो लक्ष्य है उस लक्ष्यमे जो बाधक पडे वही उसका द्वेषी बन जाता है। साधुसत कही विहार करते जा रहे हो तो शिकारी उन साधुवोको देखकर साधुवोपर द्वेष करता है, आज तो बडा असगुन हुआ, शिकार नही मिलनेका है। तो जिसका जो लक्ष्य है उस लक्ष्यमे जो बाधक पडे उसीसे लोग द्वेष करने लगते हैं। जहा ये राग और द्वेष दोनो होते है वहा यह मन अत्यन्त वेकार हो जाता है। जो मनुष्य यह दावा करता है कि हमारा तो सबसे प्रेम है, किसीसे द्वेष नही है, यह उनकी भ्रमभरी कल्पना है। प्रेम और द्वेष ये दोनो साथ साथ चलते है। किसी भी जीवमे प्रेम है उसपर राग है तो किसी पदार्थमे उसका द्वेष भी होगा। जितने भी दोष हैं, वे सब राग द्वेषकी सत्तासे उठे होते है। कुछ राग है तो किसीसे वैराग्य भी है। अपनेसे राग है तो परसे वैराग्य है? किसीमे राग नही रहा तो द्वेष हो गया। यह मेरा है और यह दूसरेका है ऐसा जहाँ स्व परका भेद किया गया है वहाँ नियमसे राग और द्वेष है और जहाँ रागद्वेष दोनो रहते है वहाँ अन्य दोष तो अनायास आ हो जाते है क्योकि सारे ऐबो का कारण राग और द्वेष है।

भ्रमणचक्र—यह रागद्वेषकी परम्परा इस जीवको ससारमे भ्रमण करा रही है। जो जीव ससारमे घूमता रहता है उसके रागद्वेषकी उन्नति होती रहती है और उसके द्वारा शुभ अशुभ कर्मोका आस्रव होता रहता है। अशुभ कर्म जो करेगा उसे दुर्गति मिलेगी, जो शुभ कर्म करेगा उसे सुगति मिलेगी। देखते जाइए चक्कर। रागद्वेष परिणामोसे कर्म बँधे, कर्मोसे गति अथवा सुगति मिले, और कोई भी गति मिलेगी उसमे देह मिला, देहसे इन्द्रियाँ हुईं और इन्द्रियोसे विषयोका ग्रहण किया और विषयोके ग्रहणसे राग और द्वेष हुआ। उसी जगह आ जाइये। अब रागद्वेषसे कर्म बँधा, कर्मसे गति सुगति हुई, वहाँ देह मिला, देहसे इन्द्रियाँ हुई, इन्द्रियोसे विषय किया, विषयोसे रागद्वेष हुआ यो यह चक्र इस जीवके चलता ही रहता है। जैसे अपने ही जीवनमे देख लो—जो कल किया सो आज किया, आज किया सो कल करेंगे, इससे विलक्षण अपूर्व काम कुछ नही कर पाता यह जीव।

अपूर्व कार्य—भैया! इन चिरपरिचित विषयोसे विलक्षण आत्मकार्य कर ले कोई तो वह धन्य है। अपनी २४ घटेकी चर्चा देख लो। पचेन्द्रियके विषयोका सेवन किया और मनके यश अपयश, इज्जत प्रतिष्ठा सम्बधी कल्पनाएँ बनायी, जो काम कल किया सो आज किया, रातभर सोये, सुबह उठे, दिन चढ गया, भोजन किया, कुछ इतर फुलेल लगाया, दूकान गए, काम किया, भोजन किया, फिर वहीका वही काम! जो चक्र इन्द्रिय और मन सम्बधी लगा आया है वही लगता जा रहा है, कोई नया काम नही किया। यह जीव राग-

वश इन्हीमे अपना नया काम समझता है, पर नया कुछ नही किया। नया तो एक आत्मकल्याणका काम है, अन्य काम तो और भवोमे भी किया। मनुष्यभवमे विषयसेवनसे अतिरिक्त कौनसा नया काम किया ? वही विषयोका सेवन, वही विषयोकी बात। यो खावो, यो रहो ऐसा भोगो, ऐसा धन कमावो, सारी वही बाते है, कुछ भी तो नया काम नही हुआ। और सम्भव है कि पहिले आकुलता कम थी अब ज्यादा वैभव हो गया तो ज्यादा आकुलता हो गयी। जब कम वैभव होता है तो बडा समय मिलता है, सत्संगमे भी, पाठ पूजन भक्ति ध्यान भी करनेमे मन लगता है। और जब वैभव बढता है तो सत्सग भी प्राय गायब हो जाता है, पूजा भक्तिमे भी कम समय लगता है और रातदिन परेशानी रहती है।

दुर्लभ नरजन्ममे विवेक— अहो, यह जीव मथानीकी तरह मथा जा रहा है। कषाय किसे कहते है जो आत्माको कसे। दु.खोमे यह जीव मथ जाता है। नाम तो सरल है इसे बडा क्लेश है पर जिसे क्लेश है वही जानता है। अपनी दृष्टि शुद्ध कर लो तो क्लेश कुछ भी नही है। क्या क्लेश है ? सडकोपर देखते है भैसोके कंधे सूजे है, उनपर बहुत बडा बोझ लदा है फिर भी दमादम चाबुक चलते जा रहे है। बेचारे कितना कष्ट करके जुत रहे है। और जब जुतने लायक न रहा तो कषायीके हाथ बेच दिया। कषायी ने छुरेसे काटकर मास बेच लिया और खाल बेच लिया। क्या ऐसे पशुवोसे भी ज्यादा कष्ट है हम आपको ? ससारमे दु खी जीवोकी ओर दृष्टि पसार कर देखो तो जरा। अनेक जीवोकी अपेक्षा हम और आप सब मनुष्योका सुखी जीवन है, पर तृष्णा लगी है तो वर्तमान सुख भी नही भोगा जा सकता। उस तृष्णामे बहे जा रहे है सो वर्तमान सुख भी छूटा जा रहा है। ऐसी विशुद्ध स्थिति पानेसे लाभ क्या लिया ? यदि विषय कषायोमे धनके सचयमे परिग्रहकी बुद्धिमे इनमे ही समय गुजरा तो मनुष्य जन्म पानेका कुछ लाभ न पाया।

ऐहिक कल्पित पोजीशनसे आत्मकार्यका अभाव— यहाँके कुछ लोगोने बढावा कह दिया तो न ये बढावा कहनेवाले लोग ही रहेगे और न यह बढावा कहलाने वाला पुरुष ही रहेगा। ये तो सब मायारूप है, परमार्थ तत्त्व नही है। किसलिए अपने बढावामे बहकर अपनी बरबादी करना। जगतमे अन्य मूढोकी परिस्थियोको निहारकर अपना निर्णय नही करना है। यहाँकी वोटोसे काम नही चलनेका है, जगतके सभी जीव किस ओर बहे जा रहे है कुछ दृष्टि तो दो। अपना काम तो अपने आत्माका कल्याण करना है। यह दुनिया मोहियोसे भरी हुई है। इन मोहियोकी सलाहसे चलनेसे काम न बनेगा।

यथार्थ निर्णयके प्रयोगकी आवश्यकता— भैया! किसके लिए ये रागद्वेष किए जा रहे है कुछ यथार्थ निर्णय तो करिये। किसी एकको मान लिया कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा अमुक है, यह सुखी रहे, ठीक है। प्रथम तो यह बात है कि किसीको सुखी करना

यह किसीके हाथकी बात नही है। उसका उदय होगा तो वह सुखी हो सकेगा, उदय भला नही है तो सुखी नही हो सकता है। प्रथम तो यह बात है फिर भी दूसरी बात यह है कि संसारके सभी जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न है। हमारे आत्मामे हमारे घरका भी पुत्र क्या परिवर्तन कर देगा ? किसके लिए कल्पनामे डूब रहे है ? यह बहुत समृद्धिशाली हो जाय और उस एकको छोडकर बाकी जो अनन्त जीव है वे तुम्हारी निगाहमे कुछ है क्या ? वही एक तुम्हारा प्रभु बन गया जिसको रात दिन कल्पनामे बैठाये लिए जा रहे हो। कौन पुरुष अथवा कौन जीव ऐसा है जिससे राग अथवा द्वेष करना चाहिए ? अरे शुद्ध तत्त्वके ज्ञाता बनो और जिस पदवीमे है उस पदवीमे जो करना पड रहा है करे किन्तु यथार्थ ज्ञान तो अन्तरमे रहना ही चाहिए।

कल्याणसाधिका दृष्टि—मैं सर्व परपदार्थोंसे जुदा हू, अपने आपमे अपने स्वरूपमात्र हू। मेरा सब कुछ मेरे करनेसे ही होगा, मै किसी भी प्रकारकी हो भावना ही बनाता हू, भावनासे ही ससार है और भावनासे ही मुक्ति है, भावनाके सिवाय मैं अन्य कुछ करनेमे समर्थ नही हू ऐसी अपनी भावात्मक दृष्टि हो, रागद्वेषका परित्याग हो, आत्मकल्याणकी धुन हो तो इस वृत्तिसे अपने आपको मार्ग मिलेगा। विषयकषायोमे बहे जाएँ, अपने जीवनको यो ही गवां दे, यह तो कोई कल्याणकी बात नही है। ऐसे जीवनमे और पशु जीवनमे अन्तर कुछ नही है। वे भी सभी विषयोकी साधना करते है और यहाँ भी विषयोकी साधना की तो कौनसा लाभ लूट लिया ? ये तो सभी मिट जायेंगे, और सस्कार खोटा बनाया तो इसके फलमे आगे भी दुःख होगा। इससे मोह मेटें, रागद्वेषमे न बहे, अपने आत्माकी कुछ दृष्टि बनाएँ, निष्कपट प्रभुभक्ति करे और सभी जीवोमे एक समान दृष्टि बनानेका उद्देश्य करे तो यह उन्नतिका साधन है।

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः विपदा प्रचुरा पुरा ॥१२॥

संसारमें विपदाओंका तांता—यह ससार एक चक्र लगाने वाले यन्त्रकी तरह है। जैसे रहटमे घटिया चक्र लगाती रहती है, उसमे एक घटी भर गयी, वह रीत गयी, फिर दूसरी घटी आयी वह रीत गई। जिस तरह उसी घटीयन्त्रमे एक घटी भरते है तो थोडी देरमे रीत जाती है अथवा पैरसे चलनेवाले यन्त्रमे जिसमे दो घटिका लगी है, एक रीत जाती है तो दूसरी रीतनेके लिये आ जाती है। ऐसे ही इस दुनियामे एक विपत्तिको मेटकर कुछ राहत ली तो दूसरी विपदा आ जाती है। यह बात ससारके सभी जीवोपर घटित हो जाती है। आप अपनी बात समझें। सबकी यही दशा है कि एक विपत्तिसे निपटे तो दूसरी विपत्ति सामने आ गयी। यहाँ विपत्तियोका निपटारा हो ही नही पाता है। सोचते है कि

धन कमाने लगें तो फिर कोई विपदा न रहेगी अथवा एक संतान हुआ, दूसरा तीसरा हुआ, लो उनमेसे एक मर गया। एक न एक विपदा सबको लगी रहती है।

विपदाका आधार कल्पना—भैया! लगी कुछ नही रहती है विपदा, कल्पनासे एक न एक विपदा मान लेते है। है किसीको कुछ नही। अभी ही बतावो कहाँ क्या दु ख है? न मानो किसीको अपना कोई तो कुछ दुःख ही नही रहा। जैसा पदार्थ है वैसा समझ लो फिर कोई क्लेश ही नही रहा। जिस सम्पदाको आप अपना समझते है वही अब दूसरेके पास है तो उसे आप नही मानते है कि यह मेरा है। जैसे दूसरेके पास रहनेवाला वैभव भी अपना नही है ऐसे ही अपने पास रहने वाला वैभव भी अपना नही है। ऐसा मान लो तो कोई क्लेश ही नही है। सबके मनमे किसी न किसी चिताकी गुनगुनाहट चल रही है। सब व्यर्थकी गुनगुनाहट है, सबकी कल्पनामे भिन्न-भिन्न गुनगुनाहट है, वही विपदा है। तो जैसे रहट यत्रके एक डडेके घडेके खाली हो जानेपर दूसरा घडा सामने आ जाता है, ठीक इसी तरह इस ससारमे एक विपदा दूर होती है तो दूसरी विपदा सामने आ जाती है। इस तरह देखिये तो इस ससारमे कभी साता है तो कभी असाता है। एक क्षण भी यह जीव इन कल्पनावोसे मुक्त नही होता है, न असातावोसे मुक्त होता है।

अन्तर्दाह—अहो, कितनी कठिन चाह दाहकी भीषण ज्वालाएँ इस संसारमे बस रही है, जल रहा है खुद यह विषादवह्निमे, किन्तु पक्षपातकी बुद्धिको नही छोडता है। ये मेरे हैं, इनके लिए तो तन, मन, धन, वचन सब हाजिर है। यह मोहका अधकार सब जीवोको सता रहा है, विकल होता हुआ उनमे ही लिप्त हो रहा है। जिनके सम्बधसे क्लेश होता है उस ही क्लेशको मिटानेके लिए उनमे ही लिप्त रहते है। यही है एक जाल। कोई जाल यह ऐसा नही है जैसे लोहेके जाल हो, सूतके जाल हो, किसी भी प्रकारका जाल नही है इस जीवपर, मकडीके जाल बराबर भी सूक्ष्म कमजोर भी जाल नही है, कोई जाल नामकी बात ही नही है किन्तु यह मोही जीव अपनी कल्पनामे मोहका ऐसा जाल पूरता है कि उससे परेशान हो जाता है, तब उसे संसारमे आधि व्याधि उपाधि सब लगी रहती है। आधि नाम तो है मानसिक दु खका, व्याधि नाम है शारीरिक दु खका और उपाधि नाम है परका, पुछल्ला लपेटे रहनेका। यो यह जीव आधि व्याधि और उपाधिसे दु खी रहा करता है। उपाधिका अर्थ है जो आधिके समीप ले जाय। उपका अर्थ है समीप और आधिका अर्थ है मानसिक दु ख। जो मानसिक दु खके समीप ले जाय उसे उपाधि कहते है। जैसे पोजीशन डिग्री आदि मिलना ये सब उपाधि है। तो यो यह जीव भ्रममे कल्पनाजालमे बसकर आधि व्याधि और उपाधिसे ग्रस्त रहता है।

काल्पनिक मौजसे शुद्ध आनन्दका विघात—भैया! शुद्ध आनन्द तो आत्माके

चैतन्यस्वरूपमे है, किन्तु विकल्प-जालोकी ऐसी पुरिया पूर ली कि जिससे सुलझ नही पाते है और अपना आनन्द समुद्र जो निज ज्ञायकस्वरूप है उसके झुकावमे नही आ पाते, तब ये मूर्ख जीव कर्मोदयके आधीन होकर परपरिणतिके सयोगमे सुखकी कल्पना करने लगते है। परपदार्थोके सम्पर्कमे सुखकी कल्पना भले ही मोही करे, किन्तु इसका तो काम पूरा हो ही नही पाता है। जो पुरुष जिस स्थितिमे है उस स्थितिमे चैन नही मानता है, क्योकि उससे बडी स्थितिपर दृष्टि लगा दी है। कोई हजारपति है उसकी दृष्टि लखपति पर है तो वर्तमानमे प्राप्त वैभवका भी आनन्द नही ले सकता है। यो धनी हो कोई तो दुखी है, निर्धन हो तो दुखी है। किसे सुख कहा जाय ? मोहियोने केवल कल्पनासे मौज मान रक्खा है।

विडम्बनाओंका संन्यास—यदि ससार भ्रमण करते हुए भी वास्तविक सुख मिलता होता तो बडे-बडे तीर्थकर चक्रवर्ती ऐसे महापुरुष इस वैभवको कभी न छोडते। ये मनुष्य इसी बातपर तो हैरान है कि सचित किया हुआ वैभव उनके साथ नही जाता। कोई पदार्थ इस जीवका बन जाता या मरनेपर साथ जाता तो कितना उपद्रव ससारमे मच जाता ? जब इस जीवनमे भी कोई वैभव साथी नही है इतनेपर तो इतनी विडम्बनाएँ है, यदि कुछ पैसा इस जीवके साथ जाता होता मरनेपर, तब तो कितना अन्याय और कितनी विडम्बना इस ससारमे बन जाती ? कजूस लोग तो बडे दुखी है, वे इसी कल्पनामे मरे जा रहे है कि यह वैभव मेरे साथ न जायगा। बडे-बडे महापुराण पुरुष इस वैभवको असार जानकर उससे विरक्त हुए थे। केवल एक ज्ञानमात्र निज स्वरूपका ही उन्होने अनुभवन किया था। यदि यह वैभव-कुछ भी सारभूत होता तो ये महापुरुष क्यो इसे त्याग देते ? धन वैभव समस्त परपदार्थ है, परपदार्थोमे दृष्टि जानेसे ही क्लेश होने लगता है क्योकि किसी भी परपदार्थको किसी भी रूप परिणमाना यह अपने आपके हाथकी बात नही है, पर मिथ्या श्रद्धामे इस जीवने यह माना कि जिस पदार्थको मैं जिस तरह राखूं उस प्रकार रख सकता हू किन्तु बात ऐसी है नही, हो ही नही सकती, तब क्लेश ही तो आयगा। इसी कारण तो ये महापुरुष इस वैभवको असार दुखका कारण जानकर सबको त्यागकर दिगम्बर साधु हुए।

विकट संकट और उनका विजय—कल्पनाजाल एक विकट संकट है। जिनके कोई दिलकी बीमारी, घबडाहट या हार्ट फेल होता है उसका मुख्य कारण परका ही चितन है। कोई विकल्पजाल बनाया, उसमे परेशान हुआ कि ये सब व्याधिया उत्पन्न हो जाती हैं। वीर पुरुषोने इन सब विकल्पजालोका परित्याग कर तपश्चरण धारण किया। जो पुरुषार्थ कायर पुरुषोसे नही किया जाता वह अलौकिक पुरुषार्थ साधु सतोने किया। कोई साधु

आत्मध्यानमे मग्न है उस ही समय कोई सिंह या अन्य कोई हिंसक जानवर आ जाय और उनके शरीरको खाने लगे तो वे विकल्प नही करते है। वे तो जानते है कि ऐसे विकल्प मैने अनेक बार किए, जन्म मरण भी अनन्त बार भोगा, पर एक ज्ञानका अनुभव और ज्ञान की स्थिरतामे लगना यह काम अब तक नही किया। ज्ञानी पुरुष संसार शरीर और भोगोसे उदासीन रहा करते है, वे अपने आपको ही अपने ज्ञान और आनन्दका कारण मानते है। जो पुरुष यह जानते है कि ये सर्व समागम बाह्य तत्त्व है, मिट जाने वाले है ऐसा जो इन बाह्य समागमोको यथार्थरूपमे देखते है वे पुरुष दु.खी नही होते है। सर्व समागम मिट जाने वाले है, ये समागम सदा न रहेंगे, ये दु.खके कारण है। कोई चीज भिन्न है उसे अपना मानना यही दु:खका कारण है।

परमार्थ सम्पदा और विपदा—भैया! यह जीव स्वभावसे सुखी है। इस पर एक भी क्लेश नही है, पर जहाँ परपदार्थके प्रति विचार बनाया वहाँ क्लेश हो गया। ये पंचेन्द्रियके विषय भोग ये कदाचित् भी आनन्दके कारण नही हो सकते है। यो तो जैसे दाद और खाज जिसके होता है वह उसको ही खुजाता हुआ सोचता है कि सर्वोत्कृष्ट आनन्द तो यही है। इससे बढकर और आनन्द क्या होगा क्योकि उसके इतनी ही बुद्धि है पर भोग साधनोके बराबर विपत्ति ही और कुछ नही है। जो ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपको अपने ज्ञानमे बसाये हुए है वे निराकुल रहते है। कोई अपराध न करे तो आकुलता नही हो सकती है। जब कोई भी आकुलता होती है तो यह निर्णय करना चाहिए कि हमने ही अपराध किया है। यह जगत विपत्तियोसे घिरा है। वस्तु स्वरूपके विपरीत जो श्रद्धान रखे उसे चैन नही मिल सकती है। ज्ञाता द्रष्टा रहे तभी आनन्द है। प्रभुका स्वरूप ऐसा ही है इस कारण प्रभु आनन्दमग्न है। सारा विश्व तीन लोकके समस्त पदार्थ उनके ज्ञान मे आते है पर वे ज्ञाता द्रष्टा ही रहते है। वे जगत् साक्षी है इस कारण उनको रंच भी क्लेश नही होता।

संसारमें विपदाओंकी प्राकृतिक देन—देखो संसारमे हम और आप सब एक विपदा को मिटानेका यत्न करते है कि दूसरी विपदा आ जाती है अर्थात् कल्पनासे पदार्थके किसी भी परिणमनमे यह विपदा मानने लगता है। श्री राम भगवान कुछ बचपनमे लौकिक नाते से भले ही सुखी रहे है गृहस्थावस्थामे, पर उसके बाद देखो तो सारा जीवन क्लेश ही क्लेशमे गुजरा, किन्तु उनमे धैर्य था, विवेक था सो अंतिम स्थिति उनकी उत्तम रही और आत्मध्यानमग्न हुए, निर्वाणपद प्राप्त किया, पर सरसरी निगाहसे देखो तो राज्याभिषेक होनेको था, यहाँ तक तो खुशी थी, पर आदेश हुआ कि भरतको राज्य होगा। श्री रामने सज्जनता निभाई कि भरत राजा होगा, होना चाहिए, ठीक ही है किन्तु जब तक हम

रहेंगे घरमे तब तक भरतकी प्रतिष्ठा न बढ़ेगी, लोगोकी दृष्टि हम पर रहेगी, तो भरत राजा होकर भी कुछ राज्य सत्कार न पा सकेगा, सो उन्होने वन जाना स्वीकार किया।

विपदापर विपदा—श्री राम अब बनवासी बन गए। छोटी छोटी विपदाए तो उन्हे रोज-रोज आती होगी। भयानक वन, कोई साधन पास नही, चले जा रहे है। कितनी ही जगह तो मिट्टीके बर्तन बनाकर साक पत्र भाजीको जोड कर भोजन बनाया गया और किसी जगह बडे-बडे राजा लोग भी आकर उनका सत्कार करते भये। वनकी विपदाएँ उन्होने प्रसन्नतासे सहीं। लो थोडी ही देर बाद एक भयानक विपदा और आयी, सीताका हरण हुआ। कोई भी विपदा हो, लगातार बनी रहे तो वह विपदा सहन हो जाती है और कल्पनामे अब यह विपदा नही रही ऐसा मान कर लेते है। वियोगका दुःख रहा, पर जैसे ही कुछ पता चला कि सीता लंकामे है, तो इस वृत्तान्तको सुनकर कुछ विपत्तिमे हल्कापन अनुभव किया, लो अब युद्धकी तैयारी हो गयी। अब युद्धको चले, युद्ध होने लगा।

उत्तरोत्तर महत्ती विपदा—एक विपदा पूर्ण भी न हुई कि लो दूसरी विपदा सामने आयी। लक्ष्मणको रावणकी शक्ति लग गयी। लक्ष्मण बेहोश हो गया। उस समय रामने जो विलाप किया वह कविकी कल्पनामे बडा करुणाजनक था। एक भाई निष्कपट भावसे तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करता है, बडी भक्तिसे सहयोगी रहे और उसपर कोई विपदा आ जाय तो वह बहुत खलती है। किसी निष्कपट मित्रपर कोई विपदा आ जाय तो उसमे बहुत क्लेश अनुभूत होता है, क्योकि उस निष्कपट मित्रका आभार मानता है ना वह। जब लक्ष्मणके शक्ति लगी तो कितनी विपदा श्री रामने मानी होगी ? किसी प्रकार शक्ति दूर हो गयी तो अब पुन युद्धकी तैयारी हुई। युद्धमे कितने ही सहयोगियोपर विपदा आते देखकर कितने दुःखी वे रहे होगे।

विपदाकी सीमाके परे विपदका अन्त—लो युद्ध भी जीत गए, सीता भी घर ले आये, अब एक विपदा धोबिनके अपवादकी आई। यह कितनी कठिन विपदा लग गयी ? सीताको फिर किसी बहाने जगलमे छुडवा दिया। विपदापर विपदा आयी। लव कुश जन्मे, लव कुशसे युद्ध हुआ, सीताको फिर घर ले आए। लोकापवादकी बात मनमे खलती रही। यह जानते हुए भी कि सीता निर्दोष है, अग्निकुण्डमे गिरनेका आदेश दिया। जब अग्निकुण्ड मे सीता कूद रही थी उस समय राम कितने विपन्न रहे होगे, अनुमान कर लो। बादमे लक्ष्मण न रहे इस वियोगका सताप सहा, अनेक ऐसी घटनाएँ आती रही कि नई-नई विपदाएँ होती गयी। श्रीराम तब तृप्त हुए जब वे सकल विकल्प त्यागकर एक ब्रह्मके अनुभव मे रत हुए।

कल्पनोद्भत विपदायें व उनका विनाश—यह संसार विपदावोका घर है। विपदा

भी कुछ नही, केवल कल्पना है। सो सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करके उन कल्पनावोको मिटाएँ तो इसमे ही अपनेको शान्तिका मार्ग मिल सकता है। विपदा तो कल्पनाजालसे उद्भूत है। जो भी विपदा मानी जाती है, अनुभवी जाती है उसका प्रभाव तो जीवमे ही होता है। फिर विपदा बाहर कहाँ रही ? विपदा तो स्वरूपविरुद्ध कल्पना बनाना मात्र है। जो जैसा नहीं है, उसे वैसा समझना इसीमे सङ्कटका अनुभव है। अत: संसारके संकटोसे मुक्त होनेके लिये वस्तुस्वरूपका यथार्थ अवगम करना ही अमोघ उपाय है। इस ज्ञानार्जनके उपायसे समस्त संकटोको मेट ले।

दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थ मन्य जन. कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

मोहियोंकी एक जिज्ञासा—इससे पहिले श्लोकमे यह कहा गया था कि इस घटी यत्र की तरह परिवर्तनशील संसारमे ये विपत्तियाँ घटीकी तरह रीती भरी रहती है, अथवा यो कहो कि एक घटी तो रीत नहीं पाती है, दूसरी घटी रीतने लगती है। यो एक विपदाका तो अत हो नही पाता कि दूसरी विपदा सामने आ जाती है, ऐसा सबको अनुभव भी होगा। जब जनसमागममे है और परपदार्थोका कुछ आश्रय भी लिया जा रहा है तो ऐसी स्थितिमे यह बहुत कुछ अनुभव किया जा रहा होगा कि एक विपदा तो खतम नही हुई कि लो अब यह दूसरी विपदा आ गयी। किसी भी किस्मकी विपदा हो। सब अपने आपमे अपना अर्थ लगा सकते है। इस प्रसगको सुनकर यह शका हो सकती है कि जो निर्धन होगे उनके ही विपदा आया करती है। एक विपदा पूरी नही हुई कि दूसरी विपदा आ गयी। इसमे तो निर्धनता ही एक कारण है। इष्ट समागम जुटा न सके तो वहाँ विपदापर विपदा आती है, पर श्रीमतोको क्या क्या विपदा होगी ? ऐसी कोई आशंका करे तो मानो उसके उत्तरमे यह श्लोक कहा जा रहा है।

जीता जागता भ्रम—ये धन आदिक वैभव कठिनाईसे उपार्जन किए जाने योग्य है और प्राणोकी तरह इनकी रक्षा करे तो इनकी रक्षा होती है, तिसपर भी ये सब नश्वर है, किसी दिन अवश्य ही नष्ट होगे, बेकार होगे। ऐसे धन वैभवसे यदि कोई पुरुष अपनेको स्वस्थ मानता है तो वह ऐसा बावला है जैसे कि कोई ज्वर वाला पुरुष घी पीकर अपनेको स्वस्थ माने। ज्वरका और घीका परस्पर विरोध है। ज्वर वाला घी पीकर ज्वरमे फसता ही जायगा, तो कोई ज्वरवाला रोगी घी पीकर अपनेको स्वस्थ माने तो वह उसका बावलापन है, उसका तो थोडे ही समयमे प्राणात हो जायगा। ऐसे ही धन वैभवके संगके कारण अपनेको कोई स्वस्थ माने तो यह अत्यन्त विपरीत बात है।

जीवकी अस्वस्थता—भैया! पहिले तो स्वस्थ शब्दका ही अर्थ लगावो। स्वस्थका

अर्थ है स्वमे स्थित होना। जो धन वैभवसे अपनेको सुरक्षित मानता है उसकी दृष्टि निज पर है या परपर है, स्वपर है या अस्वपर है उसकी दृष्टि बाह्यमे है। अस्व कहो, पर कहो, बाह्य कहो एक ही अर्थ है। जो स्व न हो सो अस्व है। सो वह जीव अस्वस्थ है या स्वस्थ है जिसकी दृष्टि धन वैभवमे फसी है वह स्वमे स्थित है या परमे स्थित है ? वह तो अस्वस्थ है। हो तो कोई अस्वस्थ और माने अपनेको स्वस्थ तो यह उन्मत्त चेष्टा है। ज्वरवान पुरुष न अभी स्वस्थ है और न घृत खानेसे, पीनेसे स्वस्थ होगा, उल्टा दुखी ही होगा, इसी प्रकार यह अज्ञानी जीव एक तो स्वय ही स्वस्थ नही है, उसे आनन्दका साधन निज तत्त्व मिल नही पाया है जिससे वह निजमे स्थित हो सके। मिथ्यादृष्टि जीवको इस निज परम तत्त्वका परिचय नही है सो यह स्वय ही अज्ञानी होनेसे अस्वस्थ है और फिर धन वैभवका योग पाये, उसकी ओर दृष्टि लगे तो उस दृष्टिके कारण भी यह और अस्वस्थ बढ गया। जो अस्वस्थ है वह शान्त नही रह सकता। बाह्य पदार्थोकी ओर उपयोग लगे और वहाँ अनाकुलता बन जाय, यह कैसे हो सकता है ? उसे आकुलता है तब तो बाह्यकी ओर उसने बुद्धि भ्रमाई है। और बुद्धि भ्रमाई है तो इस स्थितिका रूपक आकुलता रूप ही होगा, अनाकुलता नही हो सकती है।

धन प्रसंगकी कठिनाइयाँ— जिस धन वैभवके कारण यह मोही जीव अपनेको स्वस्थ मानता है वह वैभव कैसा है ? प्रथम तो वह बडी कठिनाईसे उत्पन्न होता है, इस धनके चाहने वाले सभी है ना, ग्राहक है वे भी चाहते है कि मेरे पास धन आ जाय और दूकानदार चाहते है कि ग्राहकोसे निकलकर मेरे पास धन अधिक आ जाय, तो अब दूकानदार और ग्राहक दोनोमे जब होड मच जाती है, सभी अपनेको अधिक चाहते है तो ऐसी स्थितिमे फिर पैसेका उपार्जन कर लेना कितना कठिन हो जाता है अथवा अन्य प्रकारकी आजीविकासे भी जो धन कमाते है उनको कितना श्रम लगाना पडता है, कितना उपयोग और समय देना पडता है तब धनका संचय होता है। यह धन बडी कठिनतासे उपार्जित किया जाता है।

धनसुरक्षाकी कठिनाई—धनका उपार्जन भी हो जाय तो उसका संरक्षण करना बडा कठिन हो जाता है। आजके समयमे तो यह कष्ट और भी बढा हुआ है। धनका उपार्जन हो गया तो अब उस धनको कैसे संरक्षित रखे ? हर जगह शंकाएँ लगी है, स्पष्ट तिजोरीमे रखे तो शका, बैंकमे रखे तो शंका, कहाँ रखे, रख भी ले तो उसका उपयोग करना भी एक किसी कानूनमे एलाऊ नही हो रहा है। तब कैसे उसकी रक्षा की जाय ? तो रक्षा करना भी कठिन हो रहा है।

धनकी अन्तगति—धन कमा भी ले, और उसकी रक्षा कर भी ले तो आखिर धन

छूट ही तो जायगा। जिनके लिए धन छूट जायगा वे लोग तुम्हारी मदद कर देंगे क्या? मिथ्यात्वमे ही तो यह एक उपाय बन गया है कि मरे हुए आदमीकी श्राद्ध की जाती है। किसी पाडेको चारपाई चढा दो तो वह उसके बाप दादाको मिल जायगी, पाडेको गाय भैंस दे दो तो गाय भैंसका दूध उसके पास पहुंच जायगा। कैसी मान्यताये बसा दी गई है। इससे जिन्दा रहने वालोका मिथ्यात्व भी बढता जा रहा है। हम मरेगे तो हमारे लडके श्राद्ध करेगे, तो हमे बनी हुई रोटियाँ आसानीसे मिल जायेंगी। खूब कमा कमाकर रखे। आफतपर आफत हो रही है। अरे वह धन जिनके लिए छोडा जा रहा है वे न तो इस जीवनमे कुछ काम आयेगे और न मरनेपर ही कुछ काम आयेगे। मरनेपर श्राद्ध देगे इससे तो यही अच्छा है कि राजी खुशीसे जिन्दा रहते हुएमें पानी भी पिला दे। ऐसे मिथ्यात्वमे क्या क्या बाते बढती जाती है? ये धर्मके नामपर जो लोकमे पूज्य बने है, धर्मात्मा बने है, ठेकेदार बने है उनके भी इसमे स्वार्थ है। ऐसी प्रसिद्धि करनेमे पुत्रोका भी स्वार्थ है और भ्रममे पडा हुआ यह बडा बूढा आदमी भी स्वार्थसे ही इस परम्पराको बनाए है।

मिथ्यात्वग्रास—यह समस्त धन विनाशीक है, छूट जायगा। कुछ न रहेगा साथ, पर संचय करनेमे जितना उपयोग फंसाया, जितना समय लगाया, कितना अमूल्य समय था यह मनुष्य जीवनका। इन जीवनके क्षणोमे से स्वाध्यायके लिए, धर्मचर्चाके लिए, ज्ञानार्जन के लिए समय कुछ भी नही निकाल सकते और जो व्यर्थकी बाते है उनके लिए रात दिन जुटे रहते है। यह सब क्या है? मिथ्यात्व ग्रहसे ही तो डसे हुए है। ऐसा यह कठिन धन वैभव है जिसके कारण यह अपनेको स्वस्थ श्रेष्ठ और उत्तम मानता है। वास्तविक बात यह है कि धन वैभव न सुखका उत्पन्न करनेवाला है और न दु:खका उत्पन्न करने वाला है। ये सब सुख दु ख कल्पनाओसे उत्पन्न होते है। जिस प्रकारकी कल्पनाएँ यह जीव करता है उस ही प्रकारकी परिणति इस जीवकी हो जाती है। वास्तवमे सुखी तो वास्तविक त्यागी संत जन ही है, ऐसा त्याग उनके ही प्रकट होता है जो अपने स्वरूपको त्यागमय पहिचान रहे है। यह मेरा, मेरे सत्त्वके कारण मेरे ही रूप, यह मै स्वरूप, सबसे न्यारा हू, केवल चिन्मात्र हू, प्रकाशमय हू। इसका जीवन उस चित्प्रकाशकी वृत्तिसे होता है। इस जीवनको न पहिचान सके तो ऐसी विडम्बना बनती है कि अन्य पदार्थके संयोगसे, भोजन पानसे अपना जीवन माना जा रहा है।

आत्मजीवनकी स्वतंत्रता—इस आत्माका जीवन आत्माके गुणोकी वर्तनासे है। है यह आकाशवत् अमूर्त निर्लेप पदार्थ, उसकी वृत्तियाँ जो उत्पन्न होती है उनसे ही यह जीता रहता है। इसका जीवन अपने आपके परिणमनसे है। ज्ञानी पुरुष कहीं चिंतातुर नही हो सकता। अज्ञानी जन बडे-बडे ऐश्वर्य सम्पदामे भी पडे हुए हो तो भी चिंतातुर रहते है।

ज्ञानी जानता है कि यह मै तो पूरा केवल चिन्मात्र हूँ। इसका न कही कुछ बिगाड हो सकता है और न किसी दूसरेके द्वारा इसमे सुधार हो सकता है। यह तो जो है सो है, अपने आपके परिणमनसे ही इसका सुधार बिगाड है। ज्ञानीकी दृष्टि धन वैभव आदिकमे सुख दुःख माननेकी नही होती है। वे जानते है कि केवल उनकी तृष्णा ही दुःखको उत्पन्न करने वाली है। यह चिन्मात्र मूर्ति आत्मा स्वरसतः सुखको उत्पन्न करने वाला है।

स्वयका स्वयंमें कार्य और फल—भैया! जो परपदार्थ हैं वे अपना ही कुछ करेंगे या मेरा कुछ कर देगे। वस्तुस्वरूपपर दृष्टि दो, जितने भी अचेतन पदार्थ है वे निरन्तर रूप, रस, गध, स्पर्श गुणमे परिणमते रहते है, यही उनका काम है और यही उनका भोग है। इससे बाहर उनकी कुछ कला नही है, फिर उनसे इस आत्मामे कैसे सुख और कैसे दुःख आ सकेगा? ये वैभव सुख दुःखके जनक है, कल्पना ही सुख दुःखकी जनक है। न्यायग्रन्थोमे उदाहरण देते हुए एक जगह लिखा है कि कोई पुरुष कारागारमे पडा हुआ है जहाँ इतना गहरा अंधकार है कि सूईका भी प्रवेश नही हो सकता याने सूईके द्वारा भी भेदा नही जा सकता, ऐसे गहन अधकारमे पडा हुआ कामी पुरुष जिसे अपने हाथकी अगुली भी नही नजर आती, किन्तु उसे अपनी स्त्रीका रूप मुखाकार बिल्कुल स्पष्ट सामने झलकता है। कहाँ है कौन? पर उसके चित्तमे ऐसी ही वासना बनी हुई है कि कल्पनावश वह कुछ चिन्तन करता है अथवा विचार माफिक सुखको भोगता है अथवा कुछ कल्पना करके सुख दुःख पाता है।

सुखदुःखका कल्पनापर अवलम्बन—कोई पुरुष बडे आरामके कमरेमे बैठा हुआ है, सुहावने कोमल गद्दे तकिये पर पडा हुआ है, पखा भी चल रहा है और वातानुकूलित साधन भी मिल गये है, इतने पर भी वह चिन्तामग्न है। पोजीशन, धन, कितनी ही प्रकार की बाते उसके उपयोगमे पडी है। तृष्णाका तो कही अत ही नही है। तृष्णासे पीडित हुआ वह मनकी छलागे मार रहा है और उनका प्रतिकूल परिणमन देखकर व्यग्र हो रहा है। तो किसे सुख कहते और किसे दुःख कहते? ये सब कल्पनापर अवलम्बित है। यह धन तो दुःखका पात्र है जिसके उपार्जनमे दुःख है, जिसकी रक्षामे दुःख है, जिसके खर्च करनेमे दुःख है, सो यह धन तो इस जीवको कष्ट पहुँचानेके ही काममे आ रहा है। बाह्यपदार्थ सगमे है तो उनसे कुछ न कुछ ऐसी ही कल्पनाएँ जगेगी जो असाता उत्पन्न करेगी। कभी इच्छानुसार धनका संचय भी हो जाय तो तृष्णा और बढ जाती है।

मायामय रोग, वेदना व इलाज—अहो, भैया, यहाँ सभी इस ससारके जीव इस रोगके रोगी है। जब कुछ न था तब ऐसा सोचते थे कि इतना हो जाय फिर तो जीवन चैनसे निकलेगा, फिर कुछ नही करना है, जब उतना हो गया जितना सोचते थे तो अब

वे सब बातें विस्मृत हो गयी। अब आगेकी पुरिया पूरनेमें लग जाते है इतना और कैसे हो? इतने से तो गुजारा ही नही चलता है। जब इतना न था, इसका चौथाई भी न था तब कैसे गाड़ी चलती थी, पर चैन कहाँ है? लगे रहेगें, अंतमे छोड जायेगे। इस समय जो मिला है वह धर्मसेवनमे लगाया जाता तो अच्छा था। स्वप्नमे मिले हुए राज्यकी क्या कीमत? स्वप्नमे मिले हुए समागममे पोजीशन बढ रही हो तो उसकी क्या कीमत है? ऐसे ही इस अविवेकमे इस मोहनीदमें जो कुछ इन चर्मचक्षुवोसे दिख रहा है वह सब केवल स्वप्नवत् है, इन्द्रजाल है, मायारूप है, उसका मूल्य क्या? जैसे स्वप्नमे देखा हुआ सब कुछ वैभव केवल मायास्वरूप है, कल्पनाजन्य है इसी प्रकार यहाँ आँखोसे जगती हुई हालतमे भी जो कुछ निरखा जा रहा है वह सब मायास्वरूप है।

बिना सिर पैरकी विडम्बना—तृष्णाका आक्रमण बहुत बुरा आक्रमण है। ये मोही जन जिनमे आशा लगाये हुए है, इस संसारमे जो अज्ञानियोका समूह पडा हुआ है, देहातों मे, नगरोमे, शहरोमे विषय लिप्सामे पडे हुए अज्ञानी जनोका जो समूह पड़ा हुआ है उनमे नाम चाहा जा रहा है। किनमे नाम चाहा जा रहा है पहिले तो वहाँ ही पोल निरखो और फिर जो चाहा जा रहा है उसकी भी असारता देखो। नामका क्या अर्थ? स्वर १६ है, व्यञ्जन ३३ है, अक्षरोको कहीका कही रख दिया गया और उनको पढ लिया गया, सुन लिया गया तो इसमे तुम्हारा स्वरूप कहाँ आया? शब्द है, जिसका जो भी नाम है उस नामके शब्दोको थोडा उलट करके कहीका कही रख दिया, फिर तो उसपर इस तृष्णावी पुरुषका कुछ भी आकर्षण नही है। जो कल्पनामे, व्यवहारमे मान लिया गया है कि यह मै हू उन अक्षरोसे कितनी प्रीति है? कुछ नाम भी कर जायेगे और कुछ अक्षर भी कही लिख जायेगे तो उनसे इस मर जाने वालेका क्या सम्बध है। और जीवित अवस्थामे भी उस नामसे क्या सम्बध है? संसार अनादिनिधन है। इस मनुष्यभवकी प्राप्तिसे पहिले भी हम कुछ थे अब उसका पता नही है। हम क्या थे, कहाँ थे, कैसे थे उसका अब कुछ आभास नही है। यो ही कुछ समय बाद इस भवसे चले जानेपर यहाँका भी कुछ आभास न रहेगा। फिर किसलिए यह चौबीस घंटेका समय व्यर्थकी कल्पनावोमे ही गँवाया जा रहा है।

स्वस्थता और अस्वस्थता—ये अज्ञानी जीव धन वैभवसे अपनेको स्वस्थ मानते है वे ऐसे बावले है कि जैसे कोई ज्वर वाला घी पीकर अपनेको स्वस्थ अनुभव करे, वह तो विडम्बनाकी निशानी है। इस जीवकी विपदाका कोई रूपक भी है क्या, कि इसका नाम विपदा है। अरे कल्पनामे यह जीव अत्यन्त व्याकुल है। कुछ लोग ऐसे भी देखे जाते है कि जिनका मात्र एक पुत्र है और आगे किसी पुत्रकी उम्मीद नही है, स्त्री गुजर गयी है उसका

वह इकलौता बच्चा मर जाय तो भी कुछ विरले लोग ऐसे देखने और सुननेमे आए है कि उनको तब भी कुछ चिन्ता नही होती। वे सब जानते है कि यह सब मायारूप है, इसमे मेरा तो कुछ भी न था। अज्ञानी जीव कल्पना करके किसी भी बातमे विपदा समझ बैठते है और वे दु:खी होते है किन्तु ज्ञानी सत विवेकबलसे स्वस्थ बने रहते है।

विपत्तिमात्मनो मूढ परेषामिव नेक्षते।
दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥१४॥

आत्मविपत्तिके अदर्शनका कारण—पूर्व श्लोकमे यह बताया गया था कि सम्पदका समागम भी मनुष्यको महाकष्ट उत्पन्न करता है, ऐसी बात सुनकर यह जिज्ञासा होनी प्राकृतिक है कि सम्पदाका समागम आपत्तिका ही करनेवाला है तो फिर लोग इसे छोड क्यो नही देते है? क्यो रात दिन सम्पदाके समागमके चक्करमे ही यत्र तत्र घूमा करते है? इसकी जिज्ञासाका समाधान इस श्लोकमे है। यह मूर्ख पुरुष दूसरोकी विपत्तिको तो देख लेता है, जान लेता है कि यह विपदा है, यह मनुष्य व्यर्थ ही झझटमे पडा है, किन्तु अपने आपपर भी वही विपदा है वह विपदा नही मालूम होती है क्योकि इस प्रकारका राग है मोह है कि अपने आपको विषयोके साधन रुचिकर और इष्ट मालूम होते हैं, दूसरेके प्रति यह भाव जल्दी पहुच जाता है कि लोग क्यो व्यर्थमे कष्ट भोग रहे हैं? क्यो विपदामे है?

आत्मविपत्तिके एक अदर्शकका दृष्टांत—अपनी भूल समझमे न आये, इसके लिए यह दृष्टान्त दिया गया है कि कोई बन जल रहा है जिसमे बहुत मृग रहते है, उस जलते हुए बनके बीचमे कोई पुरुष फस गया तो वह झट किसी पेडके ऊपर चढ जाता है, पर चढा हुआ वह पुरुष एक ओर दृष्टि पसारकर देख रहा है कि वह देखो हिरण मर गया, वह देखो खरगोश तडफकर जल रहा है, चारो ओर जानवरोकी विपदाको देख रहा है पर उस मूढ पुरुषके ख्यालमे यह नही है कि जो दशा इन जानवरोकी हो रही है, कुछ ही समय बाद यही दशा हमारी होनेवाली है, यह चारो तरफकी लगी हुई आग हमे भी भस्म कर देगी और मेरा भी कुछ पता न रहेगा। वह पुरुष वृक्षके ऊपर बैठा हुआ दूसरोकी विपदा को तो देख रहा है पर अपनी विपदाको नही नजरमे ला पाता है। उसके तो यह ध्यानमे है कि मैं ऐसे ऊँचे वृक्षपर बैठा हू, यह आग नीचे लगी है, बाहर लगी है, यह अग्नि मेरा क्या बिगाड कर सकती है? उसे यह पता नही होता कि जिस प्रकार ये जगलके जीव मेरे देखते हुए जल रहे है इसी प्रकार थोडी ही देरमे मैं भी भस्म हो जाऊँगा।

आत्मविपत्तिके अदर्शककी परिस्थिति—दह्यमान वनमे वृक्षपर चढे हुए जनकी भाति यह अज्ञानी पुरुष धन वैभवसे अन्य मनुष्योपर आयी हुई विपदाको तो स्मरण कर लेता है कि देखो उसका माल पकडा गया, उसका माल जप्त हो गया, यह मरनेवाला है, यह मर

गया, किसीपर कुछ बिपदा आयी, इस तरह औरोकी विपदाको तो निरखता रहता है, परतु अपने धन वैभवके उपार्जनमे जो विपदा सह रहा है उसे विपदा नही मालूम करता है। धन संचयमे रच भी विश्राम नही ले पाता है। हो रही है बहुतसी विपदाएँ और विडम्बनाएँ, पर अपने आपके लिए कुछ विडम्बना नही दिखती है। मोही जीवको कैसे हटे यह परिग्रह लालच तृष्णासे ? इसे तो यह दोष भी नही मालूम होता है कि मै कुछ अपराध कर रहा हू।

अज्ञानीको स्वकीय अपराधका अपरिचय—ज्ञानी संत जानता है कि मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्द है, ज्ञान और आनन्दकी विशुद्ध वर्तनाके अतिरिक्त अन्य जो कुछ प्रवृत्ति होती है, मनसे प्रवृत्ति हुई, वचनोसे हुई अथवा कायसे हुई तो ये सब प्रवृत्तिया अपराध है। अज्ञानीको ये प्रवृत्तियाँ अपराध नही मालूम देती, वह तो इन प्रवृत्तियोको करता हुआ अपना गुण समझता है। मुझमे ऐसी चतुराई है, ऐसी कला है कि मैं अल्प समयमे ही धन सचित कर लेता हू। ज्ञानी पुरुष जब कि यह समझता है कि एक ज्ञानस्वभावके आश्रयको छोडकर अन्य किन्ही भी पदार्थोका जो आश्रय लिया जाता है वह सब अपराध है उससे मुझे लाभ नही है, हानि ही है। कर्मबंध हो, आकुलता हो और कुछ सार बात भी नही है ऐसा यह ज्ञानी पुरुष जानता है। न तो अज्ञानीको धनसचयमे होने वाली विपदाका विपत्तिरूप अनुभव होता है और न जो धनोपार्जन होता है उसमे भी जो अन्य विपदाएँ आती है उनका ही स्मरण हो पाता है।

मोहीके विवेकका अभाव—विवेक यह बताता है कि धन आदिकके कारण यदि कोई विपदा आती देखे तो उसे धनको भी छोड देना चाहिए। फंसनेपर लोग ऐसा करते भी तो है। कोई कानूनविरुद्ध चीज पकड ली जाय, जैसे कि मानो आजकल शुद्ध स्वर्ण कुछ तोलोसे ज्यादा नही रख सकते है और रखा हुआ हो तो उस सोनेका भी परित्याग कर देते है, जाच करने वालेकी जेबमे ही डाल देते है कि ले जावो यह तुम्हारा है। कितनी जल्दी धन विपदाके समय छोड देते है, किन्तु वह उनका छोडता नही है। उस समयकी सिरपर आयी हुई विपदासे बचनेका कदम है। चित्तमे तो यह भरा है कि इससे कई गुणा और खरीदकर यह घाटा पूरा करना पडेगा। धन वैभवके कारण भी अनेक विपदा आती है। कुछ बडे लोग अथवा उनके संतान तो कभी-कभी इस धनके कारण ही प्राण गवा देते है। ऐसे होते भी हैं कितने ही अनर्थ जिन्हे बहुतसे लोग जानते है। ये डाकू लोग धन भी हर ले जाये और जानसे भी मारकर जाएँ क्योकि उनके मनमे यह शका है कि धन तो लिए जा रहे है, कदाचित् इसने पकडवा दिया तो हम लोग मारे जायेगे, इससे जान भी ले लेते है। आजकल किसीकी जान ले लेना एक खेलसा बन गया है। क्षुद्र लोग तो कुछ पैसोके हिसाब पर ही दूसरोकी जान ले डालते है। इस धनके कारण कितनी विपदा आती है, कितना ही

टैक्स देना, कितना ही अधिकारियोको मनानेमे खर्च करना, कितना श्रम, कितनी विपदाएँ ये सब धन आदिक वैभवके पीछे ही तो होती है।

ज्ञानीका परिवर्तन---कल्याणार्थी गृहस्थकी चर्या इस प्रकार रहती है कि आवश्यकतानुसार धनका उपार्जन करना और अपने जीवनको धर्मपालनके लिए ही लगाना। ऐसा भाव बनाना चाहिये कि हम धनी बननेके लिए मनुष्य नही हुए है, किन्तु ज्ञानानन्द-निजपरमात्म प्रभुके दर्शनके लिए हम मनुष्य हुए है। ये बाहरी पोजीशन गुजारेकी बाते ये तो जिस किसी भी प्रकार हो सकती है, किन्तु ससारके संकटोसे मुक्तिका उपाय एक ही ढगसे है, और वह ढग इस मनुष्यजीवनमे बन पाता है, इस कारण ज्ञानी पुरुषका लक्ष्य तो धर्मपालनका रहता है, किन्तु अज्ञानी पुरषका लक्ष्य विषयसाधनोके सचय और विषयोके भोगनेमे ही रहता है। यद्यपि धन आदिकके कारण आयी हुई विपदा देखे तो धनकी आशा सर्वथा छोड देना चाहिए क्योकि आशा न करनेसे ही आने वाली विपदासे अपनी रक्षा हो सकती है। लेकिन यह धन वैभवकी आशा छोड नही पाता है। यही अज्ञान है और यही दु:खका जनक है।

अनर्थ आवश्यकतावोंकी वृद्धिमें बरबादी—यद्यपि वर्तमानमे श्रावककी गृहस्थावस्था है, दूकान करना होता है, आजीविका व्यापार करना पडता है, परन्तु ज्ञानीका तो इस सम्बधमे यह ध्यान रहता है कि यह वैभव साधारण श्रम करनेपर जितना आना हो आये, हममे तो वह कला है कि उसके अन्दर ही अपना गुजारा और निबटारा कर सकते है। अपनी आवश्यकताएँ बढाकर धनकी आयके लिए श्रम करना यह उचित नही है, किन्तु सहज ही जो धन आये उससे ही ढगसे विभाग करते गुजारा कर लेना चाहिए। अपनी आवश्यकताएँ बढाकर फिर उनकी पूर्तिके लिए धन सचय करना, श्रम करना, नटखट करना यह सज्जन पुरुष नही किया करते है। कितनी ही अनेक वाहियात बाते है, बीडी पीना, सनीमा देखना, पान खाते रहना और बाजारू चाट चटपटी आदि छोटी-छोटी चीजे खाना—ये सब व्यर्थकी बाते है, इन्हे न करे तो इस मनुष्यका क्या बिगडता है, बल्कि इनके करनेसे मनुष्य बिगडता है। बीडी पानेसे कलेजा जल जाता है और उससे कितने ही असाध्य रोगोका आवास हो जाता है, सनीमा देखनेसे दिलमे कुछ चालाकी ठगी दगाबाजी अथवा काम वासनाकी बाते इन सबकी शिक्षा मिल जाती है। लाभ कुछ नही देखा जाता है। इन व्यर्थ की बातोको न करे उसे कितना आराम मिले।

व्यामोहमें अविवेक और विनाश—भैया! धनसंचयकी तीव्र इच्छा न रहे, एक या दो टाइम खा पी लिया, तुष्ट हो गए, फिर फिक्र की कुछ बात भी है क्या? लेकिन तृष्णावश यह पुरुष अप्राप्त वस्तुकी आशा करके प्राप्त वस्तुका भी सुख नही लूट सकते

है । वे तो मद्यके नशेमे उन्मत्त हुए प्राणियोके समान अपने स्वरूपको भूल जाते है । अपने हितका मोहमे कुछ ध्यान नही रहता है । मत्त होनेमे बेचैनी पागलपन बढता है, शरीरबल जैसे क्षीण हो जाता है ऐसे ही परव्यामोहमे ज्ञानबल क्षीण हो जाता है । पागल पुरुष नशे मे उन्मत्त होकर अपने स्वरूपको भूल जाते है, अपने हितका ध्यान नही रख सकते है । ऐसे ही धनी पुरुष भी दूसरोकी सम्पदा, घर आदिकको विनष्ट होते हुए देखकर कभी विचार नही करते कि यह काल-अग्नि इस तरह मुझे भी न छोडेगी, अत. शीघ्र ही आत्महित कर लेना श्रेष्ठ है ।

गलतीको भी कला माननेका व्यामोह—इस जीवमे ज्ञान भी प्रकाशमान है और रागादिकके रंग भी चढे हुए है जिससे ज्ञानका तो उपयोग दूसरोके लिए करते है और कषायका उपयोग अपने लिए करते है । दूसरोकी रंच भी गल्ती ज्ञानमे आ जाती है और उसे वे पहाड बराबर मान लेते है । अपनी-अपनी गल्ती इन्हे मालूम ही नही होती है, ये तो निरन्तर अपनेको चतुर समझते है । कुछ भी कार्य करे कोई, ललाका कार्य करे अथवा किसी प्रकारका हठ करे तो उसमे ये अपनी चतुराई मानते है । मैं बहुत चतुर हू । खुद अपने मुँह मियामिट्ठू बनते है । अपनेको कलावान, विद्यावान, चतुर मान लेनेसे तो कार्य की सिद्धि न हो जायगी । अपनी तुच्छ बातोंपर चतुराई माननेमे यह जीव अपने आपको बडा विद्वान समझ रहा है । उपदेश देनेमे भी यह बडा कुशल हो जाता है । शास्त्र लेकर बाँचने बैठा या शास्त्र सभा करने बैठा तो राग द्वेष नही करने योग्य है और आत्मध्यान करने योग्य है—इस विषयका बडी कला और खूबीसे वर्णन कर लेता है पर खुद भी उस सब हितमयी वार्ता को कितना अपनेमे उतारता है सो उस ओर भावना ही नही है ।

अज्ञानीकी समझमे अपनी भूल भी फूल—भैया ! दूसरोकी विपत्ति तो बहुत शीघ्र पकडमे आ जाती है, किन्तु अपने आपकी बडी भूल भी समझमे नही आती । कभी किसी जीवपर क्रोध किया जा रहा है और उससे लडाईकी जा रही हो तो बीच-बिचौनिया करने वाला पुरुष मूढ जचता है इस क्रोधीको । इसे कुछ पता नही है कि मैं कितना सहनशील हू और यह दूसरा कितना दुष्ट व्यवहार करनेवाला है ? उसे क्रोध करते हुए भी अपनी चतुराई मालूम हो रही है, परन्तु दूसरे पुरुष जानते है, मजाक करते हैं कि न कुछ बातपर बिना प्रयोजनके यह मनुष्य कितना उल्टा चल रहा है, क्रोध कर रहा है । विषयकषायोकी रुचि होनेसे इस जीवपर बडी विपदा है । बाहरी पौद्गलिता विपदा मिलनेपर भी यह जीव कितना अपने मनमे विषयकषायोको पकडे हुए है, इन विषयोसे जुदा हो पा रहे है या नही, अपनेपर कुछ हमने काबू किया या नही, इस ओर दृष्टि नही देते है ये अज्ञानी पुरुष । वे तो प्रत्येक परिस्थितिमे अपनेको चतुर मानते है ।

विभाव विपदा--मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ--इन ६ जातियोके जो विभाव परिणाम है यह ही जीवपर वास्तविक विपदा है। जीवोपर विपदा कोई अन्य पदार्थ नही ढा सकते है। ये अपनी कल्पनामे अपने आपसे ही विपदा उत्पन्न कर रहे है। क्या है विपत्ति इस जीवपर ? मोह अज्ञान कामवासनाका भाव। क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायोके परिणमन ये सब है विपदा। इन सब विपदावोको विपदारूपसे अपनी नजरमे रखना है। इन सब विपदावोमे छूटनेका उपाय केवल भेदविज्ञान है। जितने भी अब तक साधु हुए है वे भेदविज्ञानके प्रतापसे हुए है, और जो अब तक जीव बधे पडे है व इस ससार मे रुलते चले जा रहे है वे इस भेदविज्ञानके अभावसे ऐसी दुर्गति पा रहे है। यथार्थ विपदा तो जीवपर मोहकी, भ्रमकी है। भ्रमी पुरुष अपनेको भ्रमी नही समझ सकता। यदि अपनी करतूतको भ्रमपूर्ण मान ले तो फिर भ्रम ही क्या रहा ? भ्रम वह कहलाता है जिसमे भ्रम भ्रम न मालूम होकर यथार्थ बात विदित होती है। भ्रमका ही नाम मोह है। लोग विशेष अनुरागको मोह कह देते है किन्तु विशेष अनुरागका नाम मोह नही है, भ्रमका नाम मोह है। रागके साथ-साथ जो एक भ्रम लगा हुआ है, यह मेरा है, यह मेरा हितकारी है, ऐसा जो भ्रम है उसका तो नाम मोह है और सुहावना जो लग रहा है उसका नाम राग है।

भ्रमकी चोट--रागसे भी बडी विपदा, बडी चोट मोहकी होती है। इस मोहमे यह जीव दूसरेकी विपदाको तो सकट मान लेता है अमुक बीमार है, यह मर सकता है, इसका मरण निकट आ गया है, ये लोग विपदाएँ पा सकते है। सबकी विपदावोको निरखता जायगा, सोचता जायगा किन्तु खुद भी इस विपदामे ग्रस्त है ऐसा ध्यान न कर सकेगा। इस भ्रमके कारण, बाह्य दृष्टिके कारण यह जीव सम्पदासे क्लेश पा रहा है और उस ही सम्पदामे यह अपनी मौज ढूँढ रहा है। ज्ञानी पुरुष न सम्पदामे हर्ष करता है और न विपदामे विषाद मानता है।

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम्।
वाञ्छता धनिनामिष्ट जीवितात्सुतरां धनम् ॥१५॥

लोभीके जीवनसे भी अधिक धनसे प्रेम--जिस वैभवके कारण मनुष्यपर सकट आते हैं उस वैभवके प्रति इस मनुष्यका प्रेम इतना अधिक है कि उसके सामने जीवनका भी उतना प्रेम नही करता है। इसके प्रमाणरूपमे एक बात यह रखी जा रही है जिससे यह प्रमाणित हो कि धनी पुरुषोको जीवनसे भी प्यारा धन है। बैंकर्स लोग ऐसा करते है ना कि बहुत रकम होनेपर ब्याजसे रकम दे दिया करते है। ब्याज कब आयगा, जब महीना ६ महीना वर्षभर व्यतीत होगा। किसीको २ हजार रुपया ब्याजपर दे दिया और उसका १० रुपया महीना ब्याज आता है तो एक वर्ष व्यतीत हो तो १२० रुपया आयगा। तो

व्याजसे आजीविका करने वाले पुरुष इसकी प्रतीक्षा करते है कि जल्दी १२ महीने व्यतीत हो जावें। समयके व्यतीत होनेकी ही बाट जोहते है तभी तो धन मिलेगा। अब देखो कि एक वर्ष व्यतीत हो जायगा तो क्या मिलेगा? व्याज धन और यहाँ क्या हो जायगा एक सालका मरण। जिसको ५० साल ही जीवित रहना है तो एक वर्ष व्यतीत हो जायगा तो अब ४९ वर्ष ही जियेगा।

जीवनसे भी अधिक धनसे प्रेम होनेका विवरण—भैया! समयका व्यतीत होना दो बातोंका कारण है—एक तो आयुके विनाशका कारण है और दूसरे धनप्राप्तिका कारण है। वर्ष भर व्यतीत हो गया इसके मायने यह है कि एक वर्षकी आयुका क्षय हो गया और तब व्याजकी प्राप्ति हुई। यो कालका व्यतीत होना, समयका गुजर जाना दो बातोंका कारण है--एक तो आयुके क्षयका कारण है और दूसरे धनकी वृद्धिका कारण है। जैसे ही काल गुजरता है तैसे ही तैसे जीवकी आयु कम होती जाती है और वैसे ही व्यापार आदिके साधनोंमे या व्याजके साधनोंसे धनकी बरबादी होती है। तो धनी लोग अथवा जो धनी अधिक बनना चाहते है वे लोग कालके व्यतीत होनेको अच्छा समझते है, तो इससे यह सिद्ध हुआ कि इन धनिक पुरुषोको धन जीवनसे भी अधिक प्यारा है। वर्षभरका समय गुजरनेपर धन तो जरूर मिल जायगा पर यहाँ उसकी आयु भी कम हो जायगी। ऐसे धनका जो लोभी पुरुष है अथवा धन जिसको प्यारा है और समय गुजरनेकी बाट जोहता है उसका अर्थ यह है कि उसे धन तो प्यारा हुआ, पर जीवन प्यारा नही हुआ।

लोभसंस्कार—अनादिकालसे इस जीवपर लोभका सस्कार छाया हुआ है। किया क्या इस जीवने? जिस पर्यायमे गया उस पर्यायके शरीरसे इसने प्रीति की, लोभ किया, उसे ही आत्मसर्वस्व माना। अनादिकालसे लोभ कषायके ही संस्कार लगे है इसके कारण यह जीव धनको अपने जीवनसे भी अधिक प्यारा समझता है। देखो ना समयके गुजरनेसे आयुका तो विनाश होता है और धनकी बढवारी होती है। ऐसी स्थितिमे जो पुरुष धनको चाहते है, कालके गुजरनेको चाहते है उसका अर्थ यह है कि उन्हे जीवनकी तो परवाह नही है और धनवृद्धिकी इच्छासे कालके गुजरनेको हितकारी मानते है। ऐसे ही अन्य कारण भी समझ लो जिससे यह सिद्ध है कि धन सम्पदाके इच्छुक पुरुष धन आदिकसे उत्पन्न हुई विपदाका कुछ भी विचार नही करते। लोभकषायमे यह ही होता है। लोभमे विचार होता है तो केवल धनसंचयका और धनसंरक्षणका। मैं आत्मा कैसे सुखी रहूं, शुद्ध आनन्द कैसे प्रकट हो, मेरा परमार्थ हित किस कर्तव्यमे है, ऐसी कुछ भी अपने ज्ञान विवेककी बात इसे नही रुचती है। कितनी ही विपदाएँ भोगता जाय पर जिसकी धुन लगी हुई है उसकी सिद्धि होनी चाहिए, इस टेकपर अटा है यह मोही। यह सब मोहका ही एक प्रमाद है।

धनविषयक जिज्ञासा व समाधान—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि धनको इतना बुरा क्यो कहा गया है ? धनके बिना पुण्य नही किया जा सकता, पात्रदान, देवपूजा, वैयावृत्य, गरीबोका उपकार ये सब धनके बिना कैसे सम्भव है ? तब धन पुण्योदयका कारण हुआ ना। इसे निद्य कैसे कहा ? वह धन तो प्रशंसाके योग्य है, जिस धनके कारण परोपकार किया जा सकता है। तब यह करना चाहिए कि खूब धन कमावो और अच्छे कार्यमे लगावो, पुण्य पैदा करो। धन सम्पदा वैभवको क्यो विपदा कहा जा रहा है, क्यो इतनी निन्दा की जा रही है ? इसके उत्तरमे संक्षेपत इतनी बात समझ लो कि ये दान पूजा जो किए जाते है वह धन कमानेके कारण जो पाप होता है, अन्याय होता है, अथवा पाप होते है उनका दोष कम करनेके लिए प्रायश्चित स्वरूप ये सब दान आदिक किए जाते है, और फिर कोई मै त्याग करूँगा, दान करूँगा इस ख्यालसे यदि धनका सचय करता है तो उसका केवल बकवाद मात्र है। जिसके त्यागकी बुद्धि है। वह संचय क्यो करना चाहता है ? सचय हो जाता है तो विवेकमे उस सचित धनको अच्छी जगह लगानेके लिए प्रेरणा करता है, पर कोई पुरुष जान-जानकर धन उपार्जित करे और यह ख्याल बनाये कि मैं अच्छी जगह लगानेके लिए धन कमा रहा हू तो यह धर्मकी परिपाटी नही है। ऐसा परिणाम निर्मल गृहस्थका नही होता है कि मैं दान करनेके लिए ही धन कमाऊँ। यदि ऐसा कोई सोचता भी है तो उसमे यश नामकी भी लिप्सा साथमे लगी होती है, फिर उसका त्याग नाम नही रहता है, इस ही बातको अब इस श्लोकमे कह रहे है।

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्त सञ्चिनोति य ।
स्वशरीर स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

धनार्जनका उपहास्य बनावटी ध्येय—जो धनहीन मनुष्य दान पूजा आदि कार्योके ध्येयसे अथवा पुण्य-प्राप्तिके ध्येयसे या पापोका नाश करूँगा इस ख्यालसे धनोपार्जन करता है—सेवा करे, खेती करे, व्यापार करे, इन कार्योसे धनको इकट्ठा करता है वह पुरुष मानो इस प्रकारका कार्य कर रहा है जैसे कोई पुरुष "मै नहाऊगा" यह ख्याल करके, यह आशा रखकर कीचड लपेटता है। मैं नहाऊगा सो कीचड लपेटना चाहिए ऐसा कौन सोचता है ? ससारके अधिकाश जीवोकी यह धारणा रहती है कि धनकी प्राप्तिके लिए यदि निन्द्यसे निन्द्य भी कार्य करने पडे तो भी उनको करके धनका संचय कर ले और उस धनसंचयसे, उस अन्याय कर लेनेमे जो पाप लगेगे उन पापोको धोनेके लिए या उसके बदलेमे धनका दान देकर देवपूजा करके गुरुभक्ति करके सेवा करके परोपकार करके पुण्य प्राप्त कर लेगे परन्तु ऐसा ख्याल करना ठीक नही है। इसका कारण यह है कि जो कुमार्गसे धनसचय ---- है वह तो अज्ञानी पुरुष है।

दृष्टान्त विवरण सहित अनाड़ीके अविवेकका प्रदर्शन—भैया ! जिसको कुछ भी विवेक जगा है वह कुमार्गोंसे धनका संचय न करेगा। जैसे कोई पुरुष मै नहा लूंगा, मै नहा लूंगा ऐसा अभिप्राय करके शरीरमे कीचड को लपेटता है तो उसे दुनियाके लोग विवेकी न कहेगे। कीचड लपेटे और नहाये तो उससे क्या लाभ है ? ऐसे ही पाप करके धन सचय करे और वह मनमे यह समझे कि मैं इस धनको दान, परोपकार, सेवा आदिक अच्छे कार्योंमे खर्च कर दूंगा और करे खोटे मार्गसे धनका संचय, तो वह तो अज्ञान अंधकारसे घिरा हुआ है, और वह जो अच्छे कार्योंमे लगानेकी बात सोच रहा है सो उसकी दृष्टिमे अच्छे कार्योंका ख्याल ही नही है। वहाँ भी केवल मानपोषण लोभ पुष्टि आदि ही लगे हुए है। कदाचित् भाग्यवश धन भी मिल जाय तो जो खोटे रास्तोसे कुमार्गोंसे छल करके, अन्याय करके, दगा देकर किसी भी प्रकार धनसंचय करता है तो उसका धन पाप कार्योंमे ही लग सकता है, अच्छे कार्योंमे लगनेकी अत्यन्त कम सम्भावना है। लोग भी प्रायः इस प्रकार देखते है कि जिनकी कमाई खोटी होती है, खोटी कमाईसे धनका संचय होता है तो वह वैसा पाप कार्योंमे लगकर खर्च हो जायगा। अथवा किन्ही झझटोसे किन्ही प्रकारोसे लुट पिटकर नष्ट हो जायगा, अच्छे कार्योंमे वह नही लग पायगा।

शुद्ध अर्जनसे धनकी अटूट वृद्धिकी अशक्यता—नीतिकार कहते है कि सज्जनोकी भी सम्पत्ति शुद्ध धनसे नही बढ पाती है। जैसे समुद्र स्वच्छ जलकी नदियोसे नही भरा जाता है, गदा पानी मटीला मैला पानीसे समुद्र भरा करता है। स्वच्छ निर्मल जलसे नदियोकी भरमार नही होती है। गंदले मलिन जलसे ही नदियाँ भरी होती है। और उन नदियोसे ही समुद्र भरा जाता है। यो ही समझिये कि सज्जन पुरुष भी हो उस तकके भी सम्पदा एकदम वढेगी तो शुद्ध मार्गसे न वढेगी। धनसंचयमे कुमार्गोंका आश्रय लेना ही पडता है। ठीक है। अध्यात्मदृष्टिसे तो आत्मतत्त्वकी दृष्टिको छोडकर कि किन्ही भी वाह्य पदार्थोंमे दृष्टि लगाये, उनकी आशा करे तो वे सब अनीतिके मार्ग है, कुमार्ग है लेकिन जिस पदमे सचयके बिना गुजारा नही हो सकता ऐसे गृहस्थकी अवस्थामे कोई और उपाय नही है। उसे धनका सचय अथवा उपार्जन करना ही पडता है। ठीक है, लेकिन इतना विवेक तो होना ही चाहिये कि लोकमे जो अनिहित मार्ग हैं, कुमार्ग हैं उनसे धन सचय न करे। विशुद्ध नीति मार्गसे ही धनका उपार्जन करे।

यथार्थ सचाईके बिना ऐहिक कठिन समस्या—आजके समयमे आजीविकाकी कठिन समस्या सामने है। लोग जैसे कि कहते है कि ब्लेक किए बिना, टैक्स चुराये बिना दो तरहकी कापियाँ लिखे बिना कोई धन कमा ही नही सकता है, वह सुखसे रोटी भी नही खा सकता है, उस पर टेक्सका अनुचित बोझ लद जाता है। इस सम्बन्धमे प्रथम तो बात यह है कि

यह व्यापारी ईमानदार है, सच्चा है यह प्रमाण नही है, इस कारण अनाप सनाप टैक्स लगा दिया जाता है। जिन पुरुषोके सम्बन्धमे यह निर्णय भली प्रकार हो जाता है और जिनकी सच्चाईके साथ सारे कागजात पाये जाते है तो कुछ वर्षोमें उसकी सच्चाईका ऐसा ढिंढोरा हो जाता है कि लोग उसे समझते है कि यहाँ सत्य बात होती है तो उसके व्यापार मे कमी नही आती है और न फिर अधिकारी उसे सताते है। लेकिन जब अधकुचरे ढंगसे कुछ सच्चाईका काम करे कुछ संदेह है सो कभी-कभी कुछ डिग जाये सो ऐसे डगमग पगसे जो सच्चाई की व्यवस्था की जाती है उससे पूरा नही पडता है। फिर दूसरे नम्बरपर यह बात है कि मानो लिखा पढीमे और ढंगमे कुछसे कुछ करना पडता है तो कमसे कम अंतरग मे तो सच्चाई रखे। जैसे जिस वस्तुपर जितना लाभ लेना है उसपर उतना ही लाभ रखें। यह मनमे भावना न करें कि मै किसीका नीतिसीमासे भी अधिक धन ले लूँ।

व्यापारिक सच्चाईका आधुनिक एक उदाहरण—जो सर्वथा सत्यव्यवहार करते है व जो निर्णयमे सत्य व्यवहार करते है, बहुत जगह मिलेंगे इस तरहके मनुष्य। पहिली प्रकार का एक मनुष्य मुजफ्फरनगरमे जाना गया था। सलेखचद स्टेशनरीकी दूकान करनेवाले जब सेल टैक्सके सिलसिलेमे वकीलके साथ अदालतमे पहुँचे तो जज पूछता है वकीलसे कि दूकान कितती बडी है? तो वकील थे राजभूषण, जो अब भी है। बोले कि तीन चार फुट चौडी और ५–६ फुट लम्बी है, सलेखचंद बोले कि साहब इसके पीछे एक हाल भी है। जज सुन-कर बडा हैरान हो गया, कही दूकानदारको ऐसा कहना चाहिए? फिर जज पूछता है कि रोज कितनेकी बिक्री होती है? तो वकील कहता है कि कभी २० रु० की, कभी ३० रु० की और कभी ५० रु० की। जब जजने सलेखचदकी ओर देखा तो सलेखचद कहते है–हाँ साहब कभी २० रु० की बिक्री होती है, कभी ३० की होती है, कभी ५० की होती है और कभी ५०० रु० तककी भी हो जाती है। और भी जजने एक दो प्रश्न किया। तो जज कहता है कि वकील साहब! तुम कितना ही भरमावो, पर यह धनी तो अपनी सच्चाई पर ही कायम है। धनीका ही वकील था। तो उस जजने उसी हिसाबसे टैक्स लगाया जो सलेखचंदकी बहीमे था और यह नोट कर दिया कि हमने ऐसा सत्य पुरुष अभी तक नही देखा।

लेनदेनके समयकी सच्चाईका एक आधुनिक उदाहरण—दूसरी बात यह है कि भले ही ग्राहकोसे कुछ भाव तावकी बात करे पर जब तय हो जाय और माल दिया जाने लगे तो ज्यादा दाम अगर आ रहे हो तो उसके दाम वापिस कर दे। ऐसे भी कई होते है, अभी भादोमे जो बाबूलाल हरपालपुरके आये थे उनके ऐसा नियम है। कोई कपडा दो रुपया गजका पडा हो और सवा दो रुपया गज देना हो तो भाव ताव करनेपर यदि २॥ रु०

गज ठहर गया तो देते समय २।। रु० गजके दाम रखकर फिर ४ आने गजके दाम वापिस कर देते है। ग्राहक कुछ कहता है तो वह कहते है कि हमारा नियम है हम इतनेसे ज्यादा नही ले सकते। यदि ग्राहकने कहा कि ठहराया तो इतनेका ही था ना, तो वह कहते कि सभी दूकानदार भाव ठहराते, हम न ठहरायें तो ग्राहक न आये, सो भाव ठहराना पडता है, पर हम अपने नियमसे ज्यादा नही ले सकते। तो दूसरे नम्बरकी यह भी सच्चाई है।

ज्ञानीका चिन्तन—जो अंतरंगमे केवल धनसचय करना, किसी भी प्रकार हो, अधिकसे अधिक दूसरोका धन आना ही आना चाहिए ऐसा परिणाम हो तो वहा सन्मार्ग तो अपनाया ही नही जा सकता। ज्ञानी सत तो यो विचारता है कि जो धन चाहते है वे धनकी अप्राप्तिमे दु.खी होते है। जो धनी है उन्हे तृप्ति नही होती है इस कारण दु खी है। सुखी तो केवल आकिञ्चन्य आत्मस्वरूपको अपनाने वाले योगी जन होते है। सम्पत्ति और विपत्ति ये दोनो ही ज्ञानी पुरुषोके लिए एक समान है। विपत्तिको भी वे औपाधिक चीज मानते है और क्लेशका कारण मानते है। इस धनको पुण्यका उत्पादक समझना भ्रम है। यदि यह धन पुण्यका उत्पादक होता तो बडे-बडे महाराज चक्री आदि क्यो इसका परित्याग कर देते ? विवश होकर धन कमाना पडता है तो विवेकी जन उस अपराधके प्रायश्चितमे अथवा उस अपराधसे निवृत्त होनेकी टोहमे ऐसा परिणाम रखते है जिससे दान और उपकारमे धन लगता रहता है।

आनन्दसमृद्धिका उपाय—हे आत्मन् ! यदि तुझे आनन्दकी इच्छा हो तो परपदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धिका परित्याग कर और शुद्ध ज्ञानानदस्वरूप निज तत्त्वका परिचय कर। शुद्ध आनन्द अनादि अनन्त स्वभाव आत्माके आश्रयसे ही प्रकट होता है। आनन्दमय आत्मतत्त्वको लखनेवाले उपयोगमे ऐसी पद्धति बनती है जिससे आनन्द ही प्रकट होता है, वहाँ क्लेशके अनुभवका अवकाश ही नही है। जो पुरुषार्थी जीव सत्य साहस करके निर्विकल्प ज्ञानप्रकाशकी आस्था रखते है उन्हीका जीवन सफल है। आनन्द आनन्दयय परमब्रह्मकी उपासनामे है। आनन्द वास्तविक समृद्धिमे है। समृद्धिसम्पन्नता होनेका नाम ही आनन्द है। परमार्थसमृद्धिसम्पन्नतामे निराकुलता होती ही है। यह सम्पन्नता त्यागमय स्वरसपरिपूर्ण आत्मतत्त्वके अवलम्बनसे प्रसिद्ध होती है।

आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् काम क सेवते सुधी. ।।१७।।

भोगके उद्यममें हैरानियां—ये विषयोके साधन प्रारम्भमे, मध्यमे, अंतमे सदा दु ख के ही कारण होते है, फिर भी मोही जीव दु खोको भोगते जाते है और उन भोगसाधनोसे ही रति करते रहते है। ये भोग आरम्भमे संताप उत्पन्न करते है। भोगोके साधन जुटानेके

लिए कितना उद्यम करना पडता है ? कमाई करे, रक्षा करे, चीजें जोडे, कितने क्लेश करते है, एक बढिया भोजन खानेके लिए २४ घटे पहिले से ही तैयारियाँ करते है और फल कितना है, उस भोजनका स्वाद कितनी देरको मिलता है, जितनी देर मुखमे कौर है। वह कौर गलेके नीचे चला गया, फिर उसका कुछ स्वाद नही। पेटमे पडे हुए भोजनका स्वाद कोई नही ले सकता है। और फिर उनके साधन जुटानेमे कितना श्रम करना पडता है ? आज बडे-बडे लोग हैरानीका अनुभव कर रहे है कि बडे विचित्र कानून बन रहे है, टैक्स लगा रहे है, मुनाफा नही रहा, पर उनकी ओर दृष्टि नही है जो ४०-४५ रुपया माह पर दिनभर जुटे रहते है। कैसे दृष्टि हो, दृष्टि तो विषयसाधनोके भोगनेकी है। ये भोगोके साधन आरम्भमे सताप उत्पन्न करके शरीर इन्द्रिय और मनको ये क्लेशके कारण होते हे। सेवा, वाणिज्य कितनी ही प्रकारके उद्यम करने पडते है तब भोगोके साधन मिल पाते है।

भोगसे अतृप्ति व समयकी बरबादी—जब ये भोग प्राप्त हो जाते है तब भोगते भी तृप्ति नही होती है। कोई सा भी भोग आज खूब भोग लो, कलसे विकल्प न करना, कोई कर सके ऐसा तो खूब भोग भोगो, पर ये भोग ऐसे बुरे है कि ज्यो भोगो त्यो अतृप्ति होती है। तृप्ति नही होती है। भोग भोगनेमे- भोग नही भोगे गये, यह भोगने वाला खुद भुग गया। भोगका क्या बिगडा ? वह पदार्थ तो जो था सो है। अथवा किसी भी प्रकारका उनमे परिणमन हो वे पुद्गलके विकार है उनका क्या बिगाडा ? बिगाडा तो इस भोगने वालेका। जीवन गया, समय गुजरा, मनुष्यभव खोया, जिस मनुष्यभवमे ज्ञानकी लौ लगायी जाती तो जरा जाननेका हिसाब लगावो, दस-दस अक्षर ही रोज सीखते तो साल भरमे मान लो ३॥ हजार अक्षर सीख लेते और समझकी उम्र कितनी निकल गयी, मान लो ४० वर्ष निकल गयी तो ४० वर्षमे कितने अक्षर सीखते इसका अदाज तो लगावो। बडे-बडे साधु सत अपनी बडी बुद्धि वैभवसे जो कुछ उन्होने पाया, सीखा, अनुभव किया उसका निचोड लिख गये है, पर उनके इस सारभूत उपदेशको सुनने, बाचने, देखने तककी भी हिम्मत नही चलती। क्या किया मनुष्य जन्म पाकर ?

भोगसे अतृप्तिकी वृद्धि—ये भोग जब भोगे जा रहे हो तो ये असतोषको ही उत्पन्न करते है। उनके भोगनेकी फिर बार-बार इच्छा हो जाती है। किसी देहातीपर आपको यदि क्रोध आ रहा हो उसके किसी असद्व्यवहारके कारण, तो उसको बरबाद करनेकी मनमे आती है ना, तो उसको बिलकुल बरबाद आप कर दें, उसका उपाय तो यह है कि कुछ बाजारकी बढिया मिठाई खिलादो, कुछ ऐसी कमाई लगा दो, कि जिसमे उसे १० पैसा मिलने लगे तो बस वह अपने जीवनको बरबाद कर डालेगा। उसे बरबाद ही करना है तो यह है उपाय। उसे चखा दो कोई भोग तो वह विषयसाधनोमे बरबाद हो जायगा। लोग

विषय भोगकर अपनी बडी चतुराई मानते है, मैने ऐसा भोगा, ऐसा खाया बहुत रसीली चीजे खानेवाले व्यक्ति अतमे बहुत बुरी तरहसे रोगी हो सकते है। और रूखा सूखा संतोष भर खाने वाले पुरुष कहो चंगे रह सकते है।

भोगमें व्यग्रता—भैया ! काहेका भोग भोगा, कौन सी चतुराई पा ली ? ये भोग असन्तोषको ही उत्पन्न करते है। भोग भोगते समय शान्ति नही रहती है। कोईसा भी भोग हो, वह शान्तिके साथ नही भोगा जाता है। चाहे खानेका भोग हो, चाहे सूंघनेका भोग हो, चाहे किसी रमणीक वस्तुको देखनेका भोग हो, चाहे कोई रागरागिनी भरे शब्दो के सुननेका भोग हो, चाहे कामवासनाका भोग हो, कोई भी भोग शान्तिके साथ नही भोगा जा सकता है। भोगते समय व्यग्रता और आकुलता नियमसे होती है। भोगनेका सकल्प बने तब व्यग्रता, भोग भोगो तब व्यग्रता और भोग भोगनेके बाद भी व्यग्रता। आदि से अंत तक उन भोगोके प्रसगमे क्लेश ही क्लेश होते है।

भोगसे अतृप्तिका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—भोग भोगनेसे तृप्ति नही होती है। जैसे अग्नि कभी ईंधनको खा खाकर तृप्त नही हो सकती है, जितना ईंधन बढे उतना ही आगकी ज्वाला बढेगी, ऐसे ही इन इन्द्रियके विषयोके भोगोसे भी कभी तृप्ति नही होती। ज्यो ज्यो विषय मिले त्यो त्यो अतृप्ति होती है। संसारमे सब जीव एकसे दुःखी है, गरीब और अमीर दोनो एकसे दुःखी है। उनके दुःखकी जातिमे थोडा अन्तर है, पर दुःखका काम क्या है ? विह्वल बना देना। सो यह बात गरीब और अमीर दोनोमे एक समान होती है। गरीब भूखके मारे तडफ कर विह्वल होता है तो अमीर लोग मानसिक वेदनावोमे, ईर्ष्या तृष्णाकी ज्वालावोमे जलकर दुःखी रहते है। बल्कि गरीबके दुःखसे अमीरके दुःख बडे है। गरीब हार्ट फेल होनेसे मर जाये ऐसे कम उदाहरण मिलते है और हार्ट फेल होकर मर जाने वाले धनिकोके उदाहरण अधिक मिलते है।

देवोके भी भोगसे तृप्तिका अभाव—कहाँ है सुख, सब एक तरहके दुःख है। मनुष्योकी बात तो दूर जाने दो, देवता लोग जिनको भूख प्यासका सकट नही, जिन्हे खेती दुकान आदिका आरम्भ नही करना पडता है, मनमाने शृङ्गार, वस्त्र, आभूषण उन्हे मिले हुए है। जो चाहे वह वस्तु उनको तुरन्त हाजिर है, फिर भी वे दूसरोकी ऋद्धियाँ देखकर, सम्पदा देखकर, चला वैभव देखकर दुःखी होते हैं। कोई हुकुम देकर दुःखी होता है तो कोई हुकुम मानकर दुःखी होता है। दुःखी दोनो समान है। उन देवोमे जो देव हुकुम दिया करते है वे हुकुम देकर दुःखी रहते है और हुकुम मानने वाला भी अपनी कल्पनासे दुःखी रहा करता है। ये भोग भोगते समय अतृप्ति उत्पन्न करते है।

भोगवियोगमें विक्षोभ—भोग भोग भी लिये जाये, पर जब इनका अंत होता है तो उस समय यह छोडना नही चाहता भोगोको और भोग छूटे जा ही रहे है। यह खुद मरता

है तो साराका सारा एकदम छूट रहा है। यह छोडना नही चाहता। कोई क्या एक दमडी भी साथ ले जा सकता है, कहाँ ले जाता है? मनुष्य कमीज पहिने मर गया तो कमीज यही रह गयी जीव चला जाता है। कोई गद्दा तक्कीपर पडा हुआ मर गया तो सब गद्दा तवकी यही धरे रह जाते है, जीव यो ही चला गया। सब चीजें यो ही छूट जाती है। देखनेमे सब आता है, पर इस मोही जीव को इन भोगोके छोडनेका साहस नही होता है। ज्ञानी पुरुष ही यह साहस कर सकता है कि सब कुछ जाता है तो जावो, ये मुझसे गये हुए तो पहिले ही थे। पहिले मै इनसे मिला ही कहाँ था? आदि, मध्य, अत तीनो ही अवस्थावो से किसी एक अवस्थामे ही अगर भोगोसे सुख मिलता होता तो चलो तब भी भोगोको अच्छा मान लिया जाय पर यहाँ तो सर्वत्र क्लेश ही क्लेश है सुखका तो नाम ही नही है। आरम्भमे क्लेश, खेती करना दुकान करना शरीरका श्रम करना इन्द्रिय और मनका कष्ट सहना वहाँ भी क्लेश ही है।

भोगसे तृष्णाका प्रसार—जब भोग भोगे जाते है, इष्ट भोगोकी प्राप्ति होती है तो यह तृष्णा सर्पिणीकी तरह चचल होकर इस भोक्ताको अशान्त बनाए रहती है। जैसे-जैसे भोग भोगे जाते है यह तृष्णा वैसे ही वैसे बढती जाती है, तृप्ति नही होती है। कदाचित् कोई सोचे कि इस इष्टके भोगनेसे तृष्णा शान्त हो जायगी, तृष्णा शान्त होनेसे मै सतुष्ट हो जाऊगा सो यह सम्भव नही है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि इस समय विषयोको भोगा, वेदना, पीडा, कषाय शान्त हो जायगी, फिर आगे उपद्रव न रहेगा उसका सोचना झूठ है। अरे इसी समय भोगोसे विरक्त हो तो शान्तिका मार्ग निकालोगे अन्यथा नही। ये भोग आखिर छूट ही तो जाते है, फिर भी इन भोगोसे तृप्ति नही मानी जा पाती, संतोष नही हो पाता। आगमे कितना ही काठ डालो तृण डालो, पर वह तृप्त नही हो सकती। कदाचित् अग्नि तृप्त हो जाय, पर यह मोही प्राणी भोगोसे कभी तृप्त नही हो सकता। सैकडो नदिया मिल जाये तो भी समुद्र तृप्त नहीं होता, बल्कि वह बडा होता जायगा। समुद्रकी ओरसे यह बात नही आ सकती कि हम खूब भर चुके है, अब मुझे नदियोकी आवश्यकता नही है। समुद्र नदियोंमे तृप्त नही होता है। कदाचित् समुद्र भी तृप्त हो जाय लेकिन यह मनुष्य भोगोसे तो कभी भी तृप्त नही हो सकता।

विवेकी जनोंकी भोगोंसे उपेक्षा—जो मनुष्य मूढ है, हित अहितका जिनके विवेक नही है वे भोगोके भोगनेके समय भोगोको सुखकारी मानते है और भोगोमे ही प्रीति बढाते है लेकिन जो निर्मल चित्त है, विवेकी है, परीक्षक है वे इन क्लेशकारी विनाशीक भोगोकी ओर नही भागते किन्तु आत्महितकारी रत्नत्रय मार्गकी ओर ही प्रगति करते है। कोई यहाँ प्रश्न करने लगे कि बडे-बडे विद्वान बुद्धिमान भी तो विषयोको भोगते हुए देखे जाते है।

यहाँ विषय शब्दसे सभी इन्द्रियोका विषय होना है । भोजन भी आ गया, सुगंधित चीजे भी आ गयी, रागरागिनी सुनना, सभी विषयोकी बात है । कोई जिज्ञासा करे कि बडे-बडे विद्वान लोग भी भोगोको भोगते रहे । पुराणोमे भी भोगोके भोगनेकी कथा सुनी जाती है, फिर तुम्हारा यह उपदेश कैसे संगत होगा ? ठीक है लिखा है पुराणोंमे । तो भी भोगोका तजना शूरोका काम है, आखिर उन महापुरुषोमे भी अनेकोने आखिर भोगोको तज भी तो दिया है । और जब वे भोग भी रहे थे तो वे विवेकी सम्यग्दृष्टि सत पुरुष उस कालमे यद्यपि गृहस्थावस्थामे चारित्रमोहनीयके उदयवश भोगोको छोडनेमे असमर्थ रहे लेकिन तव भी उनको अतरङ्गसे राग न था । जिनको सम्यग्ज्ञान हो गया है, भ्रम नष्ट हो गया है उनको फिर भ्रान्ति नही होती ।

ज्ञानीके भोगसे विरक्ति—अज्ञानी पुरुष ही इन भोगोको हितकारी समझते है और आसक्तिसे सेवते है । ज्ञानी पुरुष भोगोको विपदा मानते है, भोगना पडता है भोग, फिर भी अन्तरमे यह चाह रहती है कि कब इनसे निपट जाये, छुट्टी मिले । जैसे कैदी जेलखानेमे चक्की पीसता है, किन्तु उसको चक्की पीसनेमे अनुराग है क्या ? रंच भी अनुराग नही है । जैसे घरमे महिलाएँ चक्की पीसनेके लिए जगती है और गाकर चक्की पीसती है तो उनको चक्की पीसनेमे अनुराग है पर कैदीको रच भी अनुराग नही है । उसे तो चक्की पीसनी पडती है । वह तो जानता है कि यह एक आपदा है, इससे मुझे कब छुट्टी मिले । इसी प्रकार ये भोग विषय चक्की पीसनेकी तरह है । यह जीव इस समय कैदी हुआ है, शरीर और कर्मके बन्धनमे पडा है । वह जानता है कि ये आपदामय भोग मुझे भोगने पड रहे है, किन्तु इनसे छुटकारा कब मिले, कैसे मिले, इस यत्नमे भी वह बना रहता है ।

विवेकी और अविवेकीकी दृष्टिका मुख—भैया ! विवेकी और अविवेकीमे बडा अन्तर है । दालमे कभी नमक ज्यादा पड जाय तो लोग क्या कहते है कि दाल खारी है । अरे यह तो बतलावो कि दाल खारी है कि नमक खारी है । जरा सी दृष्टिके फेरमे कितने अर्थका अन्तर हो गया है । समझदार जानते है कि इसमे जो खारापन है वह नमकका है । कही मूंग, उडद आदि नमकीन नही होते है । ऐसे ही यह ज्ञानी जानता है कि ये जितने रागद्वेष विषय है ये सब कल्पनाके सुख है, ये मेरे रस नही है, मेरे स्वाद नही है । ये कर्मोदयजन्य विभाव है । इनमे वह शक्ति नही होती है ।

भोगके त्यागकी भावनाका परिणाम—भैया ! पुराणोमे जो चरित्र आए हैं भोग भोगनेके, उनमे अतमे त्यागकी भी तो कहानी है । उससे यह शिक्षा लेनो चाहिए कि ऐसे बडे भोग भोगने वाले भी इन भोगोको छोडकर शान्त हो सके है । जो विशिष्ट विवेकी पुरुष होते है वे आरम्भसे ही विषयोको बिना भोगे ही जीर्ण त्रणके समान असार जानकर छोड देते है । जैसे कपडेमे कोई जीर्ण तृण लगा आया हो, त्यागियोके पास आप बैठे हो और

आपके कोटमे कोई तिनका आ गया हो, चलते हुए रास्तेमे आपको अपने कोट पर पडा हुआ तिनका दिख जाय तो आप उसे कैसा बेरहमीसे बेकार जानकर फेक देते है। तो जैसे जीर्ण तृणको इस तरह लोग फेंक दिया करते है ऐसे ही अनेक विवेकियोने इस वैभवको भी जीर्ण तृणके समान जानकर शीघ्र ही अलग किया है। जो भोग तज देते हैं और आनन्दमय अपने आत्मस्वरूपमे अपनेको निरखते है उनका ही जीवन सफल है। भोग भोगने वाले का जीवन तो निष्फल गया समझना चाहिए।

तीन प्रकारके त्यागमें जघन्य त्याग—इन भोगोको कोई पुरुष भोगकर अतमे लाचार होकर त्यागते है और कोई पुरुष वर्तमान भोगोको भी त्याग देते है और कोई ऐसे उत्कृष्ट होते है जो भोगनेसे पहिले ही उन्हे त्याग देते है। एक ऐसा कथानक चला आया है कि तीन मित्र थे। वे एक साथ स्वाध्याय करते थे, उनमे एक बूढा था, एक जवान था और एक बालक किशोर अवस्थाका था। तीनोमे यह सलाह हुई कि अपनमे से जो कोई विरक्त हो वह दूसरेको आग्रह करता हुआ जाये और उन्हे भी सम्बोधे। उनमे से जो वृद्ध महाराज थे उनके मनमे आया कि थोडा सा ही जीवन रहा है, अब विषय कषायोका त्याग कर धर्म सेना चाहिए। तो उस वृद्धने एक साल तक इस बातका यत्न किया, जो सम्पदा थी, बहिन को, बुवाको धर्मकाजमे, भाइयोमे, लडकोको जो कुछ बाँटना था उस बटवारेमे ६-७ महीना समय लगाया। बादमे फिर उनकी व्यवस्था देखी कि हाँ सब लोग ठीक काम करने लगे, तब वह विरक्त होकर चलता है।

मध्यम त्याग—वृद्ध विरक्त जा रहा है, रास्तेमे उस जवानकी दुकान मिलती थी। वह दुकान पर बैठा हुआ था, खुली दुकान चल रही थी। दुकानमे जब वह वृद्ध पहुँचा तो बोला कि हम तो विरक्त हो गए है इसलिए अब नगर छोडकर जा रहे है। तो वह युवक बोला कि हम भी साथ चलते है। सो दुकान छोडकर साथ चलने लगा तो वह वृद्ध कहता है कि अरे लडकोको बुला लो, इस दुकानका हिसाब किताब समझा दो, क्या लेना है क्या देना है तब चलो। तो युवक बोला कि जिस चीजको छोडना ही है तो उसे फिर क्या सभलवाये ? वह वृद्ध बोला कि हम सब संभलवाकर आये है। जवान बिना सभलवाए दुकान से उठकर चल दिया।

उत्कृष्ट त्याग—वृद्ध और युवक दोनो विरक्त होकर जा रहे है। वह २० वर्षका बालक कही बडे खेलमे शामिल हो रहा था। उस खेलते हुए बालकसे ये दोनो कहते है कि अब तो हम विरक्त हो गए है, जा रहे है। तो वह हाकी डडा जो कुछ था वही फेककर बोला कि हम भी चलते है। दोनो बोले कि अभी तुम्हारी कल परसो सगाई हुई है और १०-१५ दिन तुम्हारी शादीके रह गए है, तुम अभी रहो, फिर सोच समझकर आना।

तो लडका बोलता है कि जो चीज छोडने लायक है उस चीजमे पहिले हम फँसे और फिर छोडे तो इससे क्या लाभ है ? वह वहीसे चल दिया। तो ये तीन प्रकारके लोग है। सबसे बढिया कौन रहा ? बालक। उसके बाद जवान और तीसरा विरक्त तो हुआ मगर उन दोनोंमे सबसे हल्का कौन रहा ? बुड्ढा।

उत्तरोत्तर त्यागकी महत्ता—जो भी त्यागी जन हुए है उनमे से किसीने तो इन विषयभोगोको तृणके समान तजकर अपनी लक्ष्मी अर्थीजनोको दे दी, जो चाहने वाले थे या जहाँ लगाना चाहिए वहाँ लगाकर, देकर चल दिया। और कुछ पुरुष ऐसे हुए कि इस धन सम्पदाको पापरूप तथा दूसरोको भी न देनेके योग्य समझकर किसीको न दिया, यो ही छोड छोडकर चल दिया, अब जिसके बंटवारेमे जो होता है हो जायगा। कोई पुरुष घरमे रहता हुआ अचानक ही मर जाय, कुछ समझा भी न पाये तो उसकी गृहस्थीका क्या होता है ? जो होना है वह हो जाता है। कोई पुरुष ऐसे होते है कि उस वैभवको दु खदायी जानकर पहिलेसे ही ग्रहण नही करते है। इन तीनो प्रकारके त्यागी पुरुषोमे उत्तरोत्तरके त्यागी श्रेष्ठ है।

वज्रदन्त चक्रीके वैराग्यका निमित्त—एक कथानक प्रसिद्ध है—एक बार बज्रदन्त चक्रवर्ती सभामे बैठे हुए थे, एक माली एक कमलका फूल लाया। उस फूलके अन्दर मरा हुआ भवरा पडा हुआ था। ये कमलके फूल दिनमे तो फूले रहा करते है और फूले हुए वे कमल रात्रिको बद हो जाते है, फिर जब दिन होता है तो फिर वे फूल जाते है। कोई कमल बहुत दिनोका फूला हुआ हो, बूढा हो गया हो वह तो फिर बद नही होता, मगर जो दो एक दिनके ही फूले कमल हो वे रात्रिके समय बद हो जाते है। कोई भवरा शामसे पहिले उस कमलमे बैठ गया, उसकी सुगंधमे आसक्त होकर वह उड न सका, कमल बद हो गया। वही कमल माली तोडकर सुबह लाया और राजाको भेट किया। राजाने, चक्रवर्तीने उस कमलको थोडा हाथसे खोलकर देखा तो मरे हुए उस भवरेको देखा। उस भवरेको देखकर वज्रदतको वैराग्य जगा।

वज्रदन्त चक्रीका वैराग्य—अहो यह भंवरा घ्राण इन्द्रियके विषयमे लुब्ध होकर अपने प्राण गवा चुका है और-और भी चिंतन किया। मछली रसनाइन्द्रियके विषयमे लोभमे आकर प्राण गवां देती है, हाथी स्पर्शन इन्द्रियके लोभमे आकर प्राण गवा देता है, ये पतगे नेत्र इन्द्रियके विषयमे लुब्ध होकर अपने प्राण गवां देते है। हिरन, साप आदि संगीत-प्रिय पशु कर्णइन्द्रियके लोभमे आकर जान गवा देते है। ये जीव केवल एक-एक विषयके लोभी है, एक-एक विषयमे अपने प्राण नष्ट कर देते है, किन्तु यह मनुष्य पचेन्द्रियके विषयो का लोभी है। इसकी सभी इन्द्रियां प्रबल है। राग सुनने, रूप देखने, इत्र सुगंध सूंघने,

स्वादिष्ट भोजन करने आदिका बडा इच्छुक है, कामवासनाके साधन भी यह चाहता है, और इन इन्द्रियोके अतिरिक्त मनका विषय तो इसके बहुत प्रबल लगा हुआ है। मन और पचेन्द्रियके विषयोका लोभी यह मनुष्य है, इसका क्या ठिकाना है ? यो विचारते हुए वज्रदन्त चक्रवर्ती विरक्त हो गए।

वज्रदन्त चक्रीके पुत्रोंका वैराग्य—वज्रदत चक्रवर्तीके हजार पुत्र थे। बडे पुत्र कहा कि तुम इस राज्यको सभालो, हम तुम्हे तिलक करेंगे। बडा पुत्र बोला कि पिता ज आप मुझे क्यो राज्य सम्पदा दे रहे है ? आप बडे है आप ही इसे संभालें, हम तो आप सेवक है। वज्रदन्त बोले कि नही मुझे राज्य सम्पदासे मोह नही रहा। मैं आत्म कल्याण लिए वनमे जाऊगा, यह राज्य सम्पदा अब मुझे रुचिकर नही हो रही है, यह अनर्थ कर वाली है। तो पुत्र बोला कि जो सम्पदा अनर्थ करने वाली है फिर उसे आप मुझे क्यो रहे है ? आप छोड कर जायेगे तो हम भी आपके साथ जायेगे। मुझे इस राज्य सम्पदासे प्रयोजन नही है। दूसरे तीसरे सभी लडकोसे कहा। उन लडकोमे से किसी ने भी स्वीकार न किया और वे सबके सब वज्रदन्तके ही साथ दिगम्बरी दीक्षा लेनेके लिए उत्सुक हुए। वज्रदन्त ने बहुत समझाया देखो तुम्हारी छोटी उमर है, अभी तुमने भोगोको नही भोगा है, कुछ दिनको रह जावो, जगलमे बहुत कठिन दुःख होगे, ठडी गर्मी क्षुधा तृषा आदिकी अनेक वेदनाएं तुम कैसे सहोगे ? तो पुत्र बोलते है कि पिता जी तुम तो साधारण राजाके लडके हो और हम चक्रवर्तीके पुत्र है, आपसे भी अधिक साहस हम रख सकते है। चक्रवर्ती जो होता है वह चक्रवर्तीका लडका नही होता। सामान्य राजाका पुत्र हुआ करता है फिर वह अपने पौरुषसे चक्रवर्ती होता है। तो चक्रवर्तीके लडके यो कहते है और अपने पिता जी के साथ जगलको चल देते है। उस समय बालक पौत्रको तिलक करके चल दिये थे।

परिग्रहणकी कलुषता—भैया ! खूब भोग-भोगकर बादमे उनके विभाग बनाकर त्यागे, वह भी ठीक है। अनेक लोग तो ऐसे होते है कि मरते-मरते भी नही त्याग सकते। जुलाहा कपडे बुनता है तो वह भी पूरा नही बुन सकता है, अतमे दो चार अगुल छारी उसे छोडना पडता है किन्तु यह मोही मनुष्य अपने जीवनके पूरे क्षण पूरता ही रहता है। मरते जा रहा है और कहता जाता है कि मेरे लल्लाको दिखा दो। और कदाचित मर न रहा हो, कुछ रोग ऐसा आ गया हो कि दम न निकल रही हो, भीतर ही भीतर भिचा जा रहा है, बोल नही सकता ऐसी स्थितिमे कदाचित् बाहरसे बेटा बेटी आ जाये और उसी समय सयोगवश उसका दम निकल जाय क्योकि बहुत दिनोसे ऐसा दम घुटी हुई तो हो ही रही थी उसी समय बेटा बेटी आ जाये तो लोग कहते है कि इसका बेटा बेटीमे दिल था इसीलिए अभी तक नही मर रहा था। अगर ऐसी बात हो तो बेटा बेटी को कभी

न आना चाहिए ताकि उसकी जान न निकले, कभी न मरे। ठंडी आत्मा हो गयी तब यह मरा ऐसा अनेक लोग कहते है। चलो, वे भी अच्छे है जो भोगोको भोगकर भोगोकी असारता समझकर एक ज्ञाननिधि आत्मतत्त्वकी ओर लौ लगाते है।

वैराग्यका तात्कालिक प्रभाव—भोग चुकनेके बाद छोडने वालोसे भी बढकर वे त्यागी है जो पाये हुए समागममे भी राग नही रखते है और त्याग देते है। वे बाल ब्रह्मचारी तो विशेष प्रशंसाके पात्र है जो भोगोमे फंसते ही नही है। पहिलेसे ही त्याग देते है। वे जानते है कि ये भोग साधन आरम्भमे दुख दे, प्राप्त होनेपर दुख दे और अत समयमे दुख दे।

ज्ञानदृष्टि बिना कल्याणकी असंभावना—कोई भी जीव अपनी ज्ञानदृष्टि किए बिना शान्त सुखी नही हो सकता। ईट पत्थर सोना चादी इनमे कहाँ आनन्द भरा हुआ है जो वहाँसे आनन्द झरा करे। धन्य है वे पुरुष जिनका चित्त निर्मल है, जिन्होने अपने सहज ज्ञानस्वरूपका परिचय पाया है और ज्ञानानुभवका आनन्द ले करके बैठे है। गृहस्थ जनोमे भी अनेक महापुरुष ऐसे हुआ करते है जिन्हे कर्मोदयसे बरजोरी भोग भोगना पड रहा है परन्तु अतरगमे अत्यन्त उदासीन रहते है ऐसे भी महापुरुष होते है, वे अपने गृहस्थ जीवन मे भी आन्तरिक योग्य तपस्या बनाये हुए है। जीव, कर्म और कर्मफल--इन तीन तत्त्वोका जिनको यथार्थ विश्वास नही है वे भोगोका परित्याग कर ही नही सकते हे। वे पूजा करे तो धन भोग बढानेके खातिर करेगे, वे धर्मसाधन करे तो इसी लक्ष्यसे करेगे कि मेरे सम्पदा बढे, परिजन सुखी रहे, मौज बनी रहे, किन्तु यह समस्त मौज भी विपदा है।

समागमकी विपदा—भैया! यह सम्पदाका समागम भी क्लेश है। यह जीव तो सबसे न्यारा स्वतत्र एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, यह जब जन्मा तब क्या लाया और जब मरेगा तब क्या ले जायगा? इस जन्म मरणके बीचके ये कुछ दिन क्या मूल्य रखते है? जैसे ५०-६० वर्षकी उम्रमे किसी दिन कोई स्वप्न आ जाय तो वह स्वप्न एक मिनटका है। उस सारी जिन्दगीमे एक मिनटका दृश्य क्या मूल्य रखता है, काल्पनिक है। उस एक मिनटका तो हिसाब बन सकता है किन्तु अनन्तकालके सामने यह ५०-६० वर्षका जीवन कुछ भी हिसाबमे नही आता है। यह कर्मोका फल है, यह करतूत है इस करतूतका यह फल होता है। वर्तमानमे उसकी यह दशा है, उसका जो अशुद्ध परिणाम है, अन्यायका भाव है यही मुझपर विपदा है।

प्रत्येक परिस्थिति स्वयंकी करनीका परिणाम—सब न्याय इस अतरंग प्रभुके द्वारा हो रहा है। खोटा परिणाम किया तो तुरन्त संक्लेश हुआ, कर्मबध हुआ और उसके फलमे नियमसे दुर्गति भोगनी पडेगी। शुद्ध परिणाम यदि है तो चाहे कितनी भी विपदा आये,

विपदाका सत्कार करे, क्या विपदा है ? बाह्य पदार्थोंका परिणमन है। मुझमे बिगाड तब होगा जब मैं उन परिणमनोके कारण अपने आपकी हानि समझूँ। मैं ज्ञाता द्रष्टा ही रहूगा फिर मुझे कौनसी विपदा है दुनियामे, विपदा हम अपने आप ही अपने सिर मोल ले लिया करते है। विपदा किस वस्तुका नाम है ? किसी भी वस्तुका नाम विपदा नही है, कल्पना बनायी, लो विपदा बन गयी। आज ५० हजारका कोई धनी है और कदाचित् ५०० रु० की ही पूजी होती तो क्या ऐसा हो नही सकता था। अनेक पुरुष ऐसे गरीब पडे हुए है, क्या ऐसी स्थिति हो नही सकती थी।

समागमका उपकारमें उपयोग करनेका अनुरोध—भैया ! ऐसा निर्णय करे कि जो मिला है वह मेरे मौजके लिए नही मिला है। उसका यो सदुपयोग करे कि अपनी भूख प्यास ठड गर्मी मिटानेके लिए साधारण व्यय करके यह समझे कि जो कुछ आया है यह परोपकारके लिए आया है। दसलक्षणीमे बोलते है ना—खाया खोया बह गया, कल्पना के विषयोमे जितना धन लगाया है वह खाया खोया बह गया की तरह है और जिन उपायो से लोकमे ज्ञान बढे, धर्म बढे, शान्ति मिले, मोक्षमार्गका प्रकाश मिले उन उपायोमे धन का व्यय किया तो उसको कहा करते है, निज हाथ दीजे साथ लीजे। ये भोग शुरूमे भी, मध्यमे भी और अतमे भी केवल क्लेशको ही उत्पन्न करने वाले है। यह जानकर ज्ञानी पुरुष भोगोको हेय समझकर भोगते हुए भी नही भोगते हुए के समान रहते है।

विषयविषमें अनास्था—जब चारित्र मोहनीय कर्मका उदय निर्बल हो जाता है जिनके अर्थात् कर्मोकी शक्ति क्षीण हो जाती है तो वे भोगोका सर्वथा परित्याग कर सकते है। जो पहिलेसे यह भावना भायें कि ये भोग पराधीन है, दुखकारी भरे हुए है, पापके कारण है ऐसे भोगोका क्या आदर करना ? भोगते हुए भी भोगोका अनादर रहे तो वह भोगोसे मुक्त हो सकता है, परन्तु अज्ञानी जीव ऐसा नही कर सकते है, उनके तो व्यामोह लगा है। उन्होने तो अपने आनन्दस्वरूपका परिचय ही नही पाया है। ये विषय सुख वास्तव मे विष ही है, यह अनुभव अज्ञानियोको नही होता है। विषयभोग सम्बन्धी यह विष अत्यन्त भयकर है। जो प्राणी विषयविषका पान करते है वे इस विषके द्वारा भव भवमे विषय सुखकी कल्पनामे रहते हुए विषयोसे उत्पन्न हुए दुखको सहते रहते है। दुख सहते रहते है अज्ञानी, फिर भी कुछ चेत नही लाते है।

अन्तर्बाह्य सात्त्विक रहन—भैया ! मोहको महत्त्व न दें, अपने आपका यह निर्णय रखें कि धन वैभव प्रशस्त नही होता क्योकि धन होगा तो बिरले ही पुरुषके भले ही वहाँ भोग उपभोगकी आसक्ति न हो सके पर प्राय करके अज्ञानियोसे ही भरा हुआ यह जगत है इस कारण वे भोग और उपभोगोमे आसक्त हो जाते है। भोग उपभोगकी लीनता अशुभ

कर्मोका कारण है और भोग उपभोगको उत्पन्न करने वाला धन है, तो इस धनको कैसे प्रशस्त कहा जा सकता है ? हाँ कोई बिरले गृहस्थ जो बडे विवेकी है अपने आडम्बरको, रहन-सहनको सात्त्विक वृत्तिसे करते है, जिनका लक्ष्य यह है कि मेरे प्रयोजनमे इतना व्यय होगा, शेष सब परोपकारके लिए है ।

महापुरुषोंके जीवनका लक्ष्य--भैया ! हुए भी है कुछ ऐसे राजा जो स्वय खेती करके जो पाये उसमे अपना और रानीका गुजारा करते थे, और राज्यसे जो कर मिला, सम्पदा आयी उसका उपयोग केवल प्रजा जनोके लिए किया करते थे । उनका यह विश्वास था कि जो कुछ प्रजासे आया है वह मेरे भोगनेके लिए नही है वह प्रजाके लिए है । है कुछ बिरले सत ऐसे, पर प्राय करके मोही प्राणी है जगतके सो वे धनका दुरुपयोग ही करते है । अपने विषय साधनोमे मौजमे सग्रहमे धनसचयके कारण मैं बडा कहलाऊँगा, लोगोमे मेरी इज्जत रहेगी इन सब कल्पनावोके आधीन होकर आसक्त रहा करते है । ऐसे इन विपत्तिजनक भोगोसे कौन पुरुष सन्तोष प्राप्त कर सकेगा ? ज्ञानी पुरुष इन भोगोकी चाहमे नहीं फसता है ।

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि ।
स काय· संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ।।१८।।

शरीरका रूपक--जिस शरीरके सम्बधको पाकर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते है ऐसा यह शरीर है और यह निरन्तर विनाशकी ओर जाने वाला है । उस शरीरके लिए आशा, प्रार्थना करना व्यर्थकी बात है । इसका नाम काय है । जो संचित किया जाय उसका नाम काय है । यह शरीर अनेक स्कधोके मिलनेसे ऐसी शकलका बन जाता है । इसका नाम शरीर है, जो जीर्ण हो, शीर्ण हो, गले उसका नाम शरीर है । यदि व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे देखा जाय तो जवानी तक तो इसका नाम काय कहो और बुढापेमे इसका नाम शरीर कह लो । काय उसे कहते है जो बढे, शरीर उसे कहते है जो गले । यह काय पुद्गलका पिड है । यह शरीर जिन परमाणुवोसे बना है वे परमाणु भी स्वयं अपवित्र नही है । फिर उन स्कधोपर जब इस जीवने अपना कब्जा किया तब ये परमाणु स्कन्ध शरीर भी अपवित्र हो गए । जब तक जीव जन्म नही लेता, गर्भमे नही आता है तब तक ये शरीरके स्कध यत्र तत्र बिखरे पडे पवित्र है । जहाँ इस जीवने उन शरीर स्कंधोपर अपना कब्जा किया कि ये अपवित्र बन जाते है ।

शरीरकी अशुचिताके परिज्ञानका लाभ—लोग कहते है कि शरीर अपवित्र है, ठीक है, कहना चाहिए क्योकि शरीरके मोहमे आकर यह जीव अन्याय कर डालता है, खोटी वासनाएँ करता है जिन वासनावोमे कुछ तत्त्व नही है, केवल मनकी कल्पनाकी बात है,

आत्माकी बरबादी है सो ऐसी खोटी कल्पनाएँ जिसमे शरीरका आकर्षण है, आत्माको नकटी करनेके लिए हुआ करती है, इस कारण शरीरको अपवित्र बताना बहुत आवश्यक बात है। कहना ही चाहिए शरीरको अशुचि, किन्तु कुछ और प्रखर दृष्टिसे निरखो तो यह शरीर स्वय कहाँ गदा है ! यह एक पुद्गलका पिण्ड है। जो है सो है। इस हालतमे भी जो है सो है, और जब इस शरीरको जीवने ग्रहण न किया था उस समय तो ये स्कध बहुत ही पवित्र थे। हाड मास रुधिर रूप भी न थे लेकिन यह शरीर गदा किस कारण बन गया है ? यह केवल रागी मोही जीवके सम्बधका काम है। इस कारण शरीर गदा नही है, यह रागी द्वेषी मोही जीव गदा है। शरीर तो एक पुद्गल है। जैसे ये चौकी काठ वगैरह है ये भी पुद्गल है, यह शरीर भी पुद्गलका है, पर यह और ढगका पुद्गल है। इस शरीरमे गदगी क्या है ? जो है उसके ज्ञाता रहना है, जान लेना है।

निर्विचिकित्सा—भैया ! निर्विचिकित्सा अग जहाँ बताया जाता है सम्यग्दर्शनके प्रकरणमे वहाँ तीन बाते कही जाती है। एक तो अशुचि पदार्थको देखकर घृणाका भाव न लाना। ज्यादा थूकाथाकी वाली चीजको निरखकर मुहमे पानी बह आता। जैसे थूकना पडता है तो यह भी थूकाथाकी घृणाका रूपक है। साधु सतजन ऐसी थूकाथाकी नही किया करते है। अन्य अपवित्र पदार्थोको निरखकर वे घृणा ग्लानि नही करते। व्यवहार जरूर उनसे बचनेका रहता है, क्योकि स्वाध्याय करना, सामायिक करना ये सब कार्य अपवित्र हालतमे नही होते हैं। लेकिन कोई घृणित वस्तु सामने आये तो उसको देखकर ज्ञानी पुरुष नाक भौह नही सिकोडते है, योग्य उपेक्षा करते हैं। दूसरी बात यह है कि किसी धर्मात्मा पुरुषकी सेवा करते हुए मे तो ग्लानि रच भी नही रहती है। यहाँ उससे भी अधिक निर्जुगुप्सा भाव रहता है। साधु पुरुष धर्मात्मा जन रोगी हो, मल मूत्र कर दे तो भी घृणा नही करते। जैसे माता अपने बच्चेकी नाक अपनी साडीसे ही छिनक लेती है और घृणा नही करती है। दूसरे लोग उस बच्चेसे घृणा करते है, अरे इसके तो नाक निकली आ रही है इसे सम्हाल लो, पर मा उसे बडे प्रेमसे पोछ लेती है। माँ ही बच्चेसे घृणा करने लगे तो बच्चा कहाँ जाय ? यो ही धर्मात्मा जन धर्मात्मावोके प्रति माताकी तरह व्यवहार रखते है। अगर धर्मात्मा पुरुष ही धर्मात्मासे घृणा करने लगे तो वे कहाँ जाये ? उनके वहाँ निर्जुगुप्सा रहेगी, और तीसरी बात यह है कि आत्मामे जो क्षुधा, तृषा, वेदना आदिके कोई प्रसग आये तो भी वे ग्लान नही होते है, दुखी नही होते है, किन्तु वहाँ भी अपने आपमे प्रकाशमान शुद्ध परमात्मतत्त्वके दर्शनसे तृप्त रहा करते है।

वास्तवमें घृणाके योग्य—इस प्रकरणसे यह बात जानना चाहिए कि घृणाके योग्य यह शरीर नही है किन्तु जिस गदे जीवके बसनेसे ये पवित्र स्कध भी हड्डी खून आदि रूपमे

बन गए है वह जीव गदा है। न आता कोई जीव तो शरीर बन कैसे जाता ? शरीरकी गदगीका कारण वह अशुद्ध जीव है। अब जरा जीवमे भी निरखो तो वह जीव अशुद्ध नही है किन्तु जीवकी जो निजी विभावमय बात है, अशुद्ध प्रकृति है, विभाव परिणति है वह गदी है। जीव तो जैसा सिद्ध प्रभु है वैसा है, कोई अन्तर नही है, अन्तर मात्र परिणतिका है। तो जीवमे भी जो रागद्वेष मोहकी परिणति है वह घृणाके योग्य है, यह शरीर, यह पुरुष घृणाके योग्य नही है, मूल बात यह है। लेकिन इस प्रकरणमे परमतत्त्व ज्ञानियोकी दृष्टिमे आने वाली बातके लिए व्यवहारिक बात कही जा रही है।

अशुचि एवं अशुचिकर शरीर—यह शरीर अपवित्र है। इसमे चदन लगा दो तो वह चदन भी अपवित्र हो जाता है। दूसरा पुरुष किसी दूसरेके मस्तकपर लगे हुए चदनको पोछकर लगाना नही चाहता है। तैल लगा लो शरीरमे, ज्यादा हो गया और किसीसे कहो कि इस हमारे तैलको पोछकर आप लगा लो तो कोई लगाना पसद नही करता है। तैलमे कोई गदगी नही है, पर शरीरकी गदगी पाकर तैल अपवित्र हो गया। और तो जाने दो। कोई फूलकी माला पहिन ले, फिर किसीसे कहे कि लो इसे आप पहिन लो तो कोई उस फूलकी मालाको पहिनना पसद नही करता है। जिस शरीरके सम्बधको पाकर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाता है, उस शरीरसे क्या प्रार्थना करना, उस शरीरकी क्या आशा रखना ?

रूपकी बुनियाद—एक कथानकमे आया है कि एक राजपुत्र शहरमे जा रहा था तो किसी महलके छज्जेपर खडी हुई सेठकी बहू उसकी दृष्टिमे आयी तो वह राजपुत्र उस सेठकी बहूपर आसक्त हो गया। कामकी वासना, सस्कार इतनी गदी चीज है कि जो कामी पुरुष होते है उन्हे भोजन भी न सुहाये। इस बातके लिए पहिले समयमे कुट्टनी होती थी तो कुट्टनी को हाल मालूम हुआ तो कहा कि यह कौनसी बडी बात है ? कुट्टनी सेठकी बहूके पास पहुच गयी, हाल बताया। वह सेठकी बहू बडी चतुर थी। उसने कहा ठीक है। १५ दिनके बाद अमुक दिन राजपुत्र आये। उस सेठकी बहूने इस १५ दिनमे क्या किया कि जुलाबकी दवाई खाकर दस्त जो कुछ भी लगे वह सब एक मटकेमे कर दे। १५ दिनमे वह मटका दस्तसे भर गया। वह बहू उन १५ दिनोमे बडी दुर्बल हो गयी। कुछ रूप काति न रही। राजपुत्र आया, देखकर बड़ा दंग हुआ। तो बहू कहती है कि तुम जिसपर आसक्त थे उसे चलो हम तुम्हे दिखाएँ फिर तुम उससे प्रेम करो। उस राजपुत्रने उसे जाकर देखा तो सारी दुर्गन्ध छा गयी, झट वह बगल हो गया और उल्टे पैर भागा। तो जिस चीजपर यह रूप चमक दमक रहती है वह अन्य है क्या ? मल, मूत्र, खून इनका पिड ही तो है। इनका ही एक सग्रहीत रूप रूप कहलाता है।

अशुचि अजंगम शरीर—इस शरीरको पाकर पवित्रसे भी पवित्र वस्तु अपवित्र हो

जाती है। किसीकी पहिनी हुई कमीज भी कोई दूसरा नही पहिनना चाहता। अब बतलावो देहमे सम्बद्ध उपभोग वाली वस्तु भी दूसरे ग्रहण नही कर सकते है, ऐसा यह अपवित्र शरीर है। यह शरीर अजंगम है, स्वय नही चलता। न जीव हो शरीरमे तो क्या शरीर चल देगा ? जीवकी प्रेरणा नही होती शरीरमे तो देह तो न चल सकेगा। जैसे अजगम यन मोटर साइकिल ये किसी जगम ड्राइवरके द्वारा चलाये जाते है, स्वयं तो नही चलते, ऐसे ही यह स्थूलस्थूल शरीर भी स्वयं नही चल सकता है। मुर्दा तो कही चल नही पाता। जो मुर्देमे है ऐसा ही इसमे है, फर्क यह है कि तैजस और कार्माण सहित जीव इसमे बसा हुआ है इससे इसमे चमकदमक रच है और चलने फिरनेकी क्रिया होती है। यह शरीर अजगम है। किसी जंगम शरीरके द्वारा चलाया जा रहा है।

भयानक और संतापक शरीर—यह शरीर भयानक है। यही शरीर रागी पुरुषको प्रिय लगता है और विरागी पुरुषको यही शरीर यथार्थ स्वरूपमे दिखता है और जब वृद्धावस्था हो जाय तब तो शरीरकी स्थिति स्पष्ट भयानक हो जाती है। कोई अंधेरे उजेलेमे बच्चा निरखले बूढेके शरीरको तो वह डर जाय ऐसा भयानक शरीर हो जाता है। यो यह अपवित्र शरीर भयानक भी है। कोई कहे कि रहने दो भयानक, रहने दो अपवित्र, फिर भी हमे इस शरीरसे ही प्रीति है। तो भाई यह शरीर प्रीति करने लायक रच नही है क्योकि यह शरीर संतापको ही उत्पन्न करता है। इसमे स्नेह करना व्यर्थ है।

मोहियों द्वारा अलौकिक वैभवकी उपेक्षा—भैया ! सबमे अलौकिक वैभव है शरीर पर भी दृष्टि न रखकर, किसी भी परपदार्थका विकल्प न करके केवल ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्वको निरखे तो वहां जो आनन्द प्रकट होता है वही अद्भुत आनन्द है, उसमे ही कर्मोको जलाकर भस्म कर देनेकी सामर्थ्य है। वह आनन्द जिनकी दृष्टिमे आया है उनका मनुष्य होना सार्थक है और जिन जीवोको अपने आत्माका शुद्ध आनन्द अनुभवमे नही आया है वे विषयोके प्रार्थी बनते है, देहकी प्रार्थना करते है, शरीरकी आशा रखते है और कामादिक विकारोमे उलझ कर अपना जीवन गंवा देते है। इस जीवकी प्रकृति तो आनन्द पानेके लिए उत्सुक रहती है। यह आनन्द पाये, इसे शुद्ध आनन्द मिले तो कल्पित सुख या दु:खकी ओर कौन झुकेगा ? पर जब शुद्ध आनन्द ही नही मिलता, सो कल्पित सुखकी ओर लगना पडता है।

शरीरकी अशुचिताका संक्षिप्त विवरण—छहढालामे कहा है—'पल रुधिर राधमल थैली, कीकश वसादितै मैली। नवद्वार बहै घिनकारी, अस देह करै किम यारी।' मास, रुधिर, खून, मल इत्यादिसे भरा हुआ यह शरीर एक थैली है जिसमे ९ घिनावने द्वार बहते रहते है--कानसे कर्णमैल, आखोसे कीचड, नाकसे नाक, मुखसे लार और मलमूत्रके स्थानो

से मलमूत्र, ये जहाँ बहते रहते है ऐसा यह घिनावना शरीर है। अरे, इसमे प्राकृतिक बात देखो कि ऊपरसे नीचेके द्वारसे बहने वाली वस्तु अधिक घिनावनी है। कानसे जो कनेऊ निकलता है उसपर लोग घृणाका अधिक ख्याल नही करते। इस कनेऊको कीचडसे ज्यादा गदा नही समझा जाता है। लोग अगुलीसे कर्णमल निकालकर फेक देते है, हाथको कपडेसे नही पोछते। अगर आखसे कीचड निकालते है तो फिर अपने हाथको कपडेसे पोंछते है, और नाकसे नाक निकाला तो हाथ कपडेसे पोछ लेते है और पानीसे भी धो लेते है। आंख के मलसे नाकका मल अधिक गदा है। नाकसे ज्यादा थूक और खखार आदि गदे है। थूक और खखारसे ज्यादा मूत्र मल गदे है। ऊपरकी इन्द्रियोसे नीचेकी इन्द्रियाँ अधिक गदी मानी जाती है।

शरीरकी अशुचिता वैराग्यकी प्रयोजिका––भैया! क्या भरा है इस देहमे, कुछ निगाह तो कीजिए। इसकी निगाह करनेसे मनुष्योके खोटी वासना नही रह सकती है, पर मोही जीव कहाँ निरखता है इस शरीरकी गदगीको ? विधिने मानो इस शरीरको गदा इसलिए बनाया है कि ये मनुष्य गदे शरीरको पाकर विरक्त रहा करे, परतु यह मोह ऐसा प्रबल बना हुआ है कि विरक्तिकी बात तो दूर रहो, यह नाना कलावोसे इस शरीरसे अनुराग करता है। यह शरीर अपवित्र और भयानक तो है ही, साथ ही यह निरन्तर विनाशकी ओर जा रहा है।

जीवनका निर्गमन––बचपन बडी अच्छी उम्र है, पर वहाँ अज्ञान छाया है। बचपन कितना निश्चित जीवन है, कितना अधिक बुद्धिका यहाँ बल है, जिस ग्रन्थको पढे वह तुरन्त याद हो जाय, कितना सरल व निष्कपट भाव है, निश्चिन्तता है पर वहाँ अज्ञान बसा है सो अपना कल्याण नही कर पाते। जवान हुआ तो अब भी इसमे प्रभाव अधिक है, लेकिन कामरत होकर यह जवानीको भी व्यर्थ गवा देता है। अब वृद्धावस्था आयी तो जिसने बचपनमे भी कल्याणका काम नही किया, जवानीमे भी कल्याणका काम नही किया तो बुढापामे अब क्या करेगा ? उसकी स्थिति बडी दयनीय हो जाती है। यह शरीर निरन्तर विनाशकी ओर है। जितनी घडियां निकलती जा रही है उतना ही आयुका विनाश हो रहा है। लोग कहते है कि मेरा लल्ला ८ वर्षका हो गया, यह बढ गया। अरे उसका अर्थ है कि ८ वर्ष उसके मर चुके। ८ वर्ष उसकी उम्र कम हो गयी है। जिसको मानो ७० वर्ष जीना है उसकी अवस्था अब ६२ वर्षकी रह गयी है, लोगोकी इस ओर दृष्टि नही है। बढ गया है, जवान हो गया है, वृद्ध हो गया है, बुजुर्ग बन गया है इस ओर दृष्टि है। अरे बुजुर्ग क्या बन गया है, उसके विनाशके दिन अब निकट आ गए है। विनाशके दिन निकट आनेका नाम है बुजुर्ग हो जाना। यह शरीर निरन्तर विनाशकी ओर है, ऐसे शरीरसे स्नेह

करना व्यर्थ है ।

ज्ञानीका चिन्तन—एक दोहामे कहा है—विपै चाम चादर मढी हाड पीजरा देह । भीतर या सम जगतमे और न छिन गेह ।। यह हाड मासका पिड है । कोई पुरुष अत्यन्त दुर्बल हो तो यह पिजडा बिल्कुल स्पष्ट समझमे आता है । कोई वैद्य लोग अत्यन्त दुर्बल शरीरका चित्र छपवाते है, उसमे देखो तो शरीरका पिजडा स्पष्ट दीखता है, ऐसा ही पिजडा संग्रहालयमे देखनेको मिलेगा या मरघटमे वहाँ ऐसा ही पिजडा देखनेको मिल जायगा, वही पिजडा हम आपके शरीरमे है । फर्क इतना है कि हम आपके शरीरपर चाम चादर मढी हुई है, किन्तु भीतर तो इसमे सभी अपवित्र चीजे है । यह शरीर इतना अपवित्र है कि कितना ही पवित्र पदार्थ हो इसका स्पर्श करनेसे वह भी अपवित्र हो जाता है, फिर भी इन मोही जीवोने यह शरीर बडा प्रिय माना है, इस शरीरकी प्रतिष्ठासे ही निरन्तर सतुष्ट रहते है । किन्तु ज्ञानी जीव शरीरके यथार्थस्वरूपको समझते है, उन्हे इस शरीरसे अन्तरङ्गमे राग नही होता है । अनादि कालसे भटकते हुए आज हमे यह दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है, ये जिनेन्द्र वचन मिले है तो हम इनका लाभ उठाये, मायामय चीजोमे आसक्त न होकर आत्म-कल्याण करे । इसके लिए ही ज्ञानी अपना जीवन समझते है ।

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ।।१६।।

जीवके उपकारकमें देहकी अपकारिता व देहके उपकारकमें जीवकी अपकारिता—जो तत्त्व जीवके उपकारमे लिए होता है वह तत्त्व देहका अपकार करने वाला होना है, और जो पदार्थ देहके उपकारके लिए होता है वह पदार्थ जीवका अपकार करने वाला होता है । अनशन आदिक तप, व्रत, समिति, सयम इन चारित्रोका धारण करना जीवके उपकारके लिए है । यह चारित्र पूर्वकालमे बाधे हुए कर्मोका क्षय करने वाला है और भविष्यकालमे पाप न हो सके, यो कर्मोका आस्रव रोकने वाला है । इस कारण ये तपस्याएँ, चारित्र जीवके उपकारके लिए है, तो ये तपस्याएँ शरीरका अपकार करने वाली है, शरीर सूख जाता है, काला पड जाता है आदिक रूपसे शरीरका अपकार होने लगता है, और जो धन वैभव सम्पदा देहके उपकारके लिए है जिसके प्रसादसे खूब खाये, पियें, भोग साधन जुटाये, आराम से रहे जिससे देह कोमल, बलिष्ट, मोटा, स्थूल हो जाय; सो ये वैभव धन आदिक परिग्रह जीवके अपकारके लिए है ।

रके आश्रयमें आत्माका अपकार—इससे पूर्व श्लोकमे यह प्रसग चल रहा था कि ध आदिकसे शरीरका उपकार नही होता है, सो शकाकार कहता है कि मत होवो शरीर का उपकार, किन्तु धनसे व्रत, दान आदि कर लेनेके कारण आत्माका उपकार तो होता

है ? तो आत्माका हित भी होगा, उसके उत्तरमें कहा जा रहा है कि धन आदिक परपदार्थों से कभी आत्माका हित नही होता है। इस जीवका सबसे बड़ा बैरी मोह है, मोहका आश्रय धन वैभव है। इस मोहमे आकर यह देव, शास्त्र, गुरुका विनय भी, इनकी आस्था भी योग्य रीतिसे करता ही नही है। जब परपदार्थोंसे अपने हितकी श्रद्धा है तो मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत अथवा धर्मात्मा साधु संत जनोंके प्रति आस्था कैसे हो सकती है ? सबसे प्रबल बैरी मोह है। अन्य पदार्थ इस जीवके विराधक नही है। जैसे अस्तीनमे घुसा हुआ साप विनाश का कारण है इसी प्रकार आत्मक्षेत्रमे बना हुआ यह मोहपरिणाम इस आत्माके ही विनाश का कारण है। जीवकी बुद्धि विपरीत हो जाती है मोहभावके कारण।

बुद्धिकी मलीनता ही वास्तविक विपत्ति—इस मोहकी ही प्रेरणासे विषयोमे जीव प्रवृत्त होता है। ये समस्त विषय जीवका विनाश करनेके कारण है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिका निधान यह ब्रह्म परमात्मतत्त्व प्रकट नही हो पा रहा है और ससारभ्रमणमे लगा हुआ है, इससे बढकर बरबादी और किसे कह सकते है ? इस जीवको इस भवमे जो कुछ मिला है यह सब बरबाद हो जाय तब भी जीवकी बरबादी नही है, और यह जीव अपने स्वरूपका ज्ञान न कर सके, अपनी बुद्धिको पवित्र न रख सके और कितना ही करोडोका वैभव भी मिल जाय तो भी वहाँ जीवकी बरबादी है। कितने ही विषय तो देहका भी अपकार करते है और जीवका भी अपकार करते है। जैसे स्पर्शनइन्द्रिय का विषय काम मैथुन, व्यभिचार, कुशील ये देहको भी बरबाद करते है और जीवको भी बरबाद करते है, बुद्धि भी हर लेते है। पापोका उसके प्रबल उदय शीघ्र ही आने वाला है जो अपने आचारसे गिरा हुआ है, उस मोहीकी दृष्टिमे कहा जा रहा है कि ऐसे काम आचरणको भी यह मोही जीव देहके उपकारके लिए मानता है, पर वही प्रवर्तन इस जीवका विनाश करनेका कारण है।

सग समागमसे जीवका अपकार—परिजनमे रहना, मित्रमडलीमे रहना इनको यह मोही जीव उपकार करने वाला मानता है, पर वस्तुत ये सर्व समागम जीवके अपकारके लिए है, बरबादीके लिए हैं। इस जीवका केवल अपना स्वरूप ही इसका है। चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अणु मात्र भी अन्य पदार्थ इस आत्माका कुछ नही लगता। इस आत्माके लिए जैसे विदेशके लोग भिन्न है अथवा पडौसके लोग भिन्न है उतने ही भिन्न, पूरे ही भिन्न घर मे पैदा हुए मनुष्य भी है, अथवा जिनमे यश इज्जत चाहा है वे पुरुष भी उतने ही भिन्न है, फिर भी उनमेसे यह छटनी कर लेगा कि यह मेरा साधक है, यह मेरा बाधक है, यह उन्मत्त दशा है। ये मनचाही बाते, मनको प्रसन्न करनेवाली घटनाएँ ये देहका भले ही उपकार करे, देह स्वस्थ रहे, प्रसन्न रहे, मौजमे रहे, परन्तु इन सब बातोसे जीवका अपकार

है, विनाश है।

तपश्चरणसे जीवका उपकार एवं देहका अपकार—अपने मनको नियंत्रित रखना, अपने आपमे समता परिणामसे रह सकना, ऐसा उपयोगका केन्द्रीकरण करना, तपश्चरण करना, अनशन, ऊनोदर व्रतपरिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और नाना काय क्लेश—ये सब तपश्चरण पापकर्मके विनाशके कारणभूत है। इन प्रवृत्तियोसे आत्मामे निर्भयता आती है। ये सब चारित्र जीवके भलेके लिए है, परन्तु इन तपस्यावोसे देहका अपकार होता है। भूखसे कम खाये, पूरा रस न खाये, बहुतसे अनसन करे तो शरीरका बल भी घटने लगता, इन्द्रियाँ भी दुर्बल हो जायें, आँखोसे कम दिखने लगे, अनेक रोग पैदा हो जाते है, देहका विनाश हो जाता है और अनन्त कालके लिये भी देहका अभाव हो सकता है। दो बाते सामने है। एक ऐसी चीज है जो देहकी बरबादी करे और आत्माका भला करे और एक ऐसी दशा है जो देहको अत्यन्त पुष्ट करे और आत्माकी बरबादी करे। कौनसा तत्त्व उपादेय है ? विवेकी तो उस तत्त्वको उपादेय मानता है जो जीवका उपकार कर सकने वाला है।

ज्ञानीका विवेकपूर्ण चिन्तन—भैया! यह देह न रहेगा। अच्छा सुभग सुडौल सबल पुष्ट हो तो भी न रहेगा, दुर्बल, अपुष्ट हो तो भी न रहेगा, परन्तु जीवका भाव, जीवका सम्कार इस शरीरके छोडने पर भी रहेगा। तो जैसे कुटुम्बके लोग मेहमानमे वैसी प्रीति नही करते है जैसी कि अपने पुत्रमे करते है क्योकि जानते है कि यह मेहमान हमारे घरका नही है, आया है जायगा और ये पुत्रादिक मेरे उत्तराधिकारी है, मेरे है, यो समझते है। इसीलिए मानो मेहमान नाम रखा है माहिमा न। जिसके प्रति घर वालोकी बडप्पनकी बुद्धि नही है, प्रियताकी बुद्धि नही है वे सब महिमान कहलाते हैं। तो जैसे कुछ समय टिकने वालेके प्रति, अपने घरमे न रह सके ऐसे लोगोके प्रति ये स्नेह नही बढाते, अपना वैभव नही सौंप देते, ऐसे ही यह विवेकी कुछ दिन रहने वाले इस शरीरके लिए अपना दुर्भाव नही बनाता है, खोटा परिणाम नही करता है, उसकी ही सेवा किया करे ऐसा संकल्प नही होता, अपने उद्धारकी चिन्ता होती है उसको जो ऐसा ज्ञानी हो, विवेकी हो।

आत्मनिधिकी रक्षाका विवेक—जैसे घरकी कुटीमे आग लग जाय तो जब तक कोई धन बचाया जा सकता है तब तक यह प्रयत्न करता है कि धन वैभवकी रक्षा कर ले। जब आग तेज लग गयी, ज्वाला निकलने लगी तो फिर वहाँ अपने प्राणोका भी खतरा रहता है, उस समय धन सम्पदाको छोड दिया जाता है और अपने प्राणोको बचा लिया जाता है। ऐसे ही यह शरीर जब क्षीण हो रहा है, दुर्बल हो रहा है, रोगी हो रहा है तो कोशिश करें कि यह ठीक हो जाय जिससे हम अपने धर्मपालनमे समर्थ हो सकें, पर जब ज्वाला इतनी बढ जाय, शरीरकी जीर्णता इतनी अधिक हो जाय, रोग बढ जाय कि

शरीर अब टिकनेका नही है तो क्या विवेकी उस शरीरके लिए रोये ? हाय अब मै न रहूगा, अब मै मरने वाला हू। अरे यह शरीर तो इसीलिए उत्पन्न हुआ है। यह शरीर सदा नही रह सकता।

मोहियोंकी घुटनाटेक हैरानी—दो बातो पर इस मनुष्यका वश नही चल रहा है—एक तो मृत्युपर और दूसरे कोई भी चीज मेरे साथ न जायगी इस बात पर। यदि इसकी दोनो बातो पर वश चलता होता तो यह स्वच्छन्द होकर न जाने कितना अनर्थ ढाता ? जब देखा कि अब यह शरीरकी व्याधिकी ज्वाला बढ़ गयी है तो इस शरीरको वह विवेकी छोड देता है और अपने ज्ञानस्वरूपको बचानेके लिए शरीरके अनुरागसे और पवृत्तिसे दूर हो जाता है। जो बात जीवका उपकार कर सकती है वह बात देहका विनाश करती है। यह तो लौकिक विनाशकी बात है, पर जीवका जिस रत्नत्रय भावसे भला है, वीतराग सर्वज्ञता प्रकट हुई है, परमात्मपद मिलता है, अपने स्वरूपका परिपूर्ण विकास होता है तो उस रत्नत्रयसे देखो तो जीवका तो कल्याण हुआ, पर देहका ऐसा विनाश हुआ कि भविष्य मे कभी भी त्रिकाल भी आगे भी अब शरीर न मिल सकेगा। ऐसा शरीरका खातमा हो जाता है।

अन्य पदार्थसे स्वके श्रेयका अभाव—भैया ! तुम जीव हो या शरीर, अपने आपमे निर्णय करो ? तुम रग वाले हो या रंगरहित, अपने आपका निश्चय करिये। तुम ज्ञानस्वरूप हो या ऐसा थूलमथूल शरीर रूप। यदि तुम जड शरीररूप हो तो तुझे समझाये ही क्या ? जब चेतना ही तुममे नही है तो समझानेका सब उद्यम व्यर्थ है, फिर बोलना चालना समझना ये सब व्यर्थके भाव ही तो हुए ना। नही नही, मै अचेतन नही हू, मैं अपने आपमे रह रहा हू, जान रहा हू, समझ रहा हू, कोई ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको जो निहारता है ऐसा यह जीव यदि तुम हो तो अपने स्वरूपका विकास करो अर्थात् कल्याण करो। जिन बातोसे इस आत्माका उपकार होगा उन बातोपर दृष्टि दो, उन्हे प्रधान महत्त्वभूत समझो। देखो भोजन आदिक पदार्थोसे उपभोगोसे शरीर पुष्ट होता है ना, बल बढता है, कान्ति बढती है। मलाई खावे, रस खावे तो शरीर पुष्ट होगा, ऐसा उपदेश भी देते है एक दूसरेको कि इन भोजनादिकसे शरीरकी पुष्टि होती है। होती है पुष्टि पर उन्ही पदार्थोके विकल्पसे आत्माका विनाश होता है, प्रमादकी वृद्धि होती है, कर्मोका आस्रव होता है, मलिन परिणाम होते है और मलिन परिणामोसे दुर्गतिमे जन्म लेना होता है। आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त अन्य पदार्थोसे इसका कुछ भी कल्याण नही है।

देहादिक परिग्रहकी अपकारिता—ये धन वैभव आदि आत्माके उपकारी होते तो महापुरुष इन पदार्थोको त्यागकर आकिञ्चन न बनते, दिगम्बर न बनते, इनका परित्याग

न करते। इससे यह समझना चाहिए कि परिग्रह आत्माका उपकार करने वाला नही है। परिग्रहमे रह रहे है, पर रहते हुए भी बात तो यथार्थ ही जानना चाहिए। अहो! अनादि-कालसे इस देहके सम्बन्धसे ही मैं सतप्त रहा। जैसे अग्निके सम्बन्धसे पानी तप जाता है, खौल जाता है ऐसे ही इस देहके सम्बन्धसे शान्तस्वभावी होकर भी यह आत्मा यह उपयोग संतप्त बना रहा। कही भी, कभी भी विश्राम न ले सका।

इन्द्रियोंकी अपकारिता—यह शरीर मेरे सतापके लिए ही है और शरीरके अग इन्द्रिय, इन्द्रियकी प्रवृत्ति, कर्म इन्द्रिय और ज्ञान इन्द्रिय अर्थात् द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ये सब मेरे सतापके ही कारण है। इनकी रतिसे, प्रेमसे मेरा आत्मा दुखी होता है। यह मोही जानता है कि आखोसे यह पहिले कुछ जाना करता है, रसनासे, कर्णसे इन सभी इन्द्रियोसे यह जाना करता है, सो ये इन्द्रियाँ ज्ञानकी साधन है। हाथसे छूनेपर ठड गरमका बोध होता है, रसनाके द्वारा खट्टा मीठा आदिका ज्ञान किया जाता है। इन इन्द्रियोसे ज्ञान बनता है ऐसी भ्रमबुद्धि है अज्ञानीकी सो चूंकि ज्ञानसे बढकर तो सभीके लिए कुछ वैभव नही है, अतः यह ज्ञानी भी ज्ञानका साधन इन्द्रियोको जानकर और इन्द्रियोका आश्रय देह को जानकर इस देहको और इन्द्रियको पुष्ट करता है। उनकी ओर ही इसका ध्यान है। परन्तु यह विदित नही है कि ये इन्द्रियाँ ज्ञान के कारण नही है, किन्तु वास्तवमे हमारे ज्ञान मे ये बाधक है।

इन्द्रियविषयोंके मोहमें मूलनिधिके विलयपर एक दृष्टान्त—जैसे किसी बालकका पिता मर जाय तो सरकार उसकी जायदादको नियन्त्रित कर लेती है और उस लाख दो लाखकी जायदादके एवजमे उस बालकको दो चार सौ रुपया माहवार सरकार बाँध देती है। पहिले तो वह बालक सरकारके गुण गाता है, वाह बडी दयालु है सरकार, हमे घर बैठे इतना रुपया देती है, पर जब उसे अपनी सम्पत्तिका पता लग जाता है तो वह उन दो चार सौ रुपया माहवार लेनेसे अपनी प्रीति हटा लेता है। वह उन रुपयोको लेनेसे मना कर देता है, आगे पुरुषार्थ करता है तो उसकी जायदाद मिल जाती है।

इन्द्रियविषयोंके मोहमें मूलनिधिका विलय—इसी तरह ये इन्द्रियाँ हमारा मूल धन नही है, ज्ञानकी कारणभूत नही है, किन्तु जैसे मकानमे खिडकियाँ खुल जानेसे बाहरकी चीजे दिखती है, वह पुरुष उन खिडकियोके गुण गाता है, यह खिडकी बडा उपकार करती है, मुझे बाहरी चीजोका ज्ञान करा देती है, सडकपर कौन आ रहा है, कौन जा रहा है इन सब बातोका ज्ञान यह खिडकी हमे करा देती है, इस तरहके वह खिडकीके गुण गाता है किन्तु जब वह जान जाता है कि अपना ज्ञानबल ही सब कुछ जान रहा है पर यह ज्ञान, इन दीवालोसे दबा हुआ है। जानने वाला तो अपने ज्ञानसे जान लेता है, इस खिडकीसे नही

जान लेता है। ऐसे ही यह मै ज्ञानस्वरूप आत्मा इस शरीरकी भीतमे दबा हुआ हू। इस भीतमे ये चार-पाच खिडकिया मिल गयी है, आँख, कान, नाक, मुंह वगैरह, तो हम इस मलिन कायर अवस्थामे इन खिडकियोसे थोडा बहुत बोध करते है, पर यहाँ भी बोध कराने वाली ये इन्द्रिया नही है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं है।

परतत्त्वकी प्रीतिके परिहारका विवेक—इस ज्ञानानन्दमय आत्मनिधिको परखे और इन्द्रियोकी प्रीति तजे, यह आत्महितकी साधना है। इससे देहका अपकार होता है, इसपर ध्यान न दे, किन्तु जिन बातोसे इस जीवका अपकार होता है उनको मिटाएँ, यो हम विवेकी कहे जा सकते है। पुराण मोक्षार्थी पुरुषोने भी इस धन वैभवका व अन्तमे देहका भी परित्याग करके शान्त और निराकुल अवस्थाको प्राप्त किया है. जिन्होने निर्वाणका आनद पाया है उन पुरुषोके उपदेशमे यह बात कही गयी है कि इन्द्रियभोग चाहे देहके उपकारक है, परतु आत्माका तो अपकार ही करने वाले है। इसलिए आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थोका मोह त्यागना ही श्रेयस्कर है।

इतश्चिन्तामणिर्दिव्यः इत. पिण्याकखण्डकम्।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्ता विवेकिन ॥२०॥

आनन्दनिधि व संकटविधिका ध्यानसे उपलम्भ—जैसे किसी पुरुषके सामने एक तरफ तो चिन्तामणिरत्न रखा हो और एक तरफ खलका टुकडा रखा हो और उससे कहा जाय कि भाई जो तू चाहता हो उसे माग ले अथवा उठा ले। इतनेपर भी वह पुरुष यदि खलीका टुकडा ही उठाता है, माँगता है तो उसे आप पागल भी कह सकते, मूर्ख भी कह सकते। कुछ भी कह लो। इसी प्रकार हम आप सबके समक्ष एक ओर तो अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शनका निधान यह आत्मनिधि पडी हुई है और एक ओर अर्थात् बाहरमे यह धन वैभव पडा हुआ है, और बात यह है कि यह मनुष्य ध्यानके द्वारा जो चाहे सो पा सकता है। शुद्ध ज्ञान करे और अपने आपके ध्यानकी ओर आए तो आत्मीय आनन्द पा सकता है, बाहरकी ओर झुके तो उसे वहाँ विषय सम्बधी सुख दुख प्राप्त हो सकते है। दोनो ही यह ध्यानसे पाता है। ध्यानसे ही आत्मीय आनन्द पा लेगा और ध्यानसे ही वैषयिक सुख और क्लेश पा लेगा।

सुगम लाभके प्रति अविवेककी पराकाष्ठा—अब वह सत्य आनन्द न चाहे तो उसे क्या कहोगे? मनमे कहलो, वस्तुत न किसी बाह्य पदार्थसे क्लेश मिलता है और न सुख मिलता है। जैसी कल्पना बनायी उस कल्पनाके अनुसार इसमे सुख अथवा दु खरूप परिणमन होता है। सब ध्यानसे ही मिल जाता है। तो एक ओर तो है आत्मीय अनन्त ज्ञान दर्शनकी निधि जो आनन्दसे भरपूर है और एक ओर है विषयोके सुख और क्लेश। दोनो

को ही यह जीव ध्यानसे प्राप्त कर सकता है। किसीसे कहा जाय कि भाई तुम कर लो ध्यान, ध्यानसे ही तुम पा लोगे जिसकी अन्तरमे रुचि करोगे। न इसमे कुछ रकम लगाना है, न वैभव जोडना है, न शरीरका श्रम करना है, न व्याख्यान सीखना है। केवल ध्यानसे ही प्राप्त किया जा सकता है। चाहे आत्मीय आनन्द पा लो और चाहे सासारिक सुख दुःख विपदा पा लो। इतनेपर भी यह जीव उन वैषयिक सुखोका ही ध्यान बनाये तो जितनी बाते लौकिक पागलको कह सकते हो उतनी ही बातें इसको भी कह सकते हो।

यह मोहमे पागल हो गया है, अपना ध्यानको ऐसा बौराया है बाहरमे कि इस अनन्त निधिका घात कर डाला है। विवेकी जन तो उस चिन्तामणि रत्नका आदर करेगे, सम्यग्ज्ञानी पुरुष उस आत्मस्वरूपका आदर करेगे। जैसे किसी बुद्धिमानसे कहा जाय कि खलका टुकडा और यह चिन्तामणि अथवा अन्य जवाहरात रखे है, इनमेसे तुम जो चाहे उठा लो तो वह रत्नोको उठायेगा इसी प्रकार जो जीव धर्मध्यान, शुक्लध्यानरूप उत्तम ध्यानोका आराधन करते है वे वास्तविक स्वरूपकी, सत्य आनन्दकी प्राप्ति कर लेते है।

अज्ञानका महासकट—भैया! इसपर सबसे बडा सकट अज्ञानका बसा हुआ है। अज्ञान अधकारमे पडा हुआ यह जीव कुछ समझ ही नही पा रहा है कि मेरा क्या कर्तव्य है, कहाँ आनन्द मिलेगा, कैसे सर्व चिन्ताएँ दुर होगी? इसका उसे कुछ भी भान नही है। यहाँके मिले हुए समागममे थोडे दिनोको इतरा लें, मौज मान ले, कुछ अज्ञानी मूढोके सिर-ताज बन ले, इन सबसे कुछ बढिया पोजीशन वाले कहलाने लगे, तो भला बतलावो कि चद दिनोकी इस चादनीसे क्या पूरा पडेगा? जो जीव आर्तध्यान, रौद्रध्यान इन अप्रशस्त ध्यानोका आस्रव करता है उसे खलके टुकडेके समान इस लोक सम्बधी कुछ इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त हो जाता है, पर उन सुखोमे दुःख ही भरा हुआ है। तेज लाल मिर्च खानेमे बतावो कौनसा सुख हो जाता है, पर कल्पनामे यह जीव कहता है कि इसमे बडा स्वाद आया, यह तो बडी चटपटी मगौडी बनी है। कौनसा स्वाद आया सो बतावो, पर लाल मिर्चके खाने मे कल्पनामे स्वाद माना जा रहा है। आसू गिरते जाते और सुख मानते जाते। जैसी यहाँ हालत है वैसी ही हालत इन इन्द्रियविषयोके भोगोमे और धनसचयसे मनकी मौजमे भी यही हालत है। विपदा अनेक आती रहती है और मौज भी उसीमे मान रहे है।

सद्गृहस्थकी चर्या—भैया! सद्गृहस्थ वह है जो अपने रात दिनमे कुछ समय तो निर्विकल्प बननेका प्रयत्न करे और आत्माकी सुध ले। यह बैठा हुआ, पडा हुआ कभी किसी दिन यो ही सीघ्र चला जायगा, इस शरीरको छोडकर अवश्य ही जाना होगा। अभी कुछ अवसर है ज्ञानार्जन करनेका। धर्मसाधन करके पुण्य कमाये, मोक्षमार्ग बनाए, सच्ची श्रद्धा पैदा करे, ससारसे छूटनेका उपाय बना ले, जो करना चाहे कर सकते है और विवेकी

पुरुष ऐसा करते ही है। अविवेकी पुरुष अवसरसे लाभ नही उठाते और व्यर्थके चक्करमे उपयोग रमाकर जीवन गंवा जाते है।

ज्ञानी विवेकपर एक दृष्टान्त—जैसे जिस राज्यमे यह नियम हो कि यहाँ प्रति वर्ष राजाका चुनाव होगा और उस राजाके वर्षकी समाप्ति होनेपर उसे जंगलमे छोड दिया जायगा। कौन पेन्शन दे, कौन उसकी सेवा करे ? यह नियम हो तो बेवकूफ लोग तो राजा बनेंगे और जंगलमे मरेंगे, किन्तु कोई बुद्धिमान तो यह ही करेगा कि हम एक वर्षको तो है राजा, जिस वर्ष हम राजा है उस वर्ष तो हम जो चाहें सो कर सकते हैं। वह जंगलमे ही अपनी कोठी बना दे, खेती बैल सब कुछ तैयार कर दे, नौकर भी भेज दे, एक पार्क बना ले, करले जो करना हो, फिर वह फैंक दिया जाय जंगलमे तो वहाँ तो वह मौजसे रहेगा।

ज्ञानीका विवेक—ऐसा ही इस ससार राज्यका ऐसा नियम है। इसे ५०, ६०, ७० वर्षको मनुष्य बना दो, सब पशुवोका इसे राजा बना दो, सब जीवोमे इसे सिरताज बना दो, फिर ६०-७० वर्षके बाद इसे फैंक देना निगोदमे, स्थावरमे, कीडा मकोडामे, नरकोमे ऐसा इस सामान्यका नियम है। तो यहा अविवेकी मूढ आत्मा तो इस मनुष्यके साम्राज्यमे, विषयोमे मग्न होकर चैन माना करते है, पर मरनेपर दुर्गति पायेंगे, किन्तु कोई हो बुद्धिमान जीव तो वह तो यही समझेगा कि इस ५०-६०-७० वर्षमे जो कुछ करना चाहे कर तो सकते है ना, हमारा ज्ञान हमारे पास है, हमारा आत्मस्वरूप हममे ही है, हम जैसा बोध करना चाहे, ज्ञान करना चाहे, उपयोग लगाना चाहे लगा सकते है। यहाँ यदि ससार को छोडनेका उपाय बना ले, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लें तो अब तो इसे सुगति ही मिलेगी और अति निकट कालमे निर्वाण पद पायगा। बुद्धिमान तो यो करते है।

आत्मनिर्णय—भैया ! अब हम अपनी-अपनी सोच ले। हम अपनी सूची मूढोमे लिखाये कि बुद्धिमानोमे ? प्रोग्राम तो बनाते ही है बहुतसे। कुछ इस प्रोग्रामका भी निर्णय कर ले, इन मूर्खोमे अपना नाम लिखावे या विवेकियोमे ? इस अनित्य समागमका लोभ करने वाले तो मूढोमे ही अपना नाम लिखाने वाले है और इन समस्त पौद्गलिक विभूतियो से पृथक् अपने आत्मकल्याणको ही प्रधान समझने वाले पुरुष विवेकियोमे नाम लिखाने वाले है। देखो इस आत्मक्षेत्रके निकट अर्थात् अन्तरकी ओर यह चैतन्य चिन्तामणि रत्न पडा हुआ है और बाहरमे ये वैषयिक सुख दुःख नि सार असार खलके टुकडे पडे हुए है। अब देखो, ध्यानसे ही आत्मीय आनन्द पाया जा सकता है और ध्यानसे ही बाह्य सुख पाये जा सकते है। विवेक कर लीजिए कि हमे कैसा ध्यान बनाना चाहिए ? कुछ मोही अज्ञानी जीवो मे, मोहियोसे, पर्यायबुद्धि वालोसे प्रशंसाके शब्द सुन लिया तो क्या पाया ? उन्होने भी प्रेम से नही बोला, किन्तु स्वय अपनी कषायकी वेदनाको शान्त करनेके लिए बोला है। हम

अपने आत्मकल्याणकी दृष्टि छोडकर यदि इन खलीके टुकडोमे ही लग जाये तो यह कुछ भी विवेक न ी है।

बुद्धिमानकी खलमें अनास्था—जिस चीजमे से सार निकल जाता है अथवा जिसमे सार नही रहता है उसका नाम खल है। तिलमे सरसोमे जो सार है वह तैल है, वह जब नही रहता तो उसकी जो हालत बनती है, उसे लोग खल कहते है। खल नाम दुर्जनका भी है, दुष्टका भी है, अयोग्यका भी है। यह सारा समागम खलकी तरह है, नि सार है और निमित्त दृष्टिसे हमे बाधा पहुँचाने वाला है, यह जानकर विवेकी पुरुष उसमे आदर बुद्धि नही करते है।

आर्त और रौद्रध्यानका फंसाव—यह जगत आर्त और रौद्रध्यानमे फंसा है। दो ही तो बाते है इस जीवके परिचयकी, एक तो मौज और दूसरी पीडा। कोई मौजमे मस्त है कोई पीडामे दु खी है। पीडा वाले ध्यानका नाम है आर्तध्यान और मौज वाले ध्यान का नाम है रौद्रध्यान। पीडामे सम्भव है कि क्रूरता न रहे पर मौजमे तो क्रूरता रहती है। पीडाके समय सम्भव है कि यह पवित्र रहे, पर विषयोके मौजके समयमे यह जीव अपवित्र ही रहता है। बुद्धिमानोके लिए सम्पदा विषम और अपवित्र वस्तु है। सम्पदा अपवित्र नही है किन्तु सम्पदाके प्रति जो मोह परिणाम लगता है वह परिणाम अपवित्र है। जगतमे न कोई जीव अपना मित्र है, न कोई जीव अपना शत्रु है। अपना राग जिस साधनसे पुष्ट है उस साधनके जुटाने वालेको लोग मित्र मानने लगते और उस रागमे जिसमे निमित्तमे बाधा हुई है उसको शत्रु मान लेते है। वास्तवमे कोई बाह्य साधन मेरे शत्रु मित्र नही है, अपनी ही कल्पना मित्र रूपमे परिणत होती है, शत्रुरूपमे परिणत होती है। वस्तुत तो ये सभी कल्पनाए अपनी शत्रु है।

रौद्रध्यानमें क्रूरताका संक्लेश—रौद्रध्यान चार प्रकारके है—हिसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द। हिसा करने करानेमे मौज मानना, हिसा करते हुएको देखकर खुश होना इस प्रकारकी मौजोका नाम हिसानन्द है। इन मौजोमे क्रूरता भरी हुई है। मृषानन्द झूठ बोलनेमे, झूठ कहलवानेमे खुश होना सो मृषानन्द है। कोई किसीको झूठी बात लगाता है मजाक दिल्लगी करता है तो ऐसा करने वाले लोगोंका आशय क्रूर है अथवा नही ? क्रूर है। किसीकी चीज चुरा लेना अथवा किसी की चीज चुराने अथवा लूटनेका उपाय बताना, राय देना और इस ही मे मौज मानना ऐसा करने वालेका चित्त दुष्टता और क्रूरतासे भरा हुआ है या नही। विषयोके साधन जुटाना, विषयोमे ही मग्न रहना इसमे भी क्रूरता पडी हुई है। माना तो जा रहा है मौज, परन्तु अपने अपने परमात्मप्रभुपर घोर अन्याय किया जा रहा है।

आर्तध्यानमें क्लेशका संक्लेश—आर्तध्यानमे भी मलिनता है। इष्टका वियोग होने पर, इष्टके संयोगकी आशा बनाए रहना यह है इष्ट वियोगज आर्तध्यान। यहाँ भी ब्रह्मस्वरूपमे विमुख होनेका प्रसंग आता है। अनिष्ट वस्तुका संयोग होनेपर उसके वियोगकी भावनाएँ बनाना, यही है अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान। यहाँ भी जीव, आत्मकल्याणमे विमुख बन रहा है। बाह्यपदार्थोमे आशा लगाए रहना यह वेदनाप्रभव और निदाननामक आर्तध्यान है। यहा भी इस जीवने केवल ध्यान ही किया और ध्यानसे ही अपना मौज और विषाद बनाया। यही जीव इस प्रकारका ध्यान न बनाकर वस्तुके यथार्थ स्वतंत्र स्वरूपकी ओर दृष्टि दे देकर यदि सम्यग्ज्ञान पुष्ट करे, सम्यक्त्व पोषण करे तो इसे कौन रोकता है, परन्तु यह मोही प्राणी शुद्ध प्रक्रियावोको तो त्याग देता है, रागद्वेष मोहमे बसा रहता है।

चैतन्यचिन्तामणिकी आस्थाका अनुरोध—विवेकी जनोका कर्तव्य है कि आर्तध्यान और रौद्रध्यानका त्याग करके आत्मीय आनन्दस्वरूपके लाभके लिए धर्मध्यान और शुक्लकी उपासना करे। भगवानकी आज्ञा प्रमाण अपने कर्तव्यमे लगे। ये रागादिक विभाव कब दूर हो, कैसे दूर हो, इसका चिन्तन करे और यथाशक्ति उपाय बनावे। इस लोककी विशालता और इस कालके अनादिनिधानताका विचार करके और भूत कालमे किए गए विचार अन्य जनोपर भी क्या गुजरे, मुझपर भी क्या गुजरे, इसका यथार्थ चिन्तन करे और कर्मोंके फलका भी यथार्थ निर्णय रखे तो इस शुभ ध्यानके प्रतापसे अपनेको शुद्ध आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है। अब एक संकल्प बना ले। आत्मक्षेत्रके भीतरी ओर चैतन्य चिन्तामणि प्रकाशमान है और इस क्षेत्रमे बाहरकी ओर ये विषयकषायरूपी खलके टुकडे पडे है। अब किसका आदर करना चाहिए ? चैतन्य चिन्तामणिका आदर करना चाहिए। अपनेको शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निरखें, इस ही से शुद्ध आनन्द प्राप्त होगा।

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

आश्रेयमे आत्मतत्त्व—पूर्व प्रकरणसे इस बातका समर्थन हुआ है कि चिन्मात्र चिन्तामणिके लाभमे ही आत्माका उद्धार है और आत्माका उपकार इसी स्वभावके अवलम्बनमे है। इस बातको जानकर जिज्ञासु यह जाननेकी इच्छा कर रहा है कि जिस आत्मतत्त्वके जाननेसे संसारके समस्त संकट दूर हो जाते है और शाश्वत शुद्ध आत्मीय आनन्द मिलता है, तथा असाधारण गुण ज्ञानका पूर्ण विकास हो जाता है वह आत्मा कैसा है ? इस ही प्रश्नके उत्तरमे यह श्लोक आया है। यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय है, देहप्रमाण है, अविनाशी है, अनन्त सुखमय है व विश्वज्ञ है।

आत्माकी स्वसंवेदनगम्यता—यह आत्मा अपने आपको जानने वाले ज्ञानके द्वारा

ही जाननेमे आता है। प्रत्येक आत्मा अपनेमे 'मै हू' ऐसा अनुभव करता है। चाहे कोई किसी रूपमे माने, पर प्रत्येक जीवमें 'मैं हू' ऐसा विश्वास अवश्य है। मै अमुक जातिका हू, पडित हू, मूर्ख हू, गृहस्थ हू, साधु हूं, किसी न किसी रूपसे मैं हू ऐसा प्रत्येक जीव अंतरगमे मतव्य रख रहा है। जिसके लिए मैं हू इस प्रकारका ज्ञान किया जा रहा है, जिसको वेदा जा रहा है वह मै आत्मा हू। यह आत्मा स्वसम्वेदन प्रत्यक्षके द्वारा वेद्य है।

आत्माका देहप्रमाण विस्तार—वर्तमानमे यह आत्मा कर्मोदयसे प्राप्त छोटे बडे अपने शरीरके प्रमाण है। जैसे प्रकाशको, दीपकको घडेके भीतर रख दे तो इस घडेमे ही प्रकाश हो जाता है, कमरेमे रख दे तो कमरेमे फैल जाता है, ऐसे ही यह ज्ञानपुञ्ज आत्मतत्त्व जिस शरीरमे रहता है उतने शरीर प्रमाण हो जाता है। चीटीका शरीर हो तो चीटी के शरीर बराबर आत्मा हो गया, हाथीके शरीरमे पहुचे तो हाथीके शरीर बराबर फैल गया। यह आत्मा ज्ञानपुञ्ज है और असख्यातप्रदेशी है। शरीर बराबर आत्माके रहनेका कारण यह है कि यह आत्मा कर्मोदयसे प्राप्त शरीरमे बद्ध है तो यह शरीर प्रमाण ही तो रहेगा। शरीरसे बाहर मै आत्मा हू—ऐसा अनुभव भी नही हो रहा है, और शरीरमे केवल सिर मै हू, हाथ पैर मै नही हू, ऐसा भी अनुभव नही हो रहा है। तन्मात्र है जितना शरीर मिला है उतने प्रमाणमे यह आत्मा विस्तृत है। जब शरीरसे मुक्त हो जाता है, सिद्धपद प्राप्त होता है उस समय यह आत्मा जिस शरीरको त्यागकर सिद्ध हुआ है वह शरीर जितने प्रमाणमे विस्तार वाला था उतने प्रमाणमे विस्तृत रह जाता है, फिर वहाँ घटने और बढनेका काम नही है। जिस संसार अवस्थामे यह जीव जितने बडे शरीरको प्राप्त करे उतने प्रमाण यह जीव हो जाता है। छोटा शरीर मिला तो छोटा हो जाता है और बडा शरीर मिला तो बडा हो जाता है, परन्तु सिद्ध अवस्थामे न छोटा होनेका कारण रहा, न बडा होनेका कोई कारण रहा, शरीरसे मुक्ति हुई, कर्म रहे नही, अब बतावो यह आत्मा छोटा बने कि बडा हो जाय ? न छोटा बननेका कारण रहा, न बडा बननेका कारण रहा, तब चरम शरीर प्रमाण यह आत्मा रहता है। आत्मा तनुमात्र है।

आत्मतत्त्वकी नित्यता—इस आत्माका कभी विनाश नही होता है। द्रव्यदृष्टिसे यह आत्मा नित्य है, शाश्वत है अर्थात् आत्मा नामक वस्तु कभी नष्ट नही होती है, उसका परिणमन नया-नया बनेगा। कभी दु खरूप है, कभी सुखरूप है, कभी कषायरूप है, कभी निष्कषायरूप हो जायगा। आत्मपरिणमन चलता रहता है किन्तु आत्मा नामक वस्तु वहीका वही है, अविनाशी है।

आत्मतत्त्वका सुखमयस्वरूप—यह आत्मा अनन्त सुख वाला है। आत्माका स्वरूप सुखसे रचा हुआ है, आनन्द ही आनन्द इसके स्वभावमें है, पर जिसे अपने आनन्दस्वरूपका

परिचय नही है वह पुरुष परद्रव्योंमे, विषयोंमे आशा लगाकर दुखी होता है और सुख मानता है। यह आत्मा स्वरसत आनन्दस्वरूप है। कोई-कोई पुरुष तो आनन्दमात्र ही आत्माको मानते है। जैसे कि वे कहते है आनंदो ब्रह्मणो रूपं। ब्रह्मका स्वरूप मात्र आनन्द है, पर जैन सिद्धान्त कहता है कि आत्मा केवल आनन्दस्वरूप ही नही है, किन्तु ज्ञानानन्द-स्वरूप है। ज्ञान न हो तो आनन्द कहाँ विराजे ? और आनन्दरूप परिणति न हो तो परि-पूर्ण विकास वाला ज्ञान कहाँ विराजे ?

आत्मतत्त्वकी सर्वज्ञरूपता——यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप है यह तो कहा ही गया है पर ज्ञानस्वरूप भी है। यदि आत्मा ज्ञानरूप न हो तो कुछ व्यवस्था ही न बनेगी। इस समस्त जगतको जानने वाला कौन है, इस जगतकी व्यवस्था कौन बनाए ? कल्पना करो कि कोई ज्ञानवान पदार्थ न होता जगतमे और ये सब पदार्थ होते तो इनका परिचय कौन करता ? यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है——इसका ज्ञानस्वभाव इसके अनन्त बलको रख रहा है कि ज्ञानसे यह लोक और अलोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको स्पष्ट जान सके। ऐसा यह आत्मा लोक और अलोकका जाननहार है।

एकान्तमन्तव्यनिरास——आत्माके स्वरूपको बताने वाले इस श्लोकमे ५ विशेषण दिए है। आत्मा स्वसम्वेदनगम्य है, शरीरप्रमाण है, अविनाशी है, अनन्त सुख वाला है और लोकका साक्षात् करने वाला है। इन विशेषणोसे ५ मंतव्योका खण्डन हो जायगा, जो एकान्त मंतव्य है।

आत्मसत्त्वका समर्थन——कोई यह कहते है कि आत्मा तो कुछ प्रमाणका विषय भी नही है जो विषय प्रमाणमे आये, युक्तिमे उतरे, उसके गुणोका भी वर्णन करियेगा। आत्म-पदार्थ कुछ पदार्थ ही नही है, भ्रम है। लोगोने बहका रक्खा है। धर्मके नामपर जो ऋषि हुए, त्यागी हुए, साधु हुए, एक धर्मका ऐसा ढकोसला बता दिया है कि लोग धर्ममे उलझे रहे और उनकी इस उलझनका लाभ साधु ऋषि संत लूटा करे, उनको मुफ्तमे भक्ति मिले, आदर मिले। आत्मा नामकी कोई चीज नही है कोई लोग ऐसा कहते है। उनके इस मतव्य का निरास इस विशेषणसे हो गया है कि यह आत्मा स्वसम्वेदनगम्य है, स्पष्ट विदित है एक अहं प्रत्ययके द्वारा। भला जो आत्माको मना भी कर रहे है——मैं आत्मा नही हू, इस मना करनेमे भी कुछ ज्ञान और कुछ **अनुभव है** कि नही ? है, चाहे आत्माको मना करनेके रूपसे ही अनुभव हो। पर कुछ अनुभव हुआ ना, कुछ ज्ञान हुआ। मैं आत्मा नही हू, मैं कुछ भी नही हू, केवल भ्रम मात्र हू ऐसी भी समझ किसीमे हुई ना। यह समझ जिसमे हुई हो वही आत्मा है। जो आत्माको मना करे कि आत्मा कुछ नही है वही आत्मा है। जो आत्मा को माने कि मैं आत्मा ऐसा हू वही आत्मा है।

स्वसंवेदन प्रमाणका विषय——यह आत्मा स्वसम्वेदनके द्वारा स्पष्ट प्रसिद्ध है। यह आत्मा अमूर्तिक है, इसमे रूप, रस, गंध, स्पर्श नही है। इस कारण कोई इस बातपर अड जाय कि तुम हमको आँखों दिखा दो कि यह आत्मा है तो मैं मान लूंगा। तो यो आँखो कैसे दिखाया जा सकता है? उसमे कुछ रूप हो, लाल पीला आदि रंग हो तो कुछ आँखोसे भी दिखानेका यत्न किया जाय, पर वहा रूप नही है, चखकर भी नही बताया जा सकता है। आत्मामे रस नही है, सूँघकर भी आत्माको नही बताया जा सकता, आत्मामे गध नही है और छूकर भी, हिलाकर भी, टोटलकर भी नही बताया जा सकता है क्योकि आत्मामे स्पर्श भी नही है। यह आत्मा अमूर्तिक है, न यह इन्द्रियोका विषय है और न मनका विषय है। इसीसे लोग यह कह देते है कि आत्मा किसी प्रमाणका विषय भी नही है, परन्तु यह मंतव्य ठीक नही है।

सर्वजीवोंमें अहंप्रत्ययवेदन——भैया! मै हू, ऐसा प्रत्येक जीवमे अनुभव चल रहा है, और कोई पुरुष बाह्य विकल्पोंका परिहार करके अन्तर्मुखाकार बनकर अपने आपमे जो अनुभव करेगा, जो सत्य स्वभावका प्रकाश होगा उस सत्य प्रकाशके अनुभवको साक्षात् स्पष्ट जानता है कि लो यह मैं हू। आत्माका परिज्ञान करना सबसे महान् उत्कृष्ट पुरुषार्थ है। इस धन वैभवका क्या है? रहे तो रहे, न रहे तो न रहे। न रहना हो तो आप क्या करेंगे, और रहना हो तो भी आप क्या कर रहे है? आप तो सर्वत्र केवलज्ञान ही कर रहे है, कल्पना ही कर पाते है। कोई पुरुष बाह्य विकल्पोका परिहार करके परमविश्राम पाये तो वहाँ अपने आप ही यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मप्रकाश उपयोगमे प्रकट हो जाता है। तब इस आत्माकी सत्ता स्वत सिद्ध समझमे आती है, इस आत्माको असिद्ध कहना ठीक नही है।

तनुमात्रप्रतिपादनसे सर्व व्यापकत्वका निरसन——दूसरा विशेषण इसमे दिया गया है——आत्मा शरीर मात्र है। इसके विपरीत कुछ लोग तो यह कहते है कि यह आत्मा आकाशकी तरह व्यापक है, आकाशके बराबर फैला हुआ है। जिस प्रकार सर्वत्र आकाश विद्यमान है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र मौजूद रहता है, कही आत्माका अभाव नही है। जैसे आकाश तो एक है और घडेमे जो पोल है उसमे समाये हुए आकाशको लोग कहते है कि यह घडेका आकाश है यह कमरेका आकाश है। जैसे उन भीत और घडियालोके आवरणके कारण आकाशके भेद कर दिए जाते है लोकव्यवहारमे, इसी प्रकार इस देहके आवरणके कारण उस एक आत्माके भेद कर दिए जाते है कि यह अमुक आत्मा है, यह अमुक आत्मा है ऐसा एक मतव्य है, परन्तु वह मतव्य ठीक नही है। जो चीज एक होती है और जितनी बडी होती है उस एकमे किसी भी जगह कुछ परिणमन हो तो पूरेमे हुआ करता है। यहाँ तो भिन्न-भिन्न देहियोमे विभिन्न परिणाम देखा जा रहा है।

पदार्थके एकत्वका प्रतिबोध—यह चौकी रखी है, यह एक चीज नही है तभी तो चौकीके एक खूँटमे आग लग जाय तो धीरे-धीरे पूरी जलती है। एक पदार्थ वह होता है कि एक परिणमन जितनेमे पूरेमे नियमसे उसी समय होना ही पडे। जैसे एक परमाणु। परमाणुमे जो भी परिणमन होता है वह सम्पूर्णमे होता है। कितना है परमाणु सम्पूर्ण ? एक प्रदेशमात्र, उसे निरश कहते है। तो एक परिणमन जितनेमे नियमसे हो उतनेको एक कहा करते है। यह आत्मा सर्वत्र केवल एक ही होता तो हम जो विचार करते है, जानते है उतना जो ज्ञानका परिणमन हुआ, वह परिणमन पूरे आत्मामे होना चाहिए। फिर यह भेद क्यो हो जायगा कि आप जो जानते है सो आप ही जानते है, मै नही जान सकता। जब एक ही आत्मा है तो जो भी परिणमन किसी जगह हो वह परिणमन पूरे आत्मामे होना चाहिए, पर ऐसा होता नही है हममे सुख परिणमन हो तो वह हममे ही होता है आपमे नही जा सकता है, जो आपमे होता है हम सबमे नही जा सकता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा एक सर्वव्यापक नही है। रही आकाशकी बात। दृष्टान्तमे जो कहा गया था तो घडेमे हडेमे आकाश कुछ घडेका, हंडेका अलग-अलग नही है। आकाश तो वही एक है। कही घडेको उठाकर धर देनेसे वहाँका आकाश न रहे, घडेके साथ चला आए, ऐसा नही होता है। आकाशमे जो भी एक परिणमन होता है वह पूरे आकाशमे होता है। वह एक वस्तु है।

आत्माके अत्यन्त अल्पीयस्त्वका निरसन—कुछ लोग ऐसा कहते है कि आत्मा बटके बीजके दानेकी तरह छोटा है। जैसे बडके फलका दाना होता है तो वह सरसो बराबर भी नही है, तिलके दाने बराबर भी नही है। इतना छोटा बीज और किसीका होता ही नही है। तो बटके बीजका जितना एक दाना होता है आत्मा तो उतना ही छोटा है इस सारे शरीरमे। पर यह छोटा आत्मा रात दिन इस शरीरमे इतना जल्दी चक्कर लगाता रहता है कि हम आपको ऐसा मालूम होता है कि मै इतना बडा हू। जैसे किसी गोल चका मे तीन जगह, दो जगह आग लगा दी जाय कपडा बाँधकर और उस चकेको बहुत तेजीसे गोल-गोल घिराया जाय तो आप यह नही परख पाते है कि इसमे तीन जगह आग है। वह एक ही जगह मालूम होती है। अच्छा, चका और आगकी बात दूर जाने दो। अब जो बिजलीका पखा चलता है उसमे तीन पंखुडियां है पर जब पखा चलता है तो यह नही मालूम होता है कि इसमे तीन पंखुडिया है। वह पूरा एक नजर आता है। इससे भी अधिक वेगसे चलने वाला आत्मा यो नही विदित हो पाता है कि यह आत्मा वटके दानेके बराबर सूक्ष्म है, ऐसा एक मतव्य है। वह भी मंतव्य ठीक नही है।

आत्माके देहप्रमाण विस्तारका समर्थन—आत्माके वट बीजके बराबर छोटा होनेका

कोई कारण नही है, और यह इस तरहके चक्कर अगर लगाए तो शरीर तो बडे बेहूदे ढंग का है, दो टागे इतनी लम्बी पसर गयी हैं, २ हाथ ऐसे अलग-अलग निकल गए है, इसमे आत्मा किस तरह घूमें, कहाँ-कहाँ जाय ? यह आत्मा न तो बडके बीजके दाने बराबर छोटा है और न आकाशकी तरह एक सर्वव्यापक है किन्तु कर्मोदयानुसार जब जैसा छोटा या बडा शरीर मिलता है तो उस शरीर प्रमाण ही इस आत्माका विस्तार बनता है। इस आत्माके प्रदेशमे संकोच और विस्तार करनेकी प्रकृति है। छोटा शरीर मिला तो प्रदेश सकुचित हो गए, बडा शरीर मिला तो प्रदेश फैल गए। यह आत्मा कर्मोदयसे प्राप्त अपने-अपने शरीरके प्रमाण ही विस्तारमे रहता है।

चारुवाक्—आत्माके सम्बधमे सिद्धान्त रूपसे जो यह मान्यता है कि यह शरीर, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वोसे बनता है ऐसा सिद्धान्त मानने वालो का नाम है चार्वाक, जिसे सम्हाल करके बोलिये चारुवाक। चारु मायने प्रिय, वाक् मायने वचन, जिसके वचन सारी दुनियाको प्रिय लगे उसका नाम है चारुवाक। यदि कोई यह कहे कि क्या आत्मा और धर्मके झगडेमे पडते हो, खूब खावो, पियो, मौज उडावो और देखो इन्द्रियके विषयोमे कितना मौज है, कौन देख आया है कि क्या है आगे ? है ही कुछ नही आगे। जो कुछ है वह दिखता हुआ सब कुछ है इसलिए आरामसे रहो, खूब मौजसे रहो, कर्जा हो तो हो जाने दो मगर खूब घी शक्कर खावो। आगे न चुकाना पडेगा, जीव आगे कहाँ रहता है, ऐसी बाते सुननेमे जगतके लौकिक जीवोको तो प्रिय लगती होगी, ऐसे लौकिक वचन जिनको प्रिय लगते है उनका नाम है चारुवाक। यह तो सिद्धान्त वाली बात है, परन्तु इस सिद्धान्तका परिचय नही है तो न सही, किन्तु इस मतव्य वाले इने-गिने बिरले तत्वज्ञ साधु सतोको छोडकर सारी दुनिया इसके मतकी अनुयायी है।

नास्तिकता—भैया ! यो तो नामके लिए कोई जैन कहलाए फिर भी इन जैनोमे जैसे मानो आज संख्या लाखोकी है तो उन जैनोमे व्यावहारिक रूपसे और मतव्यके रूपमे चारुवाककी श्रेणीमे अधिक होगा। और भी जितने धर्म मजहब है उनमे भी चारुवाक भरे पडे है। जो आस्तिक नही है वे सब चारुवाक है। यहाँ आस्तिकका अर्थ है पदार्थकी जिसकी जैसी सत्ता है, अस्तित्व है उसे जो माने उसका नाम आस्तिक है, और जो पदार्थका अस्तित्व न माने उनका नाम नास्तिक है। यह तो मनगढत परिभाषा है कि जो हमारे शास्त्रोको न माने सो नास्तिक। जो हमारे वेदोको न माने सो नास्तिक, जो हमारे कुरानको न माने सो नास्तिक। हर एक कोई अपना-अपना अर्थ लगा ले, कोई काफिर शब्द कहता है, कोई नास्तिक शब्द कहता है, कोई मिथ्यादृष्टि शब्द कहता है, ये सब एकार्थक शब्द है। नास्तिक का अर्थ यह नही है कि जो मेरे मतकी बात न माने सो नास्तिक, किन्तु नास्तिकका अर्थ

है पदार्थकी जैसी सत्ता है, अस्तित्त्व है उस अस्तित्त्वका न होना माने सो नास्तिक है। नास्तिक शब्दमे कहाँ लिखा है यह कि वेदको या अमुक मजहबको या इस पुराणको न माने सो नास्तिक। उसमे दो ही तो शब्द है, न और अस्ति। जैसा जो अस्ति है उसे न माने सो नास्तिक।

लौकायतिकता— चारुवाक सिद्धान्तमे यह मत बना है कि आत्मा कुछ नही है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके संयोगसे एक नवीन शक्ति प्रकट हो जाती है जिसे लोग जीव कहते है। जैसे महुवा और कोदो आदिक जो मादक पदार्थ है उनका सम्पर्क हो, वे सडें गले तो एक मादक शक्ति पैदा हो जाती है जिसके सेवनसे, नशाजनक उन्मादक पदार्थोंके प्रयोग से मनुष्य पागल हो जाता है। तो जैसे शराब कोदोमे नही भरी पडी है, कोदोको लोग खाते है, उसके चावल खाते है, रोटी खाते है, कोदोमे कहाँ शराब है पर कोदो और अन्य-अन्य पदार्थोंको मिला दिया जाय तो विधिपूर्वक उन पदार्थोंका सयोग होनेसे शराब बन जाती है, ऐसे ही पृथ्वीमे समझ नही है, जलमे चेतना नही है, अग्निमे नही है, वायुमे नही है, पर इसका विधिपूर्वक संयोग हो जाय तो चेतना शक्ति प्रकट हो जाती है, ऐसा चारुवाकका सिद्धान्त है।

चार्वाकसिद्धान्तमें आत्मविनाशकी विधि—चार्वाक मन्तव्यमे यह धारणा जमी हुई है कि पृथ्वी आदि बिखरे कि चेतना मूलसे खतम हो गई। पृथ्वी पृथ्वीसे मिल गयी, अग्नि अग्निमे, जल जलमे, वायु वायुमे, चेतना समाप्त। बच्चे लोग जब अपनी धोती सुखाते है तो ऐसा बोलते है कि कुवाका पानी कुवामे जाय, तलाका पानी तलामे जाय, ऐसा काम बच्चे लोग कलासहित करते है। सीधे काम करनेकी उनकी प्रकृति नही है। तो जैसे उन बच्चोका मतव्य है कि हमारी धोतीमे तलाका पानी चिपका है जिससे गीली है तो तलाका पानी तलामे चला जाय ऐसे ही इस चारवाक बच्चेका यह मतव्य है कि इस मुझमे जो अश जहाँका हो पृथ्वी तत्त्व, जल तत्त्व जो मुझमे शामिल हो वे तत्त्व बिखर जायेगे तो आत्मा मिट गया। कितने ही लोग मरना चाहते है और कितने ही लोग जीना चाहते है। कुछ सुखभरी जिन्दगी हो तो अच्छा है और क्लेशकारी जिन्दगी हो तो मरना अच्छा है। उनका जीना भी मुफ्त है और मरना भी मुफ्त है अर्थात् मरकर भी कुछ न रहेगा।

अत्यय शब्दका भाव—विनाशवादी लोग इस आत्माका अस्तित्त्व नही मानते है। वे जानते है कि गर्भसे लेकर मरने तक ही यह जीव है आगे यह जीव नही है। इस मंतव्यका खण्डन करनेके लिए इस श्लोकमे निरत्यय: शब्द दिया है। आत्माकी जानकारीके लिए यह ५ विशेषणोका विवरण चल रहा है जिसमे तीसरा विशेषण है निरत्यय। आत्मा अविनाशी है। अत्यय का अर्थ है अतिक्रान्त हो गया है अय मायने आना जहाँ याने अत्यय अभाव

को कहते हैं। अत्यय न हुआ जहाँ उसका नाम है निरत्यय। लोग निरत्यय:का अर्थ सीधा नष्ट हो जाना कह देते हैं। ठीक है, निरत्ययका अर्थ है नष्ट होना। किन्तु नष्ट होनेमे होता क्या है ? तो नष्ट होनेका यह अत्यय जो नाम है उसमे यह मर्म पडा है कि इसमे अब परिणमन न होगा। जब तक परिणमन है तब तक पदार्थ है। जब परिणमन ही न हो तो पदार्थ ही कहाँ रहेगा ? न हो परिणमन तो मूलमे नाश हो गया। यह कठोर शब्द है अत्यय। विनाश शब्दके जितने पर्यायवाची शब्द है उन सबमे यह बडा कठोर शब्द है।

विलय शब्दका भाव—विनाशका पर्यायवाची शब्द विलय है, किन्तु विलय शब्द कठोर नही है। पर्यायका विलय हो गया अर्थात् पर्याय विलीन हो गयी। पर्याय द्रव्यमे समा गयी–इसका कुछ सत्त्व रखा, कठोरता नही वर्ती, और होता भी यही है विनाशमे कि नवीन पर्याय द्रव्यमें विलीन हो जाती है। जैसे एक बुढिया रहटा कातती थी। उसका तकुवा टेढा हो गया तो उसे लेकर वह लोहारके पास पहुची, बोली कि इस तकुवाकी टेढ निकाल दोगे ? बोला हाँ निकाल देगे, दो टके (चार पैसे) लेंगे। ठीक है। लोहारने उसे सीधा कर दिया, टेढ निकल गयी। तो जब लोहार उसे देने लगा तो कहा कि अब लावो २ टके पैसे। तो बुढिया बोली कि तुमने जो इस तकुवेकी टेढ निकाली है वह हमारे हाथमे दे दो तब अपने टके ले लो। अब लोहार बडा हैरान हुआ। सोचा कि कैसे इस तकुवेकी टेढको इसके हाथमे दे दें ? हाँ वह ऐसा कर सकता है कि उस तकुवेको फिर टेढा कर दे। सोचा कि इस तकुवेके टेढा करनेमे हेरान भी हो तो भी यह हमारे दो टके न देगी। तो जैसे वहाँ यह बतावो कि तकुवामे जो टेढ थी वह गयी कहाँ ? उस तकुवेसे निकलकर कहीं बाहर गयी है क्या ? अथवा वह टेढ तकुवामे अब भी धसी हुई है क्या ? न टेढ बाहर गयी है, न टेढ तकुवेमे धंसी है तो हुआ क्या उसका ? टेढ तकुवामे विलीन हो गयी। न यहाँ दूर होनेकी बात कही, न तकुवामे रहनेकी बात कही और दोनोकी बात कह दी। तो विनाशका अर्थ विलीन भी है पर यह कोमल प्रयोग है।

आत्माकी निरत्ययरूपता—यह चार्वाक विलय शब्द जैसे कोमल प्रयोगको भी राजी नही है, वह मानता है अत्यय। जहाँ अय होता ही नही है, अयसे अतिक्रान्त हो गया, अयसे ही पर्यय शब्द बना है, पर्यय और पर्याय दोनोका एक ही अर्थ है। जैसे मन पर्यय ज्ञान। तो कही इस परिणमनका नाम पर्यय भी रख दिया है, कही इसका नाम पर्याय भी रख दिया है। आचार्य कहते है कि आत्मा निरत्यय है, उसका अभाव नही होता है, विनाश नही होता है। यह द्रव्यरूपसे नित्य है। कुछ भी परिणमन चलो, व्यक्त हो, अव्यक्त हो वह परिणमन जिस स्रोतभूत द्रव्यके आधारमे होता है वह द्रव्य शाश्वत रहता है। आत्मा द्रव्य रूपसे नित्य है। यद्यपि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे आत्मा प्रतिक्षण विनाशीक है, फिर भी

द्रव्यदृष्टिसे देखो तो शाश्वत वहीका वही है । पर्यायदृष्टिसे देखनेपर ही प्रतीत होगा कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे प्रतिसमय नवीन-नवीन परिणमन करता है, वह नवीन परिणमन पूर्व परिणमनसे अत्यन्त विलक्षण नही है अथवा समान हो तो वहाँ यह परिचय नही हो पाता कि इस पदार्थमे कुछ बदल हुई ।

पर्यायदृष्टिमें क्षणिक रूपता—परमात्माका केवलज्ञान जैसा शुद्ध परिणमन भी केवल-ज्ञान भी परमार्थत प्रतिक्षण नवीन नवीन परिणमनसे रहता है, यद्यपि वह अत्यन्त समान है, जो पूर्वसमयमे विषय था केवलज्ञानका वहीका वही उतनाका ही उतना अगले-अगले समयमे विषय रहता है फिर भी परिणमन न्यारा-न्यारा है । जैसे बिजलीका बल्ब १५ मिनट तक रोशनी करता रहा और पूरे पावरसे बिजली है, उसमे कुछ कमीबेशी नही चल रही है, बिल्कुल एकसा प्रकाश है । इस बल्बने जो एक मिनट पहिले प्रकाशित किया था वही का वही प्रकाश दूसरे मिनटमे भी प्रकाशित है फिर भी पहिले मिनटकी बिजलीका पुरुषार्थ पहिले मिनटमे था, दूसरे मिनटमे नया पुरुषार्थ है, नई शक्तिका परिणमन है, विषय भले ही समान है किन्तु परिणमने वाला पदार्थ प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायसे परिणमता है । यो पहिले समयकी पर्याय अगले समयमे भी नही रहती है, इतना क्षणिक है समस्त विश्व, लेकिन यह पर्यायदृष्टिसे क्षणिक है ।

विभावपरिणतिकी क्षणिकरूपता—संसारी जीवमे किसी वस्तुविषयक प्रेम हुआ, राग परिणमन हुआ तो जब तक वह राग अन्तर्मुहूर्त तक न चलता रहे, न बनता रहे तब तक हम आपके ज्ञानमे नही आ सकता । हम जिस रागका प्रयोग करते है, जिस रागसे प्रभावित होते है वह एक समयका राग नही है । कोई भी संसारी प्राणी एक समयके राग से प्रभावित नही होता, किन्तु असंख्यात समय तक वह राग राग चलता रहे तब हमारे उपयोगमे, ग्रहणमे आता है और हम प्रभावित होते है, फिर भी उपयोगके विषयभूत उस रागपर्याय समूहमे प्रतिक्षण जो राग परिणमन है वह प्रतिसमयका एक-एक परिणमन है, किन्तु वह एक समयके परिणमन प्रभुके ज्ञान द्वारा जाने जा सकते है, क्योकि उनका केवलज्ञान निरपेक्ष असहाय होता हुआ प्रति समयकी परिणतिको जानने वाला है, पर छद्-मस्थ जीव एक समयके रागपरिणमनको ग्रहण नही कर सकते । यो उपयोग द्वारा जान भी नही सकते । यद्यपि इस ही उपयोगसे हम रागके एक समयकी चर्चा कर रहे है । समयवर्ती राग होता है, हम चर्चा कर रहे है, पर विशद परिचय नही हो सकता । हम छद्मस्थ जान लेते है युक्तियोसे, आगमसे, पर जिसे अनुभवमें आना कहो, परिचयमे आना कहो वैसा एक समयका राग परिचयमे आ ही नही सकता, किन्तु होता है अवश्य प्रतिसमयमे परिणमन और एक समयका परिणमन दूसरे समय रहता नही है ।

परिणमनके आधारकी ध्रुवता--प्रतिक्षण परिणामी क्षणिक है यह आत्मा और समस्त पदार्थ, परन्तु परिणमन दृष्टिसे यह क्षणिकता है। अत्यय नही हो गया उसका, पर्यायोका आना नही खतम हुआ है, पर्याये चलती ही रहेगी। एक पर्याय मिटनेके बाद उसमे दूसरी पर्याय आती है, तो जिसमे पर्याय आयी वह पदार्थ शाश्वत है। यह आना जाना किसपर हुआ ? वह पदार्थ ही कुछ न हो, मात्र परिणमन ही हो सब, तो सिद्धि नही हो सकती। क्षणिकवादी लोग परिणमनको ही सर्वस्व पदार्थ समझते है परन्तु परिणमनका आधार अवश्य हुआ करता है और वह अविनाशी है। इस प्रकार यह आत्मा किन्ही बाह्य चीजोसे उत्पन्न नही हुआ है किन्तु यह अविनाशी ध्रुव पदार्थ है।

आत्मा आनन्दमयता व ज्ञानस्वरूपता—चौथे विशेषणमे कहा है कि यह आत्मा सुखमय है कोई मतव्य ऐसे है कि आत्मामे सुख नामका गुण ही नही मानते किन्तु कलक मानते है, इसी प्रकार ज्ञान नामका गुण ही नही मानते किन्तु कलंक मानते है। इस सुख का और इस ज्ञानका जब विनाश होगा तभी मोक्ष मिल सकेगा, ऐसा मतव्य है। वर्तमान परिचयकी दृष्टिसे उन्होने इसकी शुद्धता मानी है, क्योकि लौकिक सुख और लौकिक ज्ञान इन दोनोसे ज्ञानी पुरुष परेशानी मानता है। ज्ञानी तो शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्दको ही उपादेय मानता है। आत्माका ज्ञान और सुख दोनो ही स्वरूप है, इसी कारण यह आत्मा अनन्त सुखवान है और लोक अलोक समस्त पदार्थोका जाननहार है। इस प्रकार यह आत्मा जिसके ध्यानसे सहज आनन्द प्रकट होता है वह आत्मा स्वसम्वेदनगम्य है, शरीर मात्र है अर्थात् शरीर प्रमाण है, अविनाशी है, सुखस्वरूप है और समस्त लोकालोकका जाननहार है, ऐसे परमात्मतत्त्वमे जो आदर करता है वह विवेकी पुरुष है।

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतस ।
आत्मानमात्मवानध्यायेदात्मनैवात्मनात्मनि ॥२२॥

आत्मामें अभेद षट्कारकता—पूर्व श्लोकमे आत्माका अस्तित्व प्रमाणसिद्ध बताया है। प्रमाणसिद्ध आत्माके परिज्ञान होने पर अब यह उत्सुकता होती है कि इस आत्माकी उपासना किस प्रकार करना चाहिए, उसके उपासनाकी विधि इस श्लोकमे कही जा रही है। कल्याणार्थी आत्मा इन्द्रियके विषयोको सयत करके रोक करके एकाग्रचित्त होकर अपने आत्मामे स्थित अपने आत्माको अपने आत्म उपयोग द्वारा ध्यान करे। आत्माके परिज्ञानमे आत्मा ही तो कारण है और आत्मा ही आधार है। जानने वाला भी यह आत्मा स्वय है और जिसको जाना जा रहा है वह आत्मा भी स्वयं है। जिसके द्वारा जाना जा रहा है वह करण भी स्वय है और जिसमे जाना जा रहा है वह आधार भी स्वयं है। इसके चार कारकोका वर्णन आया है। साथ ही दो कारकोका भी मतव्य गर्भित है कि

जिससे जाना जा रहा है अर्थात् जानन किया, क्षणिकरूपमे उपस्थित होकर ज्ञानने जिस ध्रुव पदार्थका सकेत किया वह अपादानभूत आत्मा भी स्वयं है और जिसके लिए जाना जा रहा है वह प्रयोजन भी स्वय है।

अभेदषट्कारतापर एक दृष्टान्त—जैसे कोई साँप लम्बा अपने शरीरको कुडलिया बनाकर गोलमटोल करके बैठ जाय तो वहाँ कुडलियाँ रूप कौन बनता है ? सांप, और किसको कुंडली बनाता है ? अपनेको, और किस चीजके द्वारा कुन्डली बनाता है ? अपने आपके द्वारा, और कुन्डली बनानेका प्रयोजन क्या है, किसके लिए कुण्डलीरूप बनाता है ? अपने आपके आरामके लिए, अपने आपकी वृत्तिके लिए कुन्डली बनाता है, और यह कुन्डली बनाने रूप परिणामन जो कि क्षणिक है अर्थात् अभी बनाया है, कुछ समय बाद मिटा भी देगा, सो कुँडलियाँरूप परिणामन किस पदार्थसे बनाता है ? उस परिणामिमे ध्रुव पदार्थ क्या है ? तो दृष्टान्तमे वह सर्प स्वय ही है। और यह कुन्डली बनी किसमे है ? उस साप मे ही है। जैसे वहाँ अभेदकारक स्पष्ट समझमे आता है इससे भी अधिक स्पष्ट ज्ञानियोकी दृष्टिमे आत्माके अभेदकारकत्वपना अनुभवमे आता है। यह आत्मा स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे साक्षात् अनुभव करनेके योग्य है।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षके उद्योगके उपाय—वह स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष कैसे बने, उसका उपाय है इस सहज आत्मस्वरूपकी एकाग्रता करना। इस आत्मतत्त्वपर एकाग्ररूपसे बना हुआ उपयोग आत्माका स्वसम्वेदन करा देता है। चित्तकी एकाग्रताके उपाय है कषायोकी शान्ति करना। जब तक कषाये शान्त नही होती है चित्त एकाग्र नही होता है। कषायोके शाँत किए बिना लौकिक पदार्थोके उपयोगमे भी एकाग्रता नही रहती, फिर शान्तस्वभावी निज आत्मतत्त्वके उपयोगमे स्थिरता तो कषायोके शाँत किए बिना असम्भव है, अतः एकाग्रता करनेके लिए कषायोकी शान्ति आवश्यक है। कषाय दब जाय, शान्त हो जाय, साथ ही कषाय शमनके लिए इन्द्रियका दमन आवश्यक है। ये इन्द्रियाँ उद्दण्ड होकर अपने विषयोमे प्रवृत्त हो रही है अर्थात् यह उपयोग इन्द्रियके विषयोमे आसक्त हो रहा है, उनसे यह सुख मानता है और उसमे ही हित समझता है, ऐसे इन्द्रिय विषयकी प्रवृत्तिमे चित्तका अस्थिर होना प्राकृतिक बात है। और कषाय बढते रहना भी प्राकृतिक है इसलिए इन्द्रिय के दमनकी भी प्रथम आवश्यकता है। जो जीव इन्द्रियका दमन नही कर सकता वह चित्त को एकाग्र नही बना सकता। इसलिए इन्द्रियके विषयोका निरोध भी आवश्यक है। जब इन्द्रियके विषयोका निरोध हो जाय तो आत्मामे समता परिणाम जाग्रित होता है। इस समता परिणामका ही नाम आत्मबल है। जहाँ यह आत्मबल प्रकट हुआ है वहाँ उपयोग स्थिर है, यो उपयोगको एकाग्र करके स्वसम्वेदन प्रत्यक्षके द्वारा यह आत्मा अनुभवमे

आता है ।

आत्मामें स्वपरप्रकाशकताका स्वभाव—इस आत्मामे स्वपरप्रकाशकताका स्वभाव पडा हुआ है । जैसे दीपक स्वपरप्रकाशक है ऐसे ही आत्मा स्वपरका जाननहार है । जैसे कमरेमे दीपक जलता हो तो कोई यह नही कहता कि दीपकको ढूंढनेके लिए मुझे दूसरा दीपक दो या बैटरी दो, ऐसे ही यह आत्मा परपदार्थोका भी प्रकाशक है और साथ ही अपने आपका भी प्रकाशक है । इस कारण आत्माके जाननेके लिए अन्य साधनोकी आवश्यकता नही रहती है । जैसे जलते हुए दीपकको ढूंढनेके लिए अन्य दीपककी आवश्यकता नही रहती इसी प्रकार आत्माको जाननेके लिए भी अन्य पदार्थकी, अन्य साधनोकी आवश्यकता नही रहती है । तब जो पुरुष आत्माका ज्ञान चाहते है उन्हे प्रथम तो यह विश्वास करना चाहिए कि मै अपने आत्माका ज्ञान बडी सुगमतासे कर सकता हू क्योकि आत्मा ही तो स्वयं ज्ञानमय है और उस ज्ञानमय स्वरूपसे ही इस ज्ञानमय आत्माको जानना है । इस कारण मैं आत्माका सुगमतया ज्ञान कर सकता हू ।

आत्मपरिज्ञान व धर्मपालनमें परकी निरपेक्षता—भैया ! आत्माके परिज्ञानके लिए अन्य पदार्थोकी चिन्ता नही करनी है । मैं कैसे आत्माका ज्ञान करूँ ? मेरे पास इतना धन नही है कि आत्माके ज्ञानकी बात बनाऊँ । आत्माके ज्ञानमे धनकी आवश्यकता नही है । जैसे कुछ लोग धर्मधारणके प्रसगमे कहने लगते है कि हमारे धनकी स्थिति कुछ अच्छी होती तो हम जरूर धर्म पालते, प्रतिमा पालते, पर धर्मके धारणमे आर्थिक स्थितिकी पराधीनता है कहाँ ? धर्म किसे कहते है, वह धर्म तो समस्त परपदार्थोसे विविक्त होकर ही प्रकट होता है । जैसे लोग कह देते है कि शुद्ध खानपानके लिए कुछ विशेष पैसेकी जरूरत पडती है । शुद्ध घी बनाना है, शुद्ध आटा तैयार करना है तो कुछ धन ज्यादा लगेगा तब शुद्ध भोजन किया जायगा और धर्मपालन होगा, ऐसा सोचते है लोग, परन्तु पदार्थोके शुद्ध बनानेमे कुछ अधिक व्यय नही होता । खाना तो उसे था ही, खाता वह अशुद्ध रीतिसे, पर शुद्ध रीतिके भोजनमे कुछ धनकी सापेक्षता विशेष नही हुई है, भोजनमात्रमे जो सापेक्षता है उतने ही व्ययकी अपेक्षा शुद्ध भोजनमे है, परिश्रमकी थोडी आवश्यकता हुई है । धर्मपालन धनके आधीन नही है । फिर अध्यात्म धर्मपालनमे जो वास्तविक धर्मपालन है उसमे तो धनकी रच भी आवश्यकता नही होती है ।

आत्मज्ञानमें परद्रव्यकी अटकका अभाव—जो लखपति करोडपति पुरुष हैं वे आत्मा का ज्ञान जल्दी कर ले और गरीब न कर पाये ऐसी उलझन आत्माके ज्ञानमे नही है । बल्कि अमीर पुरुष, लखपति करोडपति पुरुष प्राय धनकी ओर आकृष्ट होगा, धनकी तृष्णामे रत रहेगा, उसे आत्मज्ञान होना कठिन है, और कष्टमे, दरिद्रतामे पडा हुआ पुरुष चूँकि अपने

चित्तकी लम्बी छलाग नही मारता है अत· उसे आत्मज्ञान होना सुगम है। आत्माका ज्ञान स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे होता है। अत अपने आपको अपने आपके द्वारा अपने आपमे अपने आपके सहज स्वरूपके रूपमे ध्यान करते रहना चाहिए। बाह्यपदार्थोका विकल्प टूटे तो स्वरसत· स्वयं ही अपने आत्माका प्रतिबोध होता है।

आत्मपरिज्ञानार्थ स्वरूपप्रतिबोधकी आवश्यकता—यह आत्मपरिज्ञान बने, इसके लिए पदार्थविषयक स्वरूपका स्पष्ट प्रतिबोध होना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, गुण, पर्यायस्वरूप है। पदार्थके जाननेके प्रसगमे पदार्थका द्रव्यत्व, पदार्थकी शक्ति और पदार्थका परिणमन जानना आवश्यक है। उदाहरणमे जैसे यह मैं आत्मा आत्मद्रव्यत्व, आत्मशक्ति और आत्मपरिणमनसे युक्त हू।

आत्मामें गुण व पर्यायके परिज्ञानकी पद्धति—आत्मपरिणमनका परिज्ञान बहुत सुगम है क्योकि वह स्पष्ट रूप है। रागद्वेषादिक हो रहे हो अथवा वीतरागता बन रही हो वह सब आत्माका परिणमन है। ये समस्त आत्माके परिणमन अपनी शक्तिके आधारसे प्रकट होते है, अर्थात् जितन प्रकारके परिणमन है उतने प्रकारकी शक्ति पदार्थमे जानना चाहिए। कोई भी परिणमन उस परिणमनकी शक्तिसे ही तो प्रकट हुआ है। जैसे आत्मामे जानन परिणमन होता है तो जाननकी शक्ति है तभी जानन परिणमन होता है, और यह जानन परिणमन जानन शक्तिका व्यक्त रूप है। यह विशिष्ट जानना नष्ट हो जायगा फिर और कुछ जानना बनेगा, वह भी नष्ट होगा। अन्य कुछ जानन बनेगा, इस प्रकार जानन परिणमनकी सतति चलती जाती है। वह सतति किसमे बनी है ? जिसमे बनी है वह है ज्ञानशक्ति, ज्ञानस्वभाव, ज्ञानगुण। तो जैसे जाननकी परिणतिका आधारभूत ज्ञानगुण है ऐसे ही आनन्दकी परिणतिका आधारभूत आनन्दगुण है। किसी भी प्रकारके विश्वासका आधारभूत श्रद्धा ज्ञानगुण है, क्रोधादिक कषायोका अथवा शान्त परिणमनका आधारभूत चारित्रगुण है। इस प्रकार जितने भी प्रकारके परिणमन पाये जाते है उतनी ही आत्मामे शक्तियाँ है, उनका ही नाम गुण है।

आत्मपदार्थकी द्रव्यरूपता—इन गुण और पर्यायोका आधारभूत द्रव्यपना भी इस आत्मामे मौजूद है। जो गुण पर्यायवान हो वह द्रव्य है, जो द्रव्यकी शक्ति है वह गुण है और उन गुणोका जो व्यक्त रूप है वह पर्याय है। यो आत्मपदार्थ द्रव्यत्व, गुण और पर्याय से युक्त है।

आत्मज्ञानमें स्वसंवेदनकी विधि—प्रत्येक पदार्थ अपने आपके ही द्रव्य गुण पर्यायसे है, किसी अन्यके द्रव्य गुण पर्यायसे नही है। अब यहाँ अन्य द्रव्य, अन्य गुण, अन्य पर्यायका विकल्प तोडकर केवल आत्मद्रव्य, आत्मगुण और आत्मपर्यायका ही उपयोग रखे तो चूंकि

वही ज्ञाता, वही ज्ञेय और वही ज्ञान भी बन जाता है तो वहाँ स्वसम्वेदन प्रकट होता है। और स्वसम्वेदनमे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यह मै आत्मा हू, ऐसे आत्मपदार्थके उपयोगमे चित्तकी एकाग्रता होती है।

चित्तकी एकाग्रतामें प्रगति—चित्तकी एकाग्रता होनेसे इन्द्रियका दमन होता है। जो लोग बेकार रहते है, जिन्हे कोई काम काज नही है, न कोई अपूर्व-अपूर्व कार्य करनेकी धुन है ऐसे निठल्ला पुरुष इन्द्रियके विषयोका शिकार बने रहने है। करे क्या वे ? उपयोग यदि शुद्ध तत्त्वमे नही रहता है तो यह बाहरमे विषयोमे अधिक बढेगा। इन्द्रियका दमन परमार्थ तत्त्वकी एकाग्रता बिना वास्तविक पद्धतिमे नही हो सकता है। जब इन्द्रियका दमन न होगा, चित्तकी एकाग्रता न होगी तो मन विक्षिप्त रहा, यत्र तत्र डोलने वाला रहा तो मनकी इस विक्षिप्तताके होनेपर स्वानुभव हो नही सकता। अत आत्माके अनुभवके लिए श्रुतज्ञानका आश्रय लेना परम आवश्यक है। वस्तुके सही स्वरूपका परिज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है।

शुभ उपयोगोंका प्रगतिमें सहयोग—भैया! पहिले श्रुतज्ञानका आलम्बन करके अर्थात् वस्तुस्वरूपकी विद्या सीखकर आत्माको जाने। पीछे उस आत्माके जाननेकी निरन्तरतासे आत्माका अनुभव करे। जो पुरुष आत्माका द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे, पर्यायरूपसे ज्ञान नही करते है वे आत्मस्वभावको नही जान सकते है। इस कारण ये शुभोपयोग हमारे पूर्वापर अथवा एक साथ चलते रहना चाहिए। इन्द्रियका दमन करे, पचेन्द्रियके विषयोसे विरक्त रहे और क्रोधादिक कषायोको शान्त करे, श्रुतज्ञानका, तत्त्वज्ञानका अभ्यास बनाए रहे, इन सब पुरुषार्थोके प्रतापसे एक परम आनन्दकी छटा प्रकट होगी। ज्ञानस्वरूप यह मैं आत्मा अपने आपके द्वारा ज्ञानमे आऊँगा। आत्माकी इस तरहकी अभेद उपासनासे अनुभूति होती है।

आत्मकल्याणके लिये आत्माश्रयकी साधना—आत्माका परिज्ञान आत्माके ही द्वारा होता है। ऐसा निर्णय करके हे कल्याणार्थी पुरुषों, आत्मज्ञानके लिए अन्य चिन्तावोको त्याग दो और आत्मज्ञानमे ही सत्य सहज परम आनन्द है ऐसा जानकर उस शुद्ध उत्कृष्ट आनन्दकी प्राप्तिके लिए परपदार्थोकी चिन्ताका त्याग कर दो। ज्ञान और आनन्द आत्मामे सहज स्वय ही प्रकट होता है। जितना हम ज्ञान और आनन्दके विकासमे लिए परपदार्थोका आश्रय लेते है और ऐसी दृष्टि बनाते है कि मुझे अमुक पदार्थसे ही ज्ञान हुआ है, अमुक पदार्थसे ही आनन्द मिला है, इस विकल्पमे तो ज्ञान और आनन्दका घात हो रहा है। एक प्रबल साहस बनाए और किसी क्षण समस्त परपदार्थोका विकल्प छोडकर परम विश्रामसे अपने आपका सहज प्रतिभास हो तो ऐसे आत्मानुभवमे जो आनन्द प्रकट होता है उस

आनन्दमे ही यह सामर्थ्य है कि भव भवके बाँधे हुए कर्मजालोको यह दूर कर सकता है। यो आत्माकी उपासनाका अभेदरूप उपाय बताया गया है।

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिद वच.॥२३॥

ज्ञान और अज्ञानके आश्रयका परिणाम—अज्ञानीकी उपासनासे अज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानीकी उपासनासे ज्ञानकी प्राप्ति होती है, क्योकि संसारमे यह बात प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो है वह वही तो दे सकेगा। अज्ञानी मोही पुरुषोकी सगति करके तो आकुलता, विह्वलता, ममता, मूढता आदि ये सब ऐब प्राप्त होगे और कोई ज्ञानीकी सगति करे तो उसमे शुद्ध आनन्द, शुद्ध बुद्धि, शुद्ध आचार विचार और शान्ति प्रकट होगी। परमार्थसे कोई पुरुष किसी दूसरेका आश्रय नही करता है। प्रत्येक प्राणी अपने आपका ही सहारा लिया करता है। जिस प्राणीका चित्त परकी ओर है तो उसके उपयोगमे केवल परपदार्थ विषय है, क्योकि परसे सहारा लेनेकी कल्पना की। परतु कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका सहारा पा ही नही सकता है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप है।

ज्ञान और अज्ञानके आश्रयका विवरण—जो पुरुष ज्ञानियोकी संगति करता है उसने उपचारसे तो ज्ञानियोकी सगति की, पर परमार्थसे उसने अपने ज्ञानकी सगति की। अपने ज्ञानका ही सहारा लिया, यह बात है। अपनेको ज्ञानस्वरूपमे देखे तो ज्ञान मिलेगा और अपनेको अज्ञानस्वरूप निरखे तो अज्ञान मिलेगा। मै मनुष्य हूँ, कुटुम्ब वाला हूँ, धनवाला हू, इज्जत वाला हूँ, साधु हूँ, गृहस्थ हूँ आदिक रूपसे निरखे तो अज्ञानरूपमे देखा क्योकि जितनी बाते अभी कही गयी है उनमे एक भी चीज इस आत्माका स्वरूप नही है। जो आत्माका स्वरूप नही है उस रूप अपने आपको देखे तो उससे अज्ञान ही प्रकट होगा। यदि अपनेको शुद्ध ज्ञान ज्योतिमात्र निरखे, इसका किसी अन्यसे सम्बध नही है, यह मात्र केवल निज ज्ञानस्वरूप है। सबसे न्यारा स्वतत्र, परिपूर्ण जैसा स्वय है तैसा अपनेको देखे तो उससे ज्ञान प्रकट होगा।

कल्पनाजालका क्लेश—भैया! जितने भी जीवको समागम मिले है वे समस्त समागम मिटेगे, झक मारकर छोडने पड़ेगे, लेकिन पदार्थ पहिलेसे ही छूटे हुए है। मै सबसे न्यारा हू, ऐसा ज्ञानका पुरुषार्थ करे और ममताका परिहार कर दे तो उसका भला है। और कोई न कर सके ऐसा तो संसारमे नही रुलेगा। जीवपर सकट केवल मोहका है दूसरा कोई सकट नही है लेकिन ऐसा ही सस्कार बना है कि जिसके कारण जितना जो कुछ मिला है और जितना मिलनेकी आशा है उसमे कोई बाधा पड जाय तो बडा क्लेश मानता है। किसी व्यापारमे यह ध्यान हो गया कि इसमे तो इतनेका टोटा हो गया तो यह पछतावा

करता है। सोचता है कि इसे कल ही बेच देते तो ठीक था। अब मैं इतने घाटेमे हो गया हू। अरे चीज वहीकी वही घरमे है, घाटा तो कल्पनाका है।

उदारताका अवसर—कल्पना करो कि जितनी जिसके पास जायदाद है उससे चौथाई ही होती तो क्या वे गुजारा न करते ? मिल गयी है अब सुकृतके उदयवश तो उसे यो जानो कि यह उपकारके लिए मिली है। भोग विषय मौजके लिए नही है। उस सम्पत्ति का उपयोग अपने विषयोके खातिर न करें। अपना जीवन तो वैसे ही रखें, जैसे कि अन्य गरीब लोग रखते है, और दिलमे उदारता वर्ते तो उसे कभी बेचैनीका प्रसंग न आयगा। पहिले लोग ऐसे ही उदार होते थे। महिलावोमे भी किसी घरमे यदि कोई बहू विधवा हो जाय तो उस घरकी जेठानी, सास, बडे लोग सभी सात्विक वृत्तिसे रहते थे। वे महिलाएँ सोचती थी कि यदि हम लोग शृगार करेगी तो बहूके दिलमे धक्का लगेगा। इतनी उदारता उनमे प्रकृत्या होती थी, और भी इसी प्रकारकी गृह सम्बधी उदारताएँ होती थी।

उदारताकी एक घटित पद्धति—पूर्वजोमे सामाजिक उदारताएँ भी अपूर्व ढगकी थी। समाजका कोई काम बनाना हो तो अपना अपयश करके भी उस कामको बनानेकी धुन रखते थे। एक किसी नगरका जिक्र है कि पचायतके प्रमुखने एक नियम बना दिया कि मदिरमे कोई महिला रेशमकी साडी पहिनकर न आये। तो यह बात चले कैसे ? जो रिवाज चला आ रहा था वह मिटे कैसे ? उसमे कोई क्राति वाली घटना जब तक सामने न आये तो असर नही पडता, सो उस प्रमुखने अपनी स्त्रीसे कह दिया कि कल तुम रेशमकी साडी पहिनकर खूब सज धजकर जाना मदिर। वह गयी मदिर, और फिर प्रमुखने उसे ऐसा ललकारा कि यह कौन डाइन, वेश्या इस मदिरमे रेशमकी साडी पहिनकर आयी ? ऐसे शब्द सुनकर मालिन बोली, हजूर आपके ही घरसे है ऐसा न कहिये। तब प्रमुखने कहा हम कुछ नही जानते, ५०) रु० जुर्माना। तबसे फिर समाजपर प्रभाव पडा। वह रेशमकी साडी पहिनकर आने वाली बात बद हो गयी। तो उदारताकी बात पहिले इस प्रकार विचित्र पद्धतिकी थी।

पारमार्थिक उदारता—अपनेको ज्ञानस्वरूप समझना, अकिञ्चन मानना, केवल स्वरूपसत्तामात्र अपने को निरखना, एक भी पैसेका अपनेको धनी न समझना, एक अणु भी मेरा नही है ऐसी अपनी बुद्धि बनाना इससे बढकर उदारता क्या होगी ? सम्यग्ज्ञानमे सर्वोत्कृष्ट उदारता भरी हुई है, मगर कहने सुनने मात्रका ही सम्यग्ज्ञान नही होता है, उस का कुछ प्रेक्टिकल प्रयोग हो तब समझा जाय कि हां इसके ऐसा ही सम्यग्ज्ञान है। सर्व परभावोसे रहित ज्ञानमात्र मै आत्मा हूँ, अकेला हू, सबसे न्यारा हूँ, मेरे करनेसे किसी दूसरे का कुछ होता नही, अत्यन्त स्वतत्र मै आत्मा हूँ—ऐसा केवल अपने अद्वैत आत्माका अनुराग

हो तो वह पुरुष वास्तवमे अमीर है, सुखी है, पवित्र है, विजयी है, और जो बाहरी पदार्थो मे आसक्ति लगाए हुए है, कितना ही धनका खर्च है, कितने ही झंझट भी सह रहे है और मृत्युके दिन निकट आ रहे है। प्रथम तो किसीकी भी मृत्युका पता नही है, पर आयु अधिक हो जाय तो उसके बाद और क्या होगा ? बचपनके बाद जवानी और जवानीके बाद बुढापा और बुढापाके बाद क्या फिर जवानी आयगी ? नही। मरण होगा, फिर नया जन्म होगा। तो यह समय प्रवाहसे बह रहा है और हम ममतामे कुछ अन्तर न डालें, ढील न करे तो सोच लीजिये क्या गति होगी ?

धर्मपालनका अन्तरङ्ग आशयसे सम्बन्ध—हमारा धर्म-पालन ममताके पोषणके लिए ही हो, हम दर्शन करे तो मेरा सब कुछ मौज बना रहे इसके लिए हो, कुछ भी हम धर्म पालन करें, विधान करे, पूजन करे, यज्ञ करें, समारोह करे, कुटुम्ब परिवारकी मौजके लिए करे, कोई रोग न आए, कोई उपद्रव न आये, कही धन नष्ट न हो जाय, टोटा न पड जाय, धन बढ़े, मुकदमे मे विजय हो, इन सब आशावोको लेकर जहाँ धर्मपालन ही रहा हो वहाँ क्या वह धर्म है ? वह धर्म नही है। जो धर्मके नामपर आत्मा और परमात्माके निकट भी नही जाते है वे भी तो आज लखपति करोडपति बने हुए है। यह धनका मिलना वर्तमानमे मदिर जाने, हाथ जोडनेके आधीन नहीं है, यह तो पूर्व समयमे जो त्यागवृत्ति की, उदारता की, दान किया, पुण्य किया, सेवाएँ की, उनका फल है जो आज पा रहे है। धर्म-पालन परमार्थत यदि हो जाय तो धर्मसे अवश्य ही शान्ति और संतोष मिलेगा।

संगतिविवेक—भैया ! अपने आपको जो अज्ञानरूपसे मान रहा है, मैं क्रोधी हू, मानी हू, अमुक पोजीशनका हू, अमुक बिरादरीका हू, अमुक सम्प्रदायका हू, ऐसी प्रतिष्ठा वाला हू, इस प्रकार इन सब रूपोमे अपने आपको जो निहारता है वह अज्ञानी है। जो अज्ञानी की सेवा करेगा उसके अज्ञान ही बढेगा और जो ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी सेवा करेगा उसके ज्ञान बढेगा। लोकमे यह बात प्रसिद्ध है कि धनीकी सेवा कोई करता है तो धन मिल जायगा, विद्वानकी कोई सेवा करता है तो विद्या मिल जायगी। इसी प्रकार कोई अज्ञानी गुरुवोकी सेवा करता है तो उसे अज्ञान मिलेगा। अफीम भाग चर्स फूंकने वाले साधुवोके चरणोमे भी बहुतसे भगेडी, गजेडी पडे रहा करते है, और उनकी सेवा यही है कि चिलम भर लावो, फूंक लगावो, भगवानका नाम लेकर अब अफीम चढावो। दूसरोको उनसे मिल क्या जाता है ? क्या वहाँ किसी तत्त्वके दर्शन हो पाते है ? अज्ञानियोकी संगतिमे अज्ञान ही मिलेगा और ज्ञानी साधु सतोकी सेवामे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होगी। इस कारण जो पुरुष अपना कल्याण चाहते है उनका यह कर्तव्य है कि जो विवेकी है, ज्ञानी है जो सामा-

रिक मायासे परे है, ज्ञानध्यान तपमे लवलीन है, जिन्हे वस्तुस्वरूपका भला बोध है, जिनमे परपदार्थोकी परिणतिसे रागद्वेष उत्पन्न नही होते, जो सबको समान दृष्टिसे निरखते है ऐसे विवेकी तपस्वी ज्ञानी आत्मावोकी उपासना करे, पूजा सत्कार, विनय करें और उनकी उपासना करके ज्ञानका लाभ ले ।

ज्ञानका तात्त्विक फल—परमार्थतः तो यह आत्मा ही स्वय शुद्ध ज्ञानस्वरूप है । इस ज्ञानकी उपासनासे ज्ञानका ही फल मिला करता है । जो ज्ञान अनश्वर है, सदा रहने वाला है ऐसे ज्ञानकी सेवासे फल ज्ञानका ही मिलता है । लेकिन यह मोहका बडा विचित्र संताप है कि मोही जन इस ज्ञानकी उपासनासे भी कुछ और चीज ढूंढना चाहते हे । ज्ञान-पुंज परमात्माकी पूजासे ज्ञानका ही प्रकाश मिलेगा किन्तु यह मोही प्राणी ज्ञानपुज भगवान की पूजामे भी अन्य कुछ बात ढूंढना चाहता है । यह मोहका सताप है । ज्ञानकी उपासनामे तो उत्कृष्ट अविनाशी सम्यग्ज्ञानकी ही प्राप्ति होती है, इसलिए ज्ञानप्राप्तिके लिए ज्ञानीकी उपासना करें । ज्ञानीकी उपासना करते हुए मे भी जिसके मोहकी पुट लगी रहती है वह अपना प्रयोजन सिद्ध कर सकेगा । हाँ विवेकीके जो ज्ञानी पुरुषोका गुणानुराग है वह गुणो का अनुराग है, मोहका अनुराग नही है । वह तो आदरके योग्य है, परन्तु धन वैभवकी उपासना तो केवल मोहवश ही की जाती है वह अज्ञानरूप है ।

ज्ञानी व अज्ञानीके संगसे लाभ हानिका कारण—अज्ञानीकी उपासनासे ससारका संकट दूर न होगा, इसलिए ज्ञानियोकी तो संगति करे और अज्ञानियोकी संगतिसे दूर हो । कोई अज्ञानी पुरुष चमत्कार वाला भी हो, लौकिक इज्जत भी बहुत बढ गई हो, फिर भी अज्ञान का आश्रय लेना विपदाके लिए ही है । आज कुछ चाहे भले ही रुच रहा हो, लेकिन अज्ञानी का संग ऐसा खोटा संस्कार बना देगा कि वह अज्ञान मार्गमे लग जायगा । ज्ञानीके सगमे यद्यपि ज्ञानीकी ओरसे कुछ आकर्षण नही रहता क्योकि ज्ञानी निर्वाञ्छक है, अतस्तत्त्वका ज्ञाता है, भोगोसे उदासीन है, उसे क्या पडी है जो दूसरो को वशमे करे या दूसरोका आकर्षण हो ऐसी कोई विधि रागपूर्वक करे । ज्ञानी पुरुषके प्रति जिनका आकर्षण है वे पुरुष स्वयं शुद्ध है । जो स्वयं अपवित्र होगे वे पुरुष ज्ञानियोकी संगतिमे कैसे पहुंचेगे ? जो स्वय पवित्र होगे सो ही ज्ञानीकी सगतिमे पहुचेगे । अपवित्र पापी व्यसनी पुरुषोको ज्ञानीका समागम दुर्लभ है ।

अज्ञानीके धर्मसमागमकी अरुचिका भाव—एक बात प्रसिद्ध है कि भगवानके समव-शरणमे मिथ्यादृष्टि जोव नही पहुँचते । उसका भाव यही है कि जो गृहीत-मिथ्यादृष्टि है, अपने मिथ्यात्वके मदमे उद्दण्ड है उनके यह भाव ही नही होता है कि वे प्रभुके समवशरण

में पहुंचे। और यदि कदाचित उद्दण्डता मचाने के ध्येयसे समवशरणमे जाते है तो वहाँके द्वारपाल रक्षक देव उन्हे पीटकर निकाल देते है। सर्वप्रथम तो यह बात है कि उनके यह भाव ही नही होता कि हम धर्मस्थानोमे पहुंचे। तपस्वी ऋषि संतोकी यह अनुभवपूर्ण वाणी जो ग्रन्थोमे निबद्ध है उसको सुननेका पापी जीवोका भाव और अनुराग ही नही हो पाता क्योकि वे पापवासनामे उपयोग दे या धर्ममे। जिसके पास जो है वह उसका ही स्वाद लेता है। अज्ञानी जन अज्ञानका ही स्वाद लिया करते है।

ज्ञानमें तृप्ति—ज्ञानी जन ज्ञानामृतके पानसे तृप्त रहा करते है क्योकि ज्ञानी पुरुषो को सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करनेका राग लगा है। यह अभिलाषा उनकी जग रही है। मैं ज्ञानार्जन करूँ और शुद्ध ज्ञानमे रत रहूँ ऐसी इच्छा होती है और साथ ही यह जानते है कि मैं इसकी पूर्ति करके इस इच्छाका भी विनाश करूँ। इस इच्छाको वे उपादेय नही मानते है, पर चारित्र मोहका उदय है ऐसी इच्छा हुआ ही करती है। लेकिन यह इच्छा अच्छे भावको पोषने वाली है।

कर्तव्यस्मरण—ज्ञानी अपने आत्महितकी साधनामे जागरूक रहता है। जो आत्महित चाहने वाले पुरुष है उनका कर्तव्य है कि ये ज्ञानी, विवेकी, अन्तरात्मा, सम्यग्दृष्टि, ससार शरीर और भोगोसे विरक्त संतोकी उपासना करे, खूब दृष्टि पसारकर निहार लो। जो पुरुष ठलुवोकी गोष्ठीमे रहा करते है वे कौनसा लाभ लूट लेते है ? रात दिनकी चर्या उनकी जो हो रही है उसपर ही ध्यान देकर देख लो। ये जीवनके क्षण निकल जायेगे। जो निकल गये वे फिर वापिस तो आते नही। निकल गए सो निकल गए। पीछे पछतावा होता है कि मेरी जिन्दगी यो ही निकल गयी। यदि मैं ज्ञानार्जन धर्मपालनमे अपना समय लगाता तो मेरा जीवन सफल था। ऐसे पछतावाका मौका ही क्यो दिया जाय ? क्यो न अपना पुरुषार्थ अभीसे धर्मपालन और ज्ञानार्जनमे रखा जाय ? जो शुद्ध तत्त्व है उसकी उपासनासे आत्मा को लाभ होता है। जो अशुद्ध अपवित्र आत्मा है, अशुद्ध भाव है, परभाव है उनकी उपासना से आत्माका विनाश होता है, बरबादी होती है।

परमार्थ पुरुषार्थ—भैया सब दृश्य रहना तो कुछ है ही नही। यदि भली प्रकारसे पहिलेसे ही अक्ल त्यागकर सर्वसे विविक्त कमलकी भाँति अपने आत्माको निरखे तो इसमे गुणोका विकास होगा और कर्मबन्धन शिथिल हो जायेंगे। इसके लिए ज्ञानबल और आत्म-साहसकी आवश्यकता है। यह अपनी ही चर्चा है, अपनी ही बात है, अपनेमे ही करना है, अपनेको ही लाभ है। मानो आज मनुष्य न हुए होते, जिसे हम कीडा मकौडा निरख रहे है ऐसी ही वृत्ति होती, क्या हुई न थी कभी। आज कीड़ा मकौडा ही होते तो कहाँ यह

ठाठ, कहाँ ये दो चार मंजिले मकान, कहाँ ये धन वैभव पासमे होते जिनमे मोह करके आज बेचैनी मानी जा रही है ? इस वैभवसे यह आत्मा अब भी अधूरा है, केवल अपने ज्ञान और कल्पनामे बसा हुआ है। ऐसे सर्व विशुद्ध आत्माके स्वरूपका आश्रय लें तो वहाँ संकट नही रह सकता है। यो अपने ज्ञानका आश्रय ले। जो अपना स्वभाव है, स्वरूप है ऐसे ज्ञानानद स्वरूपकी उपासना करें। मै सबसे विविक्त ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा विश्वास बनाये तो ससारके समस्त संकट समाप्त हो सकते है।

परीपहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥२४॥

अध्यात्मयोगमें उपसर्गादिकका अवेदन—जब योगी पुरुप अध्यात्मयोगमे लीन हो जाता है तो उसपर मनुष्य तिर्यञ्च आदिक किन्ही जीवोके द्वारा कोई उपसर्ग आये तो उस उपसर्गका भी पता नही रहता है। अध्यात्मयोगमे लीन होनेपर ज्ञानियोको न तो कष्टका पता रहता है, न व्याधियोका, न किन्ही उपसर्गोका पता रहता है। वहाँ तो स्वरूपमे निमग्न अध्यात्मयोगीके समस्त कर्मोका आस्रव निरोध करने वाली निर्जरा शीघ्र हो जाती है।

क्लेशानुभवका कारण—किसीको क्लेश तब तक अनुभवमे आता है जब तक उसका चित्त क्लेशरहित निष्कषाय आत्मस्वरूपमे लीन नही होता है। जिसका चित्त बाह्य स्त्री पुरुषोके व्यामोहमे है उसे अनेक कष्ट लगेगे। यह मोही जीव जिनके कारण क्लेश भोगता जाता है उनमे ही अपना मोह बनाये रहता है। जिसने आत्माके स्वरूपसे चिगकर बाह्य पदार्थोमे अपने चित्तको फंसाया कि उसे अनेक कष्टोका अनुभव होगा ही।

धर्मसाधनाका उद्यम—धर्मकी यह साधना बहुत बडी साधना है। सामायिक करते समय या अन्य किसी समय अपने उपयोगको ऐसा शान्त विश्रात बनाये कि तत्त्वज्ञानके बल से समस्त बाह्य पदार्थोको आत्मासे भिन्न जानकर और निज ज्ञानानन्दस्वरूपको निरखकर समस्त बाह्य पदार्थोको उपयोगमे न आने दे ऐसी हिम्मत तो अवश्य बनायें कभी। अनेक काम रोज किए जा रहे है। यदि ५ मिनटको अपना चित्त अपनी अपूर्व दुनियामे ले जावे तो कौनसा घाटा पडता है ? न आपका यह घर गिरा जाता है, न किसीका वियोग हुआ जाता है। सबका सब वहीका वही पडा है। दो चार मिनटको यदि निर्मोहताका यत्न किया जाय तो कुछ हानि होती है क्या ? किसी भी क्षण अपने आपमे बसे हुए परमात्मस्वरूपका अनुभव हो जाय और सत्य आनन्द प्राप्त हो जाय तो यह जीव अनन्तकाल तकके लिए सकटोसे छुटकारा पानेका उपाय कर लेगा।

मोहीकी आसक्ति—भैया ! कितने ही भवोमे परिवार मिला, पर उस परिवारसे

कुछ पूरा पडा है क्या ? कितने भव पाये जिनमे लखपति, करोडपति, राजा महाराजा नही हुए, पर उन वैभवोसे भी कुछ पूरा पडा है क्या ? किन्तु आसक्ति इतनी लगाए है कि जिससे इस दुर्लभ नरजीवनका भी कुछ सदुपयोग नही किया जा सकता। भूख प्यासकी वेदनासे अथवा किसीके द्वारा कभी उपसर्ग, परिसह, कष्ट आये तो उससे यह मोही प्राणी अधीर हो बैठता है। कभी कभी तो उन वेदनावोकी स्मृति भी इसे बेचैन कर डालती है। ये सब संकट तब तक है जब तक अपने स्वरूपके भीतर बाहरमे जो उपयोग लगाया है इस उपयोग को निराकुल निर्द्वन्द ज्ञानानन्दस्वरूपमे न लग सके। अपनेको अकेले असहाय स्वतत्र मानकर शुद्ध परिणमन बनावो तो सारे संकट समाप्त होते है।

ज्ञानविशुद्धिमें संकटका अभाव—सकट है कहाँ ? किस जगह लगा है संकट ? किसी को मान लिया कि यह मेरा है और अन्य जीवोके प्रति यह बुद्धि करली है कि ये कोई मेरे नही है बस इस कुबुद्धिवश उनकी परिणतियोको देखकर सकट मान लिया जाता है। कौन जीव हमारा है ? हमारा तो हम तब जाने जब हमारे अपरिचित पुरुष भी देखकर बता दे कि हाँ यह इनका है। यह तो मोही मोही लोगो की व्यवस्था है। किसका कौन है ? अज्ञानसे बढकर कोई विपदा नही है। चाहे करना कुछ पडे किन्तु ज्ञान तो सही रहना चाहिए। ज्ञान बिगड गया तो फिर कोई सहाय नही हो सकता।

उन्मत्तदशा—जो लोग पागल दिमागके हो जाते है, सडकोपर घूमते है, बडे घरके भी बेटे क्यो न हो, बडे धनी के भी लडके क्यो न हो, जब वे पागल हो जाते है, बेकाबू हो जाते है तो घरके लोग क्या उसे सभाल सकते है ? फिर उनकी कौन परवाह करता है, उनको आराम देने की कोई फिर सोचता है क्या ? वे तो आफतमे दिखते है। कही बुद्धि खराब हो गयी, पागलपन आ गया है तो फिर कोई उसके संभालने वाला नही है। हम आप इन मोहियोका दिमाग क्या कुछ कम बिगडा हुआ है ? क्या कुछ कम पागलपन छाया है ? समस्त अनन्त जीवोमे से छाँट कर किन्ही दो चार जीवोको जो आज कल्पित अपने घरमे है उन्हे मान लिया कि ये मेरे है और बाकी संसारके सभी जीवोको मान लिया कि ये गैर है, क्या यह कम पागलपन है ? ये सब अनाप-सनाप अट्ट-सट्ट बेकायदे के सम्बन्ध मान लिए जाते है। कोई जीवके नातेसे कुछ कायदा भी इसमे किया जा रहा है क्या ? अमुकका अमुक जीव कुछ लगता है ऐसी मान्यतासे कुछ फायदा भी है क्या ? कोई किसी मे नाता नही, कोई सम्बन्ध नहीं।

स्वार्थमय लोकसम्बन्ध—लौकिक दृष्टिसे भी देखो तो कोई पुरुष बूढा हो जाय किसी काममे नही आ सकता है, ऐसी स्थिति हो जाय तो उसकी कौन परवाह करता है ?

यदि उसके पास कुछ भी धन नही है तो कोई भी परवाह नही करता है और उसके नाममे या उसके पास कुछ धन है तो लोग मरनेकी माला फेरते है, जल्दी कब मरे। ये सब भीतरी बाते है। अनुभवसे विचारो, कौन किसका सहारा है, जब तक कषायोसे कषाय मिली जुली हुई है और एक दूसरेके स्वार्थमे कुछ साधक रहता है, किसीके कुछ कामके लायक रहता है तब तक ही यह लौकिक सम्बन्ध रहता है अन्यथा नही।

कथंचित् उपादेय सम्बन्ध—भैया! यहाँ उपादेय सम्बंध माना जा सकता है तो गुरु और शिष्यका सम्बध यह सम्बन्ध कुछ ढगका भी है, विधिविधानका भी है। पर गुरु शिष्यके सम्बन्धके अलावा अन्य जितने सम्बध है वे सब नाजुक और छलपूर्ण सम्बध है, चाहे साला बहनोई हो, चाहे मामा भाजा हो, चाहे पिता पुत्र हो, चाहे भाई-भाई हो, कोई भी सम्बध हो वे सब सम्बध अशुद्ध और कलुषित भावना सहित मिलेंगे, केवल एक गुरु शिष्य का ही सम्बध जगतके सम्बधमे पवित्र सम्बध हो सकता है। कोई पुरुष आजकलके मास्टर और स्टूडेन्टका परस्पर बर्ताव देखकर प्रश्न कर सकता है कि गुरु शिष्यका कहाँ रहा पवित्र सम्बध ? शिष्य यदि परीक्षामे नकल कर रहा है और मास्टर उसको टोक दे या उसकी नकलमे बाधा डाले तो स्कूलसे बाहर निकलनेके बाद फिर मास्टरकी ठुकाई पिटाई भली प्रकार कर दी जाती है। क्या पवित्र सम्बन्ध रहा ? उसका समाधान यह है कि वहाँ न कोई गुरु है और न कोई शिष्य है। गुरु बन सकना और शिष्य बन सकना बहुत कठिन काम है। न हर एक कोई गुरु हो सकता है और न हर एक कोई शिष्य हो सकता है। गुरु शिष्यका इतना पवित्र सम्बन्ध है कि जिसके आधारसे ससारके ये समस्त सकट सदाके लिए टल सकते है, सम्यक्त्वकी भावना, सम्यक्त्वका प्रकाश उदित हो सकता है। बाकी और समस्त सम्बध केवल स्वार्थके भरे हुए सम्बन्ध है।

बहिर्मुखी दृष्टिमें विपदा—इन बाह्य पदार्थोमे, इन परिजन और मित्रजनोमे जब चित्त रहता है तो यह जीव कष्टका अनुभव करने वाला बन जाता है। खूब बढिया भी खाने को मिले तो भी यह अनुभवमे चलता है कि अब फिर भूख लगी। लोलुप गृहस्थ जन तीन बार खाये फिर भी बार बार क्षुधाकी वेदना अनुभूत होती है। ऐसे ही चाहे सर्व प्रकारके समागम उचित रहे, पैसा भी खूब आ रहा है, इज्जत भी चल रही है तब भी कुछ न कुछ विकल्प बनाकर अपना कष्ट अपनी विपदा समझने लगते है, यह सब बहिर्मुखी दृष्टि होनेके कारण विपदा आती है। एक चैतन्य चिंतामणिको प्राप्त कर ले उपयोग द्वारा फिर कोई सकट नही रह सकता है।

अन्तर्मुखी दृष्टिमें विपदाका अभाव—देखो—गगा यमुना नदियोमे जलचर जीव

अनेक होते ही है । कोई कछुवा पानीके ऊपर सिर उठाकर तैरता हुआ जाय तो उसकी चोचको पकडनेके लिए दसो पक्षी झपटते है, चारो ओरसे परेशान करते है । जब तक वह कछुवा अपनी चोच बाहरमे निकाले है तब तक उसकी कुशल नही है । अनेक सताने वाले है और जब वह अपनी चोचको पानीमे डुबो लेता है, भीतर ही भीतर तैरता रहता है मौज करता है उसे फिर कोई सकट नही रहता है । ऐसे ही यह आत्मस्वरूप अपना निज घर है । इससे बाहर अपना उपयोग निकला कि सर्व कल्पनाजालोके सकट इसपर छा जाते है । उन समस्त सकटोके दूर करनेका उपाय मात्र इतना है कि अपने उपयोगको अपने आत्मस्वरूपमे लगा ले ।

आत्मरक्षाका विवेक--बाह्य परिस्थितियोमे जिसका उपयोग लगा है वह हर स्थितियोमे कष्ट अनुभव किया करता है किन्तु है वे सब स्थितियाँ कष्ट न अनुभव करनेके योग्य । घरमे कुटुम्ब ज्यादा बढ गया तो कष्ट अनुभव किया जाता है । अरे बढ गया है तो बढ जाने दो सबके अपना अपना भाग्य है, वे लडने है तो लड जाने दो, गिरते है तो गिर जाने दो, सीधे चलते है तो सीधे चलने दो, उल्टा चलते है तो उल्टा चलने दो, तुम योग्य शिक्षा दो, तुम्हारी शिक्षाके अनुकूल वे चलते है तो उनका भला है, नही चलते है तो तुम ममता करके अपने जीवनका धार्मिक शृंगार क्यो खोते हो ?

परिस्थितियोंमें हितविधिका अन्वेषण—भैया ! अन्तरमे या बाहरमे परमार्थत इस जीवको कहाँ कष्ट है, परतु दृष्टि बाहरमे फसायी तो वहाँ कष्ट ही है । परिजन अधिक न हो, अकेले हो तो यह जीव अपनेमे कष्ट मानता है कि मैं अकेला हू, दुनियाके लोग किस तरह रहते है । अरे अकेले रह गये तो यह बडे सौभाग्यकी बात है । अकेले रह जाना हर एकको नसीब नही है । यह ससार कीचड है । यह समागम एक बेढब बन है । अपना यथार्थ अनुभूत हो जाय और स्वत अकेलापन आ जाय तो यह बडे अच्छे होनहारकी बात है । धर्मपालन होता है तो अकेले होता है, अनुभव होता है तो अकेलेसे होता है । मोक्षमार्ग मिले तो अकेलेसे होता है, मोक्ष प्राप्त होता है तो अकेलेसे होता है । कौनसी बुराई आयी अकेले रह जानेमे ? यह भी स्थिति अच्छेके लिए आती है, पर उसका सदुपयोग करे, लाभ उठाये तब ना । धन बहुत हो गया है तो बडी किल्लत हो गयी । इतनो हो गयी है कि सम्हाले भी नही सम्हलती है । अनेक द्वारोसे यह धन बरबाद होने लग रहा है, सम्हालते ही नही बनता है । बडा दुखी होता हैं । जब सुनते है कि वहाँ इतनेका टोटा हो गया, इतना खर्च हो गया तो बडे चिन्तित होते है । अरे चिन्ताकी क्या बात है ? बिगड गया तो बिगडने दो, घट गया तो घटने दो । कहा घट गया ? जो पदार्थ है वह तो नही गुम गया,

मिट क्या गया ? जहा होगा वही चैनसे । तुम्हारा क्या विगड गया ? ममता छोडो, सारे सकट मिट गए ।

ममताका अनौचित्य--भैया ! जितने भी सकट है वे सब ममताके कारण होते है । काहेके लिए ममता करते हो ? अपनेको लाभ तो कुछ है नही । अपने लाभके संदर्भमे तो ममताकी जरूरत ही नही है । जो लोग यहांके समागममे ममत्व रखते हैं वे इसलिए रखते है कि दुनियाके मनुष्य हमको कुछ अच्छा समझे, अच्छा कह दें । अच्छा तुम्ही निर्णय दो कि ये सब दुनियाके लोग जिनमे तुम अच्छा कहलवाना चाहते हो ये सब ज्ञानी है या अज्ञानी ? मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि ? खुद कर्मोके चक्करमे फसे हुए है या देवता है सो निर्णय कर लो । मूढ है, पर्यायबुद्धि लगी है, अज्ञानी है, पापकलंकसे भरे हुए है । अच्छा इन मूढोने यदि तुम्हे अच्छा कह दिया तो तुम क्या कहलावोगे ? मूढोके सिरताज । तो इसका अर्थ क्या हुआ कि हम मूढोके राजा है । जैसे कोई लोग कहने लगते है कि हम बद-माशोके बादशाह है, तो इसका अर्थ क्या हुआ ? सबसे ऊँचे दर्जेका बदमाश । इस तरह हम इस अज्ञानी जगतमे कुछ अपनेको अच्छा कहलवाना चाहते हैं और इन अज्ञानी लोगोने कुछ अच्छा कह दिया और उसमे ही हम खुश हो गए तो अर्थ यह हुआ कि हम मूढोके सिरताज बनना चाहते है । सब अपने आपमे सोच लो । सभी तो मोही जगत है । इसमे बुरा रच भी न मानियेगा, क्योकि यह सब तो विरक्त होनेकी भावनासे कहा जा रहा है ।

योगीका उन्नयन--क्षुधा, तृषा, रोग, सयोग, वियोग आदिका कष्ट तब बहुत अधिक मालूम होने लगता है जब यह उपयोग आत्मस्वरूपसे चिगकर बाह्य पदार्थोमे लग जाता है । जब यह जीव बाह्यपदार्थोकी वासना तज देता है, बाह्यपदार्थोके रागसे विरक्त हो जाता है तो भूख प्यास, परिषह रोग आदि वेदनाका अनुभव नही होता । वह तो अब स्वरूपमे मग्न है, आनन्दका अपूर्व मधुर रसपान कर रहा है, विकार भावोसे अत्यन्त दूर रह रहा है । ऐसे आत्माके आचरणमे रहने वाले अध्यात्मयोगीके अनन्तगुणी निर्जरा और कर्मोका क्षय चलता रहता है, क्योकि उसका चित्तवृत्तिका भली प्रकार निरोध हो गया है । अब यह अपने आत्मस्वरूपकी ओर झुका हुआ है । जिसको अपने अतस्तत्त्वकी दृष्टि है उस योगी के पुण्य और पाप निष्फल होते हुए स्वय गल जाते है । उस योगीका निर्वाण होता है फिर कभी भी ये कर्म पनप नही पाते है । जो योगी तद्भवमोक्षगामी नही है, जिसके सहनन उत्कृष्ट नही है किन्तु ध्यानका अभ्यास बनाए है, आत्मतत्त्वके चिन्तनमे अपना उपयोग लगाये है उसके कर्मोका सम्वर और कर्मोकी निर्जरा होती है ।

ज्ञानका प्रताप--आत्मा और अनात्माका जब भेदविज्ञान प्रकट होता है तो उस

वहाँ यह तो बतावो कि वह आत्मा किसका क्या कर रहा है ? वहाँ कोई दो बाते ही नही है।

ज्ञानके विषयभूत परपदार्थमें भी ज्ञप्ति क्रियाका अप्रवेश—प्रथम तो जब बाह्यपदार्थो का भी चिन्तन ध्यान करना हो, उस कालमे भी यह बाह्य पदार्थोका कर्ता नही है। वहाँ भी वह अपने ही किसी प्रकारके ध्यानरूप परिणाम रहा है। खैर, बाह्यपदार्थोके विकल्पमे तो आश्रयभूत परपदार्थ भी है किन्तु जहाँ शुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान चल रहा हो वहाँ दो तत्त्व कौनसे कहे जाये जिसमे यह बनाया जाय कि यह यह अमुकका ध्यान करता है, यह अमुक का। अपने ही ध्यानरूपसे परिणाम रहा है वह ज्ञानप्रकाश, शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूप चल रहा है यह। इस ही पदार्थको भेदोपचार करके यो कह दिया जाता है कि आत्मा अपने स्वरूपका ध्यान करता है।

परमार्थतः पदार्थोंमें परस्पर संबंधका अभाव——ध्यान शब्दमे यह लोक अर्थ पडा हुआ है कि जिसका ध्यान आ जाय, जिसके द्वारा ध्यान किया जाय जो ध्यान करता है। तो इस अर्थमे जिसका ध्यान किया गया वह पदार्थ और जो ध्यान करता है वह पदार्थ कोई भिन्न-भिन्न हो तो बता भी दे कि आत्माने अमुकका ध्यान किया है, पर जिस समय आत्मा के ध्यान अवस्थामे यह परमात्मस्वरूप स्वय आत्मा जब ध्यानके साथ एकमेक हो जाता है, स्वय ही स्वयके ज्ञानरूपसे प्रकाशित हो जाता है तब वहाँ किसी परद्रव्यका संयोग ही नही है, फिर सम्बध क्या बताया जाय ? सम्बन्ध तो बनावटी तत्त्व है। वास्तवमे तो कही भी कुछ सम्बध नही है, प्रत्येक अणु स्वतत्र है, वह अपने आपमे अपना परिणमन करता है। वे सब अपने आपकी शक्तिका ही परिणमन करते है। कोई पदार्थ किसी दूसरेका न परिणमन करता है, न उपभोग करता है और न कुछ सबध भी है फिर किसको किसका बताया जाय ?

मूढता, अशान्ति व ढीठताका अभाव—भैया ! यह जीव ज्ञानवाला है, इससे कह रहा है कि मकान मेरा है, यह अमुक मेरा है। इस प्रकार मेरा-मेरा मचाता है। यदि मकानमे भी जान होती तो यह भी यो कह देता कि यह पुरुष मेरा है। अरे न मकानका यह आत्मा है, न आत्माका यह मकान है। मकान ईट भीतोका है। यह पुरुष अपने स्वरूप मे है, ऐसी दृष्टि देकर जरा निरख लो अपना शरण, बाह्यदृष्टिमे कुछ पार न पाया जायगा। बाहर सार क्या है ? जब समागम है तब भी समागमसे शान्ति नही है और जब समागमका वियोग होगा तब तो यह मोही शान्ति ही क्या कर सकेगा ? बाह्य पदार्थ है तो दो हों तो बाते है, या बाह्य पदार्थोका सयोग होगा या वियोग होगा। यह मोही जीव न सयोगमे शान्ति कर सकता है और न वियोगमे शाति कर सकता है। शाँति तत्त्वज्ञान बिना त्रिकाल

हो ही नही सकती है। यह सब कर्मशत्रुका आक्रमण है बाह्य पदार्थोकी ओर दृष्टि लगाने का, यही मूढता है कलुपता है इस जीवकी। ससारभ्रमणका यही एक कारण है।

सम्बन्धकारकके अभावसे सम्बन्धकी अवास्तविकताकी सिद्धि—समस्त पदार्थ अपने आपके स्वरूपमे अद्वैत है। वे वे ही के वे है, उनमे किसी दूसरे पदार्थका सम्बध नही है। देखिए सस्कृतके जो जानने वाले है वे समझते है—सस्कृतमे कारक ६ कहे जाते है—उन ६ कारकोमे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये ६ आये है। इन कारकोमे सम्बन्धका नाम तक भी नही लिया गया है। उसका अर्थ यही है कि सम्बंध कोई तात्त्विक चीज नही है। सम्बध भी यदि परमार्थ होता, कारक होता तो इसे भी इन कारको मे गिनवाया जाता। लोक प्रयोगमे भी देख लो–सापने यदि अपने शरीरको कुण्ठली रूप बना लिया तो इतना तो कहा जा सकता है कि सॉपने अपनेको अपने द्वारा अपने लिए अपनेमे अपनेमे गोल बना लिया है, पर किसका गोल बना लिया है इसका उत्तर औंधा हुआ उत्तर होगा। अरे जब वही एक साप है और वह अपने परिणमनसे परिणाम रहा है तो दूसरेका किसका नाम लोगे ? सापने किसका गोल बना दिया है ? कोई सम्बध नही हो सकता है। जबरदस्तीकी बात दूसरी है कि कुछ भी कह डाला जाय। तो कारक ६ हुआ करते है। सम्बध नामका कारक ही नही है। फिर जगतके पदार्थोमे सम्बन्धकी खोज करके अपनी व्यग्रता क्यो लादी जा रही है ?

पदार्थोंकी गणना—जगतमे अनन्तानन्त जीव है जिनकी हद नही है। कबसे जीव मोक्ष चले जा रहे है, कोई दिन मुकर्रर करके कोई नही बता सकता है। अगर कोई दिन मुकर्रर कर दे तो यह प्रश्न होगा कि क्या उस दिनसे पहिले कोई मोक्ष न गया था ? अगर कह दे कि हाँ इस दिनसे पहिले कोई मोक्ष नही गया। तो जब तक कोई मोक्ष न जा सका ऐसा ससार कितने दिनो तक रहा ? उसका उत्तर दो। उसकी भी सीमा बनानी होगी। तो उससे पहिले ससार ही न था, अभाव हो गया, फिर जब कुछ न था तो कुछ बन भी नही सकता है। अनन्त जीव समझ लीजिए मोक्ष चले गए और फिर भी अनन्तानन्त राशि बची हुई है, इसमे अनन्त मोक्ष चले जायेगे, फिर भी जीव अनन्त ही बचे रहेगे। कितनी अनन्तानन्त जीव राशि है। जीवराशिसे अनन्तानन्तगुणे पुद्‌गल है। एक चौकीमे कितने परमाणु है बतावो ? हजार, लाख, करोड़, असख्यात, अनगिनते, कुछ भी तो बतावो। अरे असख्यात, अनगिनतेसे भी ज्यादा। अनन्तानन्त। अनगिनते और अनन्तानन्तमे फर्क है। अनगिनतेका अर्थ यह है कि गिनती न की जा सके परन्तु उनका अत होगा, किन्तु अनन्तानत का अर्थ है कि उनका कभी अन्त न हो सके। तो अनन्तानत जीव है, अनन्तानन्त पुद्‌गल है,

धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य भी एक है, आकाश भी एक है और कालद्रव्य असंख्यात है।

शान्तिमें वस्तुस्वातन्त्र्यके परिज्ञानका अनिवार्य सहयोग——ये समस्त द्रव्य पूर्ण स्वतत्र है अर्थात् अपने ही स्वरूपको लिए हुए है। समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमे ही परिणमते है, कोई किसी अन्यमे त्रिकाल भी नही परिणम सकता। अब समझ लीजिए कि कोई प्रतिकूल चल रहा है तो वह प्रतिकूल नही चल रहा है। यह तो अपनी कषायके अनुसार अपनी कषायकी वेदनाको मिटानेके लिए प्रयत्न कर रहा है। यहाँ यह मोही जीव अपने कल्पित स्वार्थमय अवसरमे विघ्न जानकर खेदखिन्न होता है, मैं कितना दुखी हू? मेरे अनुकूल ये लोग नही परिणमते बल्कि प्रतिकूल परिणम रहे है। अरे जो जैसा परिणमता है परिणमने दो, तुम तो भेदविज्ञान करो। सुख, साता व शान्ति भेदविज्ञानके बिना कभी न मिलेगी। कुछ दिनोका सयोग है। घर अच्छा है, समागम अच्छा है, आर्थिक समस्या भी अच्छी है, तो क्या करोगे इन सबका? कब तक पूरा पड़ेगा इन बाह्य पदार्थोंसे? भेदविज्ञान करो। मैं आत्मा जगतके समस्त पदार्थोंसे न्यारा हू, ऐसा उपयोग बनाकर अपनेको न्यारा समझ लो तो शान्ति मिलेगी अन्यथा परकी ओर आकर्षण होनेसे कभी शान्ति न मिल सकेगी।

सांसारिक सुखोंके अनुपातसे दुःखोंके उद्गमकी अधिकता——भैया! ये ससारके सुख जितने ज्यादा मिलेगे उतना ही ज्यादा दुखके कारण है, खूब सोच लो। किसीको स्त्रीका समागम है, वह स्त्री आज्ञाकारिणी हो, रूपवान हो और भी अनेक कलाएँ हो, उसके मन को रमाने वाली हो तो जब उसका वियोग होगा तो कितना क्लेश होगा? जितना राग किया है उसके अनुपातसे हिसाब लगा लो, ज्यादा क्लेश होगा, और किसीको अपनी स्त्रीसे अनुराग नही है अथवा किसी कारणसे स्त्री कलाहीन है, लडने वाली है, आज्ञा नही मानती है तो उससे तो पहिलेसे ही दिल हटा हुआ है। उसका वियोग होनेपर उसको क्लेश उसके रागके अनुपातसे होगा। जो पुरुष बाह्य पदार्थोको जितना अधिक प्यारा मानता हो वह उतना ही अधिक दुख पायगा। जो विवेकी पुरुष है, जिन्हे सम्यग्ज्ञानका उदय हुआ है वे पाये हुए समागममे हर्ष नही मानते है, उसके ज्ञाताद्रष्टा रहते है।

ज्ञानीकी दृष्टिमें सम्पदा व विपदाकी समानता—ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह भी कर्मोका एक उदय है। नाम दो है—सम्पदा और विपदा, पर कष्टके कारण दोनो ही है। जैसे नाम दो हो नागनाथ और सापनाथ मगर विषके करनेवाले दोनो ही है। सापनाथको नागनाथ कह देनेसे कही वह साप निर्विष न हो जायगा, उसका सकट तो झेलना ही पडेगा, ऐसे ही ये लोककी सम्पदा और विपदा है, इनमे मोही जीव सम्पदाको भला मानता है, यह

बहुत भला है, इससे बडा सुख है. पर ज्ञानी जानता है कि सम्पदा और विपदा दोनो ही दु खके कारण है। पुण्य और पाप दोनो ही ज्ञानीके लिए मात्र ज्ञेय रहते है, वह पुण्यके फलमे हर्ष नही मानता है और पापके फलमे विषाद नही करता है। समताबुद्धि रखता है। ज्ञानीकी धुन तो अलौकिक अध्यात्मरसके पानकी ओर लगी हुई है। जिसने अद्वैत निज आत्मतत्त्वका अनुभव किया है उसे सकट कैसे सता सकेगे ?

सर्व स्थितियोंमे परमार्थतः पदार्थकी स्वतन्त्रता—ये समस्त पदार्थ स्वतंत्र हैं, अपने स्वरूपसे है परके स्वरूपसे नही है। अशुद्ध अवस्थामे. परका निमित्त पाकर अशुद्ध परिणत हो जाते है तिसपर भी यह जीव अशुद्ध होता है अपनी ही शक्तिके परिणमनसे, दूसरे पदार्थ ने उसे अशुद्ध नही कर दिया। प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है, अपने ही परिणमनरूप परिणमता है। हम दु खी होते है तो अपने आपमे कल्पनाएँ रचाते है और उन कल्पनावोसे दु खी हुआ करते है और हम सुखी होते है तो अपनी कल्पनाएँ बनाकर ही सुखी होते है। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थको सुखी दु खी करनेमे समर्थ नही है। जो घर मोह अवस्थामे प्रिय लगता था वही घर आज वैराग्य जगनेपर प्रिय नही लगता है। ये सारी सृष्टियाँ, सुख दु ख सकल्प विकल्प भोग उपभोग आदि समस्त सृष्टिया इस आत्मासे ही उठकर चला करती है।

आत्माके एकत्वचिन्तनमे शान्ति समृद्धिका अभ्युदय—इस आत्माके ध्यानमे आत्मा अद्वैतरूप रहता है, अब किसका ध्यान करे, जब यह जीव ससार अवस्थामे है, कर्म आदिक का सयोग चल रहा है तब भी यह जीव वस्तुत अपना परिणमन कर रहा है। इस अशुद्ध निश्चयकी दृष्टिसे भी अपने आपके एकत्वको सम्हाले तो इस अशुद्ध निश्चयनयसे आगे चलकर केवल निश्चयनयमे आ सकते है। अपने आपको जितना भी अकेला चिन्तन किया जाय, सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हू—इस प्रकारका अपना अकेलापन चिन्तन किया जाय तो उस जीवमे शान्तिका उदय होगा। किसी दूसरेपर दृष्टि रखकर शान्ति कभी आ ही नही सकती है।

मोक्षमार्गमें सम्यक्त्वका आद्यस्थान—मोक्षमार्गमे सम्यक्त्वका प्रथम स्थान है। जो जैसा पदार्थ है उस पदार्थको वैसा समझ लेना यही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वके बिना इस जीवने इतने मुनिपद धारण किए होगे कि एक-एक मुनि अवस्थाका एक-एक कमडल जोडा जाय तो अनेक मेरु पर्वत बराबर ढेर लग जायगा। भेष रखनेमे अथवा अपनी कपोल कल्पित मान्यताके द्वारा क्रियाये करनेमे कौनसा बडप्पन है? केवल एक सयोगमे रूप बदल गया है। अज्ञानदशामे गृहस्थ रहता हुआ गृहस्थके योग्य विकल्प मचानेका काम करता था. अब अज्ञान दशामे मुनिका रूप रखकर अब मुनिकी चर्या जैसा विकल्पका काम करना है, पर अज्ञानदशा तो बदल नही सकती देहके कुछ भी कार्य बनानेसे। यह अज्ञानदशा भी

ज्ञानका उदय होनेसे ही दूर की जा सकती है। ज्ञान बिना सम्यक्त्व नही, ज्ञान बिना ध्यान, तप, व्रत, संयम नही, ज्ञान बिना आत्माके उद्धारका कभी उपाय नही बन सकता। इस कारण अपने आपपर यदि दया आती है, तरस आती है, अनन्तकालसे भटकते हुए इस आत्मप्रभुकी ओर यदि कुछ करुणा जगती है तो सर्वप्रथम तत्त्वज्ञानका अभ्यास बनावे। धन वैभव पुद्-गल ढेरका संचय—इसमे आस्था बुद्धि न रक्खे, ये शान्तिके कारण न कभी हुए है और न हो सकते है।

प्रत्येक पदार्थके अद्वैतताके निर्णयमें मुक्तिका आरम्भ—भैया! जब यह जीव ही बाह्य विकल्पोको तोडकर अपने आपके सहजस्वरूपमे मग्न होगा तब उसे शान्ति प्राप्त होगी। यो अद्वैत स्वरूपके ध्यानके लिए यह निर्णय दिया है कि जब तुम कुछ देते ही नही, तुम किसी दूसरेमे कुछ कर सकते ही नही तो तुम्हारा परपदार्थोसे क्या सम्बध है? तुम्हारे प्रत्येक परिणमनमे तुम ही परिणमन वाले हो और तुम्हारा ही वह परिणमन है। फिर सम्बध क्या किसी अन्य पदार्थसे? जब यह आत्मा ही ध्यान है, आत्मा ही ध्याता है तो फिर इसका किसी भी पदार्थसे रच सम्बध नही है। एक निज ज्ञानानन्दस्वरूपका ही जो ध्यान करता है वह शीघ्र ही निकट कालमे मोक्षपद प्राप्त करता है।

॥ इति इष्टोपदेश प्रवचन प्रथम भाग समाप्त ॥

इष्टोपदेश प्रवचन द्वितीय भाग

वध्यते मुच्यते जीव सममो निर्मम क्रमात् ।
तम्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥२६॥

ममत्व व निर्ममत्व बन्ध व मोक्षका कारण—यह जीव ममता परिणामसे सहित होता हुआ कर्मोसे बध जाता है और ममतारहित होता हुआ कर्मोसे छूट जाता है, इस कारण सर्वप्रकारसे प्रयत्न करके अपने आपके निर्ममत्वरूपका चिन्तन करना चाहिए। इस श्लोकमे बंधने और छूटनेका विधान बताया गया है। जो पुरुष ममत्व परिणाम रखता है, जो वस्तु अपनी नही है, अपने आपके स्वरूपको छोडकर अन्य जितने भी पदार्थ है वे सभी अपने नही है, उनको जो अपना मानता है वह कर्मोसे बध जाता है। परपदार्थोंको अपना मानना यह तो है बन्धका कारण, और परपदार्थोमे ममत्व न होना यह है मोक्षका कारण। इस कारण ससारसकटोसे मुक्ति चाहने वाले पुरुषोको सर्व तरहसे तन, मन, धन, वचन सर्व कुछ न्यौछावर करके, संन्यास करके अपने आपको ममतारहित चिन्तन करना चाहिए।

ममत्वभारवाही—भैया! यह जीव निरन्तर दुखी रहा करता है। इसका सुख भी दुख है और दुख तो दुख है ही। इन समस्त क्लेशोका कारण है अपने आपको किसी न किसी परिणमन रूप अनुभवन करते रहना। जो यह मनमे सोचेगा कि मै इसका बाप हू, अमुक हू तो इस चिन्तनके कारण बापके नातेसे अनुकूलतावो और प्रतिकूलतावोका क्षोभ होगा, खेद होगा, उसका बोझ इसीको ही ढोना पडेगा, कोई दूसरा नही ढो सकता।

दृष्टान्त द्वारा ममत्वके भारका प्रदर्शन—एक साधु था, वह जगलमे तपस्या कर रहा था। वहाँ अचानक कोई राजा पहुँच गया, कहा—महाराज! इस प्रकारकी गर्मीके दिनो मे इतना बडा कष्ट क्यो सह रहे हो? पैरमे जूते नही है, छतरी भी नही है, बदन भी नगा है, क्यो इतनी गर्मी इन बैसाख ज्येष्ठके दिनोमे सह रहे हो? महाराज और कुछ नही तो हम आपको एक छतरी देते है सो छतरी लगाकर चला करना। साधु बोला—बहुत अच्छी बात है, ऊपरकी धूप तो छातेसे मिट जायगी, पर नीचे जो पृथ्वीकी गर्मी है उसका क्या इलाज करे? तो राजा बोला—महाराज आपको बढिया रेशमके जूते पहुँचा देगे। साधुने कहा—अच्छा यह भी समस्या हल हो गयी। किन्तु नगा बदन है, लू लगती है, इसका क्या इलाज करे? राजाने कहा महाराज कपडे बनवा देगे। साधु ने कहा कि आपने यह तो

बहुत आरामकी बात कही, पर जब जूता भी पहिन लिया, छाता भी मिल गया, कपडे भी पहिन लिये तो फिर तिष्ठ · तिष्ठ कौन कहेगा ? कौन फिर पडगाहेगा ? राजा ने कहा महाराज इसकी कुछ फिक्र न करो, आपके आहारके लिए चार पाँच गाँव लगा देगे ? उनकी आमदनीसे आपका गुजारा चलेगा । ठीक है, पर खाना कौन बनावेगा ? तो महाराज आप की शादी करवा देगे, स्त्री हो जायगी । साधुने कहा कि यह तो ठीक है, पर स्त्रीसे बच्चा बच्ची होगे तो उनमे से कोई मरेगा भी । मरने पर कौन रोवेगा ? तो राजा बोला— महाराज और तो हम सब कर सकते है पर उन बच्चा बच्चीके मरने पर रोना आपको ही पडेगा । क्योकि जिसमे ममत्व होगा, जिसको ममत्व होगा वही तो रावेगा, कोई दूसरा न रोने आयेगा । तो साधु बोला कि जिस छतरीके कारण मुझे रोनेकी भी नौबत आयगी ऐसी आपकी यह छतरी भी हमे न चाहिए । हमे तो अपने मे ही चैन मानना है, हम तो अपने मे ही शान्ति पा रहे है ।

परमें आत्मीयताकी बुद्धिका अंधेरा—भैया ! जो ममत्व करेगा वही प्रत्येक प्रकारसे बधेगा, जो ममत्वरहित होगा वह छूट जायेगा । सो समस्त प्रयत्न करके अपने आपको ममत्वरहित चिन्तन करना चाहिए । परपदार्थोको मेरा है, मेरा है— ऐसा अतरगमे विश्वास रहना यह घोर अधकार है । अधकारसे यह जीव सुध भूल जाता है, अपनी ओर बहिर्मुख दृष्टि बनाकर ससारमे भ्रमण करता है । मोही जीव किन किन पदार्थोको अपना समझ रहा है ? स्त्री, पुत्र, धन वैभव, राज्य, अनाज, पशु, गाय, बैल, भैस, घोडा, मोटर साइकिल, कोट, कमीज, न जाने किन-किन वस्तुवोको यह मोही जीव अपनाता है । लोकव्यवहारके कारण कोई मेरा-मेरा मानता है, इतने पर तो कुछ नुकसान नही है किन्तु यह तो उनमे ऐसी आत्मीयताकी बुद्धि करे है कि उनका बिगाड होनेपर अपना बिगाड मानता है ।

तृष्णाके संस्कारका परिणमन—इस ससारके रोगीको तृष्णा ऐसी लगी है कि ये प्राणी पाये हुए समागमका भी सुख नही भोग सकत । और तो बात जाने दो, भोजन भी कर रहे है तो सुखसे भोजन नही कर सकते । तृष्णा अगले कौरकी लगी है, इसलिए जो ग्रास मुखमे है उसको भी यह सुखसे नही भोग पाता है, ऐसे ही इस धन सम्पदाकी बात है । तृष्णा ऐसी लगी है कि और धन आ जाय, और आ जाय इसके चिन्तनसे वर्तमानमे प्राप्त समागमको भी यह जीव सुखसे नही भोग पाता है । मान लो जितना धन आज है उसका चौथाई ही रहता तो क्या गुजारा न चलता ? या मनुष्य ही न होते, पशु पक्षी, कीडा मकोडा होते तो क्या हो नही सकते थे ? यदि पशु पक्षी होते तो कैसा क्लेशमे समय [illegible] ? कही वृक्ष होते तो खडे-खडे रहकर ही फिर सारा समय गुजारते फिरते । किन्तु [illegible] समस्त दुर्गतियोसे निकल भी आये हे तो भी वर्तमान समागममे सतोष नही होता है ।

अरे क्यो नही धर्मपालनके लिएअपना जीवन समझा जाता है ? जब यह जीव मोहवश अज्ञान भावसे अपनेमे ममकार और अहंकार करता है तब इन कषायोकी प्रवृत्तिके कारण इस मिथ्या आशयके होनेके कारण शुभ अशुभ कर्मोका बध होने लगता है ।

एक दृष्टान्त द्वारा स्नेहसे कर्मबन्ध होनेका समर्थन—कर्मोका बन्धन परिणामोके माध्यमसे होता है, बाह्य वातावरणसे नही । जैसे कोई पुरुष किसी धूल भरे अखाडेमे लगोट कसकर तैल लगाकर हाथमे तलवार लेकर केला बास आदिपर बडी तेजीसे तलवारसे प्रहार करता है तो वह धूलसे लथपथ हो जाता है । वहाँ धूलके चिपकनेका क्या कारण है ? तो कोई कहेगा कि वाह सीधीसी तो बात है–धूल भरे अखाडेमे वह कूद गया तो धूल नही चिपकेगी तो और क्या होगा ? लेकिन कोई दूसरा पुरुष उस ही प्रकार लगोट कसकर हाथ मे तलवार लेकर उन बॉस केलोपर ही तेजीसे प्रहार करे, किन्तु तेलभर नही लगाया है, उस पुरषके तो धूल चिपकती हुई नही देखी जाती है । इस कारण तुम्हारा यह कहना अनुचित है कि धूल भरे अखाडेमे गया इसलिए धूल बँधी । तो दूसरा कोई बोला कि भाई हथियार हाथमे लिया इसलिए धूल बँध गयी । तो दूसरे पुरुषने भी तो तलवार हाथमे लिया, पर उसके तो धूल चिपकी हुई नही देखी जाती है, इसलिए हथियारका लेना भी धूल के चिपकनेका कारण नही है । तो तीसरा कोई बोला कि उसने शस्त्रको केलोपर, बाँसोपर प्रहार किया इस कारण धूल बँधी । तो उस दूसरे पुरषने भी तो केलोपर, बासोपर शस्त्रसे प्रहार किया, पर उसके तो धूल चिपकी हुई नही देखी जाती । अरे उस पुरषने तैल लगाया है इसलिए उसका शरीर धूलसे लथपथ हो गया है और दूसरेने तैल नही लगाया है इस कारण वह धूलसे लथपथ नही हुआ है । क्रियाये सब जानते है कि शरीरमे स्नेह लगा है स्नेह नाम तैलका है, चिकनाई लगी है इस कारण उसे धूलका बध हो गया है ।

कर्मव्याप्त लोकनिवास कर्मबन्धका अकारण—ससारी प्राणियोकी भी अपने अध्यवसानके कारण दुर्दशा है । ये ससारी प्राणी इस शरीरसे मन, वचन, कायकी क्रियाए करके और इन क्रियावोके द्वारा जीवघात करके कर्मोसे लिप रहे है, ऐसी स्थितिमे कोई कारण पूछे कि यह जीव कर्मोसे क्यो लिप गया है ? तो कोई एक उत्तर देता है कि कर्मों से भरा हुआ लोक है ना, वह तब कर्म न बाँधे तो क्या होगा ? लेकिन यह बात नही है । यह बतावो कि इस समय सिद्ध भगवान कहाँ बिराजे है, इस लोकके भीतर या लोकके बाहर या लोकके अतमे है ? लोकके बाहर केवल आकाश ही आकाश है, न वहाँ जीव है, न पुद्गल है, न धर्म अधर्म है, न काल है । इस लोकमे सर्वत्र कार्माणवर्गणाये बसी हुई है । जहाँ सिद्ध जीव बिराजे है वहाँ पर भी ठसाठस अनन्त कार्माणवर्गणाए है और केवल कार्माणवर्गणा ही नहीं, वहाँ अनन्त निगोदिया जीव भी है, जो निगोदिया जीव इस

जगतके निगोदियोकी तरह ही दु खी है, एक श्वासमे १८ बार जन्म और मरण करते है उन निगोदियोमे और सिद्ध भगवानकी जगहमें रहने वाले सूक्ष्म निगोदियोमे दु खका कोई अन्तर नही है, वे लोकमे दु खी है व सिद्ध वहाँ सुखी है। इसलिए लोकबन्धनका कारण नही है अथवा मुक्तिका कारण नहीं है।

मन वचन कायका परिस्पन्द कर्मबन्धका अकारण—तब दूसरा कोई बोला कि वाह ये जीव मन, वचन, कायकी चेष्टाएँ करते है उससे बध होता है। तो जरा यह बतलावो कि जो चार घातिया कर्मोका नाश करके अरहत हुए है उन अरहतोके क्या वचनवर्गणाये नही निकलती ? दिव्यध्वनि जो खिरती है उन अरहत भगवानके क्या शरीरकी चेष्टाएँ नही होती ? वे भी बिहार करते है, उनके शरीरमे जो द्रव्यमन रचा हुआ है क्या उस द्रव्यमन मे कोई क्रिया नही होती ? होती ही है। उनके भी मनोयोग, वचनयोग और काययोग तीन योग पाये जाते है, वे सयोगकेवली कहलाते है। अभी उनके तीनो योग है। दो मनोयोग है दो वचनयोग है—औदारिक काययोग औदारिक मिश्रकाययोग, कार्माणकाययोग। ये तीन काययोग है, यो ७ योग माने गये है सयोगकेवलीके। मन, वचन, कायकी चेष्टा उनके भी हो रही है पर क्या कर्मबन्धन है नही। इनके मन, वचन, कायकी चेष्टासे कर्मबन्धन नही होता। अत मन, वचन, कायकी चेष्टा कर्मबन्धका कारण नही है।

परमार्थतः परप्रबंध बन्धका अकारण—तब तीसरा बोला कि वाह इनके चलने फिरने से अथवा अन्य प्रकारसे जीवोका घात होता रहता है तब इन्हे कर्मबध कैसे नही होता ? अच्छा बतलावो कि जो साधु हो गए है, महाव्रतका जो जो पालन करते है, समितिपूर्वक गमन करते है ऐसे साधु सत अच्छे कामके लिए अच्छे भाव सहित दिनमे चार हाथ आगे जमीन देखकर ईर्यासमितिसे जा रहे हो और अचानक कोई कुन्थु जीव पैरोके नीचे आकर दबकर मर जाय तो क्या उन साधुवोके भी कर्मबध होता है ? परिणाम ही नही है उनका क्रूर। कैसे बधे कर्म ? तो यह भी बात तुम्हारी युक्त नही है।

कर्मबन्धका कारण—कर्मबधका करने वाला केवल स्नेह भाव है। उपयोगमे जो राग बस रहा है, मोह रागद्वेष चल रहा है यह ही कर्मबन्धका कारण है। जो जीव रागद्वेष विभावोके साथ अपना एकीकरण करता है, राग करता है, यह मैं ऐसा ही हू, रागसे भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप मेरा है ऐसा जो नही मान सकता है ऐसे पुरुषके बन्धन होता है। इस ही को ममत्व सहित पुरुष कहा गया है।

पर्यायव्यामोहीके सकल विश्वके मोहका संस्कार—जो अपने शरीरमे 'यह मैं हूँ' ऐसा अहंकार रखता है, ममकार रखता है उसने सर्वविश्वका अहकार और ममकार किया है। यद्यपि इस मोही जीवके पास किसीके ५० हजारकी विभूति हो, लाखकी हो, कुछ सारा

जगतका वैभव तो नही है । तो क्या उसे केवल ५० हजारमे ही ममता है या लाखमे ही ममता है ? उस अज्ञानी जीवको सारे विश्वमे ममता है । न हो पास इसके और योग्यता भी विशाल न होनेसे अन्य विभावोकी कल्पना भी न उठती हो तिसपर भी उसकी वासनामे तीन लोकके वैभवके प्रति आत्मीयता बसी है अन्यथा उसके सामने रख दो और वैभव, क्या वह मना कर देगा कि अब मुझे न चाहिए ? उसकी तृष्णा शान्त नही हो सकती । मोहमे सारे विश्वके प्रति ममताका परिणाम बसा हुआ है और इस कारण उसे समस्त जगतका बन्धन लग रहा है ।

अध्यवसानमें कर्मबन्धकी निरन्तरता——भैया ! पदार्थोमे इष्ट अनिष्ट कल्पनाएँ होने से रागद्वेषका अस्तित्व आत्मामे अपना स्थान जमा लेता है और फिर यह उपयोग उन विभाव भावोके कारण विकृत हो जाता है, सर्व प्रकारसे परमे तन्मय हो जाता है उस समय रागद्वेष परिणामरूप यह अध्यवसान भाव ही बधका कारण होता है । जो पुरुष यह मेरा है यह दूसरेका है, इसका मै मालिक हू इसका दूसरा मालिक है—ऐसी रागबुद्धि बसाये, परमर्षि कहते है उनके शुभ अशुभ कर्म बँधते ही रहते है । कर्मबन्धनके लिए निमित्त चाहिए रागादिक भाव, उसके लिए हाथ कैसे चल रहे है यह निमित्त नही है, पैर कैसे उठ रहे है यह निमित्त नही है । पूजा भी करता हो कोई और परिणामोमे विषयोके साधनोकी बात बसी हो अथवा किसी पुरुषके प्रति बैर भाव बसा हो तो पापका बध हो जायगा । कर्म इस बातसे नही अटकते है कि मंदिरमे खडे है तो हम इनके न बँधे, ये भगवानके समक्ष खडे है इनके न बँधे, ऐसी अटक कर्मोमे नही है । कर्मोके बन्धनका निमित्त तो रागद्वेष मोह अध्यवसान भाव है, वह हुआ तो कर्म बँध गया । चाहे वह तीर्थ क्षेत्रमे हो, चाहे मदिर स्थानमे हो, चाहे वह साधुवोके सगमे समक्षमे बैठा हो ।

ममतारहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपकी उपासनाका अभिनन्दन——जिन पुरुषोके वैराग्य और ज्ञानका परिणमन चल रहा है उनके कर्म नही बँधते है, किन्तु अनेक कर्म निर्जराको प्राप्त होते है क्योकि उनके चित्तमे शुद्ध कारणसमयसार विराजमान है । वे चाहे किसी घरमे खडे हो, चाहे किन्ही वस्तुवोमे गुजर रहे हो, किन्ही भी बाह्य परिस्थितियोमे हो, जिन जीवोके रागद्वेषादिक भावोमे अपनायत नही है, जो अपने सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी उपासना करते है उन पुरुषोके कर्म नही बँध सकते । कर्मोका बन्धन अहकार और ममकार परिणामके कारण होता है । यह मै हू, यह मैं हू, जो हर जगहमे मै मैं वगराता है, हर जगह ममता करता है उसको कर्म बधन तो होगा ही । रेलकी सफरमे जा रहे हो और किसी मुसाफिरसे थोडा स्नेह हो जाय, थोडे वचनव्यवहारसे तो इतनेमे ही बन्धन हो जाता है । जब वियोग होता है, किसी एकके उतरनेका स्टेशन आ जाता है तो उसमे कुछ थोडा

ख्याल तो जरूर आ जाता है। समस्त संकटोका मूल स्नेह भाव है। इस स्नेहमे जो रँगा पँगा है वह बँध जाता है, और जो रागादिक भावोसे भी न्यारा अपने आपको निरखता है, अपनेको शुद्ध अकिञ्चन देखता है, मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप प्रतीतिमे लेता है वह कर्मोसे छूट जाता है। इस कारण मुक्ति चाहने वाले पुरुषको अपनेको ममतारहित अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूपको निरखना चाहिए।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्र गोचरः।
बाह्या संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

ज्ञानीका चिन्तन—ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि मैं एक हूँ, अकेला हूँ, अपनी सब प्रकारकी सृष्टियोमे मै ही एक परिणत होता रहता हू। मेरा कोई दूसरा नही है। मेरा मात्र मै ही हू, निर्मम हू। मेरेमे ममता परिणाम भी नही है और ममता परिणामका विषयभूत कोई पदार्थ मेरा नही है। मै शुद्ध हू अर्थात् समस्त परपदार्थोसे विविक्त अपने आपके द्रव्यत्व गुणसे परिणत रहने वाला हू, योगीन्द्रोके द्वारा गोचर हू। मेरा यह सहज आत्मस्वरूप योगीन्द्र पुरुषोके द्वारा विदित है। अन्य समस्त सयोगजन्य भाव मेरेसे सर्वथा पृथक् है।

नाना पर्यायोंमे भी आत्माका एकत्व—यद्यपि पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे यह जीव नाना रूप बनता है। मनुष्य बना, देव बना, नारकी हुआ, नाना प्रकारका तिर्यञ्च हुआ। नाना विभाव व्यञ्जनपर्याये प्रकट हुई है फिर भी यह जीव अपने स्वरूपमे एक ही प्रतिभासमान है, प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक होता है। कोई पदार्थ हो वह है और उसकी कुछ न कुछ दशा है। पर्याय और द्रव्य इन दोनोसे ही तदात्मक यह समस्त विश्व है। कोई पदार्थ ऐसा नही है कि वह केवल द्रव्य ही हो और उसमे परिणति कुछ न होती हो और न कोई पर्याय ऐसा है कि केवल पर्याय ही है उसका आधारभूत कोई द्रव्य नही है, इसी कारण यद्यपि उसकी नाना स्थितियाँ होती है, ज्ञानादिक गुणोका परिणमन भी चलता है और व्यञ्जनपर्याये भी नाना चल रही है फिर भी मैं सर्वत्र अकेला हू।

व्यावहारिक प्रसंगोंमें भी एकाकित्व—व्यावहारिक प्रसगोमे भी मै अकेला हू। सुखी दुखी भी मैं अकेला ही होता हूँ। जिसरूप भी परिणत होता हू यह मैं अकेला ही। किन्ही भी बाह्य पदार्थोका ध्यान करके किसी विभावरूप परिणाम जाऊँ, वहाँपर भी यह मैं अकेला ही परिणत होता हू, दूसरा कोई मेरे साथ परिणत नही होता। मैं सर्वत्र एक हू। जो पुरुष अपनेको एक नही निरख पाते है किन्तु मैं अनेक रूप हू, मेरे अनेक है, मुझे अनेक वस्तु शरण है, अमुक पदार्थके होनेसे मेरी रक्षा है—इस प्रकारके विकल्पोसे अपने एकत्वको भूलकर किन्ही बाह्य पदार्थोको लक्ष्यमे लेकर मोहविकार रूप परिणमनमे लगता है वह

पुरुष ससारमे ही भटकता है । एक अपने चैतन्यस्वरूप एकत्वको त्यागकर इसको उपयोगमे न लेकर अब तक ससारमे रुला हूँ ।

श्रद्धानकी कलासे आनन्द या क्लेशकी सृष्टि——जिस भवमे गया उस ही भवमे जो मिला उसमे ही ममता की, जो पर्याय मिली उस ही रूप अपनेको माना । गाय, बैल, भैसा हुआ तो वहाँ उस ही रूप अपनी प्रतीति रखी । देव नारकी हुआ तो वहाँ उस ही रूप अपनी प्रतीति रखी । मनुष्यभवमे तो है ही, यहाँ ही देख लो, हम अपनेको निरन्तर मनुष्यताकी प्रतीति रखते है । मै मनुष्य भी नही हू, किन्तु एक अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप चेतन पदार्थ हूँ । ऐसी प्रतीतिमे कब-कब रहते है ? कभी नही । यदि ज्ञानानन्दस्वरूपकी प्रतीति हो तो फिर आकुलता नही रह सकती है, आकुलता कहाँ है ? निराकुल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखे तो वहाँ आकुलताका नाम नही है । वह अपने स्वरूपमे सत् है, समस्त परभावोसे मुक्त है, प्रभु है । यह मै आत्मा निर्मम हू । यहाँ शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखा जा रहा है, इसमे मिथ्यात्व, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कुछ भी परभाव नही है । स्वरसत निरखा जा रहा है ।

विभावोंके सम्बन्धके विवरणमे एक दृष्टांत——यद्यपि वर्तमानमे ये समस्त विभाव इस आत्माके ही परिणमन है । रागी कौन हो रहा है ? यह जीव ही तो, परन्तु यह राग जीव मे नही है, जीवके स्वभावमे राग नही है राग हो गया है । किसका बताएँ ? जैसे जब दर्पण को देखते है तो उसमे मुखकी छाया झलकती है, अब वहाँ यह बतलावो कि यह मुखके आकारका जो परिणमन है वह परिणमन क्या मुखका है अथवा दर्पणका है । दर्पणमे जो मुहका आकार बना है वह आकार यदि देखने वाले पुरुषका होता तो उसके शरीरमे फिर मुह ही न रहता क्योकि उसका मुह तो दर्पणमे चला गया । दो मुह तो नही है, हम आपके एक एक ही तो मुह लगा है । इसलिए वह दर्पणमे जो प्रतिबिम्ब पडा है मुखका वह पुरुषका नही है । तो क्या वह प्रतिबिम्ब दर्पणका है ? दर्पणके स्वरूपमे प्रतिबिम्ब नही है किन्तु झलझलाहट स्वच्छता, चमत्कार उस दर्पणके स्वरूपमे बसा हुआ है । दर्पणसे हटा लो या मुहको हटा लो वहाँसे तो कहाँ रहा मुहका प्रतिबिम्ब ? वह स्वच्छका ही स्वच्छ है । जिस समय दर्पणमे मुखका प्रतिबिम्ब झलक रहा है उस कालमे भी ऐसा लगता है कि यह प्रतिबिम्ब दर्पणके ऊपर लोट रहा है । दर्पणमे थमकर नही रह पाता । वह दर्पणसे पृथक् है ।

विभावका किसी भी पदार्थमें टिकावका अभाव——ऐसे ही जो रागद्वेष भाव उत्पन्न होने है आत्मामे, ये रागादिक भाव क्या कर्मके है ? यदि कर्मके रागादिक होते तो कर्म दुखी हो रहे है, फिर मुझ जीवको क्या पडी है कि व्रत करे, तप करे, साधना करें ।

ये रागादिक तो कर्मोंमे है, दुःखी हो तो कर्म दुःखी हो, पर ऐसा तो नही है। ये रागादिक भाव कर्ममे नही है, ये तो चेतनमे ही परिणत हो रहे है, लेकिन क्या ये रागादिक इस चैतन्यके स्वभावसे उठे हुए है? क्या इस जीवके स्वभावमे रागद्वेष करना पडा है? इस तत्त्वको उसही दृष्टिमे निहारे जैसे दर्पणमे प्रतिबिम्बकी बात निरखी गयी थी। दर्पणमे प्रतिबिम्ब डगमग डोलता रहता है। सामने मुख है तो दर्पणमे प्रतिबिम्ब है, मुखको थोडा एक तरफ किया तो वह दर्पणका प्रतिबिम्ब भी एक तरफ हो गया। मुख हटा लिया तो प्रतिबिम्ब हट गया, मुख दर्पणके सामने कर लिया तो प्रतिबिम्ब आ गया। क्या दर्पणकी चीज इस तरहसे अस्थिर होती है? जरा-जरा सी देरमे बिलकुल हट जाय, जरा सी देरमे फिर आ जाय, क्या ऐसी बात दर्पणमे पायी जाती है? नही। यह दर्पणका प्रतिबिम्ब नही है, यह औपाधिक है। ऐसे ही ये रागद्वेष मेरे स्वरूपमे नही है, ये औपाधिक है ये कर्मोकी उपाधिसे उत्पन्न हुए है, कर्मोका उदय है वह निमित्त है, जीवमे वे रागादिक होते है ये रागादिक मानो आत्मामे ऊपर ऊपर ही लोट रहे है। भीतर तो स्वरूप और स्वभाव ठोस रूपसे बना हुआ है।

आत्मामे भेदषट्कारकताका अभाव—यह आत्मा ज्ञानघन है आनन्दघन है। जो इसका स्वरूप है वह इसके स्वरूपमे स्वभावमे स्थिरतासे है। रागादिक मुझ आत्मतत्त्वमे नही है। मै निर्मम हू, शुद्ध हू। मै हू और परिणत हो रहा हू, पर ये परिणमन, ये वर्तमान परिवर्तन किसके द्वारा हो रहे है, किसमे हो रहे है, किसके लिए हो रहे है? यह भेद यहाँ नही है। बस ज्ञाताद्रष्टा बनो और यह निरख लो कि यह जीव है और इस तरह परिणम रहा है, वह दूसरे पदार्थसे नही परिणमता, वह दूसरे पदार्थमे नही परिणमता। समस्त कारक चक्रकी प्रक्रियाये इस आत्मतत्त्वमे नही है। यह मै परमार्थत जाननहार हू, मैं जानता हू, किसको जानता हू? इस जानते हुए निजस्वरूपको जानता हू, किसी बाह्य पदार्थको नही। जब यह जीव विकल्प करके किसी बाह्यपदार्थको भी जान रहा है तो वहाँ भी यह बाह्य पदार्थको नही जान रहा है किन्तु बाह्य पदार्थोंके सम्बधमे अपने आपका उस तरहसे ज्ञान प्राप्त कर रहा है।

परके जाननका व्यवहार—मै जानता हूँ किन्तु इस जानते हुएको ही जानता हूँ, किसी अन्यको नही जानता। भेदवादमे यह बात जरा देरमे बैठेगी पर एक युक्तिमे देखो मैं जितना जो कुछ हूँ और जो यह मै जो कुछ परिणम सकता हूँ वह अपनेमे ही परिणमूंगा किसी अन्यमे नही। मेरी क्रिया, मेरी चेष्टा मेरेमे ही होकर समाप्त होगी। जो कुछ भी मेरी क्रियाये है वे सब मेरे आत्मामे ही होगी या अन्यमे होगी? तब इस बाह्य पदार्थको वास्तवमे जाना कैसे? अपने आपको जाना है, पर उस जाननमे जो बाह्यपदार्थ विषय होते

है उनका नाम लगाया जाता है। जैसे एक लोक दृष्टान्त लो। हम दर्पणको देख रहे है, बडा दर्पण है, हमारी पीठ पीछे दो चार बालक खडे है। उन बालकोके निमित्तसे इस दर्पणमे भी उन जैसा प्रतिबिम्ब हो गया है हम क्या कर रहे है? केवल दर्पणको देख रहे है पर उन चार बालकोकी सारी क्रियावोको बताते जा रहे है। केवल दर्पणको देख रहे है और बताते जा रहे है सब कुछ, अमुक लडकेने हाथ उठाया, अमुकने पैर उठाया, अमुकने हाथ हिलाया, उन लडकोकी सब बाते हम कहते जाते है, जानते जाते है, पर हम देख रहे है केवल दर्पणको। तो जैसे हम केवल दर्पणको देख रहे है पर बाते सब लडकोकी बता रहे है इसी प्रकार हम केवल ज्ञानमयी आत्माको जान रहे है और बाते बताते है दुनियाभरकी। पूर्वजोको इतिहासकी, लोकके स्थितिकी, क्षेत्रकी। सभी प्रकारकी बाते बताते हैं, पर हम जान रहे है केवल अपने आत्माको।

ज्ञातामें ज्ञानका चमत्कार—कैसा विशाल चमत्कार है, कैसा ज्ञानस्वरूप यह आत्मा है कि यह केवल ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वको जान रहा है और बखान करता है अनेक पदार्थों का। मै ऐसा शुद्ध हूँ, मै जो कुछ करता हूँ अपने, अपनेसे, अपनेमे, अपने लिए अथवा करने का कुछ नाम ही नही है। मै जो कुछ भी हू, बर्त रहा हू उतना ही मात्र द्रव्य पर्यायात्मक सम्बन्ध है। इस प्रकार यह ज्ञानी पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको निरख रहा है, मै शुद्ध हू। स्वभावपर दृष्टि देकर यह बात समझी जा रही है कि मैं अपने आप अपनी ही सत्ताके कारण अपनेमे शुद्ध हू, ज्ञानमय हू।

पदार्थोंका परके द्वारा अभेद्य स्वरूप—भैया! जितने भी पदार्थ होते है सबमे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व, प्रमेयत्व ये ६ गुण होते है। अस्तित्वके कारण ये पदार्थ सत् है, इनमे है पना, इनका अस्तित्वपना है यह अस्तित्व गुणका काम है। वह पदार्थ वही रहे, दूसरा न बन जाय, दूसरे रूप न हो जाय, अपनेमे ही सत् है, परसे असत् है, ऐसा नियम न वस्तुत्व गुणसे हुआ है। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहे, परिणमनको छोडकर वह विश्रात नही हो सके, यो द्रव्यत्व गुणके कारण यह निरन्तर परिणमता रहता है। अगुरुलघुत्व गुणसे यह नियम बन जाता है कि यह पदार्थ अपनेमे ही परिणमेगा, किसी दूसरेमे न परिणमेगा। प्रदेश इसमे है ही और प्रमेय भी है, इस प्रकार आत्मामे सभी पदार्थोंकी भाँति ये ६ गुण है, इसके अतिरिक्त सूक्ष्मत्व आदिक अनेक गुण है किन्तु कल्पना करो कि इस आत्मामे ज्ञान गुण न होता और बाकी गुण होते तो क्या स्थिति होती? क्या हो सकता था कुछ? नही। यो आत्मा ज्ञानमयी है, ज्ञानघन है, ज्ञानात्मक है। इस अतरतत्त्वको अध्यात्मयोगी पुरुष ही जान सकता है। जिन्होने परको पर जानकर निजको निज जानकर परपदार्थोंके विकल्पोको तोडा है और केवल अपने आपके

स्वरूपमे ही रत रहा करते है ऐसे पुरुषोको ही इस शुद्ध चैतन्यस्वरूपका दर्शन होता है और इस चित्चमत्कारके अनुभवसे ही यथार्थ मर्मको समझते है एवं विश्वके समस्त प्राणियोको एक चैतन्यके रूपमे देखा करते है।

संयोगज भावोंकी आत्मस्वरूपसे भिन्नता—यह मै यथार्थ शुद्ध केवल आत्मा केवल योगिन्द्रोके द्वारा ही परिचयमे आ सकता हू। अज्ञानी जन अपने आपकी बातको नही समझते है ऐसा यह मैं आत्मा सबसे विविक्त शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हू, जितने भी बाह्य भाव है, रागद्वेषादिक है, वे सब संयोगीभाव है। कर्मोके सम्बधसे यह भाव बनता है, जिसको यह प्रतीति नही है कि ये भाव सब सयोगी है, मेरे स्वरसत होने वाले नही है, वे कभी मुक्त नही हो सकते। जिन अपराधोसे मुक्त होना है उन अपराधोका मेरेमे वस्तुत प्रवेश नही है। मेरे स्वयंके उन अपराधोका भान हुए बिना कैसे मुक्ति प्राप्त हो सकेगी? समस्त ये औपाधिक भाव, सयोगभाव मेरेसे सर्वथा स्वभावत दूर है। यह सब जानकर कर्तव्य यह है कि जो उपादेय है उसे ग्रहण करे और जो हेय है उसका परिहार करे। उपादेय है यहाँ अपने आपका यह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव। तन्मात्र ही अपनेको अनुभवे तो वहाँ सकटोका नाम ही नही है। जहाँ इस निर्विकार स्वरूपसे चिगे और सयोग लक्षण वाले इन जड पदार्थोमे ममत्व बुद्धि की, सकट वहीसे बन जाते है।

प्रधान और गौण कर्तव्य—उद्देश्य जीवनमे एक प्रधान होता है और एक गौण होता है। जैसे किसीको मकान बनवाना है, तो मकान बनवानेका उद्देश्य तो प्रधान है और उस मकान बनवानेके प्रसंगमे अनेक काम किए जाते है, जैसे ईंटे खरीदना है, सीमेन्टका परमिट बनवाना है, अमुक वस्तु लेना है, मजदूरोको इकट्ठा करना है, ये सब रोज-रोज प्रोग्राम बनते है, पर ये प्रधान उद्देश्य नही है। जब तक वे नियमित कार्य समाप्त नही हो जाते तब तक सर्वसाधनोका ग्रहण है। मुख्य उद्देश्य तो इसका एक है, जो भी इसने सोचा है। ऐसा ही ज्ञानी पुरुषका मुख्य उद्देश्य केवल एक ही होता है—निरपराध ज्ञानानन्दस्वरूप निज कारण प्रभुका दर्शन करना, चिन्तन और मनन करना। इसके अतिरिक्त इसकी श्री साधनाके लिए दर्शनपूजन स्वाध्याय, जाप, सत्सग आदिक जितने भी प्रयोग है वे सब प्रयोग केवल एक इस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिए है, वे मुख्य उद्देश्य नही है, वे सब गौण है। हमारा मुख्य उद्देश्य है संयोगजन्य भावसे मुक्त होकर सहज आनन्दस्वरूपमे मग्न रहना, इसकी उपलब्धि जैसे हो इसका प्रयत्न करना यह हमारा गौण प्रोग्राम है।

ज्ञानीका निर्णय—ज्ञानी पुरुष अपने आपके स्वरूपका निर्णय कर रहा है। मैं एक हू, अपने लिए मै अद्वैत हूँ। अपनी सब स्थितियोमे मै मै ही हू। मेरा कोई दूसरा शरण अथवा साथी नही है। समस्त कामनावोसे रहित हू। ज्ञानानन्दघन अध्यात्मयोग द्वारा मै

सर्व परपदार्थोमे उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप हू । इस ही तत्त्वकी आराधनाके प्रसादसे भगवान अरहत हुए है । जिनका हम पूजन वदन करते है उनके और कला ही क्या थी जिससे वे आज हम लोगोके पूज्य कहलाते है, वह कला है स्वभाव दर्शनकी कला । वे अपने इस चित्स्वभाव मे मग्न हुए थे, उसके ही प्रसादसे भव भवके सचित उनके कर्म जाल नष्ट हुए और अनन्त चतुष्टयसम्पन्न सर्व भव्य जीवोके उपास्य हुए, ऐसा होनेका मेरेमे स्वभाव है । ज्ञानी सत इस स्वभावकी उपासना किया करते है ।

दु खसदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम् ।
त्यजाम्येनं तत सर्वं मनोवाक्कायकर्मभि. ॥२८॥

ज्ञानीके सकल संन्यासका चिंतन— ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है और संकल्प करता है कि इस प्राणीको जितने भी क्लेश समूहका भाजन होना पडा है वह सब इस शरीर आदिकके सयोगसे ही होना पडा है । इस कारण मै मनसे, वचनसे और कायसे इन समस्त समागमोको छोडता हू । परमार्थसे यदि भीतर दृष्टिमे यह बात समा जाय कि जो भी पदार्थ होते है वे अपने स्वरूपमात्र होते है । मै भी अमूर्त ज्ञानानन्दमय केवल अपने स्वरूप मात्र हू । इस मुझ आत्मतत्त्वमे किसी दूसरे पदार्थका सम्बध भी नही है ऐसी दृष्टि हो जाय और समस्त बाह्य पदार्थोसे उपेक्षा हो जाय तो यही उनका छोडना कहलाता है । इसमे कषायकी बात कुछ नही है । जैसे कोई लोग कहे कि वाह ! मानते जावो ऐसा कि मैं सबसे न्यारा हू और छोडो कुछ भी नही । यहाँ कुछ भी छलकी बात नही है, केवल ऐसा अनुभवमे उतर गया कि मैं सबसे विविक्त हू तो उसने सबको छोड दिया । अब ऐसी प्रतीति बहुत काल तक बनी रहती है तो बहुत काल तक छूटा हुआ रहेगा और कुछ ही क्षण बाद पूर्व वासनाके कारण फिर उनमे चित्त गया तो वह ग्रहणका ग्रहण ही है ।

आनंदका साधन भेदविज्ञान——भैया ! जितना भी आनन्द मिलेगा प्रत्येक जीवको वह भेदविज्ञानसे ही मिलेगा । भेदविज्ञान बिना आनन्द मिलनेका अन्य कोई उपाय ही नही है । लोकमे कही ऐसा नही है कि धनिकोको करोडोके धन वैभवसे आनन्द मिल जायगा और गरीबोको भेदविज्ञानसे आनन्द मिलेगा । जिन्हे भी आनन्द मिलेगा भेदविज्ञानसे ही मिलेगा, चाहे अमीर हो चाहे गरीब । कारण यह है कि आनन्दमे बाधाको डालने वाला विकल्प हुआ करता है और विकल्पोकी उत्पत्ति होनेके लिए परपदार्थ आश्रय होता है । बाह्य साधन तो जिसको जितने मिले है उसे प्राय उतने विकल्प बढेगे और जिसके विकल्प बढे हुए है उन्हे आनन्द न मिलेगा । समागम हो तब भी, न हो तब भी, आनन्द तो भेदविज्ञानसे ही मिलेगा । लोग कभी-कभी अपनेमे बडा झभट समझते है । मैं बहुत चक्करमे पड गया, मुझे इतना क्लेश है । अरे ये सारे क्लेश समस्त सकट भेदविज्ञानके उपायसे, सबमे

न्यारा अपनेको मान लेनेसे मिट जाते है। सबका विकल्प तोडनेसे अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव होनेपर सारे सकट समाप्त हो जाते है।

प्रभुका आदर्श व आदेश—जिनके सकट समाप्त हो चुके है ऐसे प्रभु भगवानका यह उपदेश है कि जिस उपायसे हम सकटोसे मुक्त हुए है इसी उपायको भव्यजन करेगे तो संकटोसे छूटनेका अवसर पावेगे। सकटोसे छूटनेका उपाय भेदविज्ञानके सिवाय और कुछ नही है। एक ही निर्णय है। कही ऐसा अनियम नही है किसीको धनसे आनन्द मिलता हो, किसीको इज्जत मिलनेसे आनन्द मिलता हो, किसीको अनेक काम मिलनेसे आनन्द मिलता हो, किसीको अच्छा परिवार रहनेसे आनन्द मिलता हो, जिसे भी आनन्द मिलेगा वह भेदविज्ञानसे 'मिलेगा।

मिथ्या आशयमें क्लेशकी प्राकृतिकता—जो जीव शरीरादिकसे अपनेको अभेदरूपसे मानता है, अर्थात् यह मैं हूँ ऐसी उनमे आत्मकल्पना करता है उसे शारीरिक कष्ट भी होता है, मानसिक भी कष्ट होता है और क्षेत्र समागम आदिके कारण भी कष्ट हो जाता है। मिथ्या धारणा हो, प्रतीति हो वहाँ दु ख होना उस मिथ्या श्रद्धानके कारण प्राकृतिक है। दु ख किसी परवस्तुसे नही होता, दु ख भी अपने आपकी कल्पनासे, मिथ्या धारणासे होता है। सारी चीजे अनित्य है। जो घर मिला है, घरमे जो कुछ है, जितना सग जुटा है वह सब अनित्य है। उन्हे कोई नित्य माने और ये मोही मानते ही है। ये दूसरेके समागमको तो अनित्य झट समझ लेते है, ये समागम मिट जायेगे, मर जायेगे लोग, कोई न रहेगे यहाँ, किन्तु अपने समागमके सम्बधमे यह विशद बोध नही है कि यह भी मिट जायगा। यदि यह ध्यानमे रहे कि यह सब मिट जायगा तो फिर इसकी आसक्ति नही रह सकती है। इसने अनित्यको नित्य मान लिया, इसीसे आफते लग गयी।

भ्रांतिमें उल्झन और निर्भ्रान्तिमें सुल्झन—भैया! अनित्यको नित्य माननेके विकल्प मे एक आपत्ति तो यह है कि जब मान लिया कि ये सदा रहेगे तो उनके बढावाके लिए, सग्रहके लिए जीवनभर इसे श्रमकी ज्वालामे झुकना पडता है। दूसरी आपत्ति यह है यह अनित्यको नित्य मान लेनेसे तो कही यह जगजाल नित्य तो नही हो जाता। बाह्यसमागम तो अपनी परिणतिके माफिक बिछुड जायेगे। यह मिथ्यादृष्टि जीव अनित्यको नित्य मानता है, सो जब वियोग होता है तब उसके वियोगमे दु खी होता है। यदि अनित्यको अनित्य ही जानता होता तो उसमे लाभ था। पहिला लाभ यह कि इन बाह्य पदार्थोके सचयके लिए अपना जीवन न समझता और श्रममे समय न गवाता और दूसरा लाभ यह होता कि किसी भी क्षण जब ये समागम बिछुडते तो यह क्लेश न मानता।

अज्ञानके फल फून—जितने भी लोग घरमे बस रहे है, जिन दो एक प्राणियोसे

सम्बन्ध मान रखा है, उनका वियोग जरूर होगा। पुरुष स्त्री है, कभी तो वियोग होगा ही। पुरुषका भी वियोग पहिले सम्भव हो सकता है और स्त्रीका भी वियोग पहिले सम्भव हो सकता है। वियोगकालमे कष्ट मानेंगे। यह बात प्रायः सभी मनुष्योपर गुजर रही है। जब तक मनके प्रतिकूल कोई घटना नही आती है, मौजमे समय कट रहा है और यह बीता हुआ समय जाना भी नही जा रहा है। मेरी इतनी आयु हो गयी है कुछ जाना ही नही जाता है। लेकिन सभी जीव चाहे बडे यशस्वी हो सभीपर यह बात आयगी। जो समागम मिला है वह किसी दिन अवश्य बिछुडेगा। अब जब बिछुडेगा तो वही वही क्लेश जो औरोंको आता है, इसे भी आयगा। तो जो पदार्थ जैसा नही है वैसा मानना अर्थात् वस्तुस्वरूपमे उल्टी धारणा बनाना, इसमे दुःखी होना प्राकृतिक बात है। इस ही वैभवके ममत्वके कारण दुःख है। किसी अन्य पदार्थके होने अथवा न होनेसे दुःख नही है। इस ससारकी जड अज्ञान है। कितने ही लोग तो इस संसारपर दया करके कह देते है कि लो सभी लोग ब्रह्मचारी हो गए तो ससार कैसे चलेगा? सभी ज्ञानी वैरागी हो गए तो ससारकी क्या हालत होगी? उनको ससारपर तरस आती है, दया आती है। कही ससार की वृद्धिमे बाधा न हो, देखो इस अज्ञानीका बहाना।

ज्ञान, वैराग्यसे क्लेशक्षय—बहुत तीक्ष्ण धारा है इस कल्याणमार्गकी, किन्तु जो इस ज्ञानवैराग्यकी धारापर उतर गया और निरुपद्रव पार कर गया वह सकटोसे सदाके लिए मुक्त हो जाता है। जितने भी यहाँ क्लेश है वे सब मन, वचन, कायकी क्रियावोके अपनानेमे है। इस जीवने मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति की, उससे आत्मयोग हुआ, प्रदेश परिस्पद हुआ, कर्मोका आस्रव हुआ और साथ ही इसमे मिथ्या आशय और क्रोधादिक कषायोसे कर्मोका बध हुआ। अब ये बद्ध कर्म जब उदयकालमे आते है, आये थे तब इस जीवको विभाव परिणति होती है व हुई और चक्रकी तरह ये भावकर्म द्रव्यकर्म चलते ही रहे। उनके फलमे सुखी दुःखी होना, इष्ट अनिष्ट लगना सब दुःख परम्पराये बढती चली आयी। सो सारे दुःखका झगडा लो यो मिट जायगा कि इस मनको, वचनको, और कायको अपनेसे भिन्न मान लें। ऐसा भिन्न माननेमे यह धीर साहसी आत्मा उस विपदाके पहाडके नीचे भी पडा है तब भी बलिष्ट है, उसे रच भी श्रम नही होता है।

भेदाभ्यासके बिना सकट विनाशका अभाव—इस जीवका ससरण तब तक है जब तक मन, वचन, कायको अपना रहा है। कितना क्लेश है? किसीने प्रतिकूल बात कही, निन्दाकी बात कही तो यह चित्त बेचैन हो जाता है। क्या हुआ किसीने कुछ उसे कहा ही न था। वे वचन भी मायारूप, वह कहने वाला भी माया रूप, यह सोचने वाला भी माया रूप, और उस आत्माकी प्रवृत्तिसे वचन भी नही निकलते निमित्तनैमित्तिक सम्बधमे उन

वचन वर्गणावोंसे वचन परिणति हुई और वे वचन मुझमे किसी प्रकार आ ही नही सकते। यह प्रभुरूप है इसलिए जान लिया इसने सब। अब रागसे प्रेरित होकर कल्पना मचाता है। उसने हमे यो कह दिया। उन कल्पनावोंमे परेशान हो जाता है। एक यह निर्णय बन जाय कि यह शरीर ही मै नही हू फिर सम्मान अपमान कहाँ ठहरेगे ? मन, वचन काय इन तीनोको जो त्याग देता है, इनसे भिन्न केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूपमात्र अपनेको निरखता है तो इस भेदके अभ्याससे इस जीवको मुक्ति होती है।

भ्रममे अशांति व अस्थिरता—भैया ! जब तक भ्रम लगा है तब तक चैन नही हो सकती। कोई कितना ही प्रिय मित्र हो, किसी प्रवृत्तिको देखकर भ्रममे यह बात बैठ जाय कि अब अमुक तो मेरे विरोधमे है, तो इस विरोध मान्यताकी भावनासे यह बेचैन हो गया। विरोध उपयोगमे पडा हुआ है इसलिए उस मित्रकी सारी चेष्टाएँ विरोधरूप दीखती है, इससे विरोध भावना और बढ जाती है, चैन नही मिलती है भ्रममे। फिर यहाँ तो आत्मा का भ्रम हो गया, पूरा मिथ्या आशय बन गया है। जो मैं नही हूँ उसे मानता है कि यह मैं हूँ। बस इस आशयसे ही क्लेश हो गया। किसी एक बातपर थमकर ही नही रहता यह मोही जीव। किसीको अपना मानता है तो उस ही को अपना मानता रहे, देखो किसी दूसरे को अपना न माने, जरासी दृढता कर ले, पर मोहमे यह भी दृढता नही रहती है। सच बात हो तो दृढता रहे। झूठ बातपर टिकाव कैसे हो सकता है ?

पर्यायमें मोहकी अदल बदल— यह मोही जीव इस देहको आत्मा मानता है तो देखो इस देहको ही आत्मा मानते रहना, फिर कभी हट न जाना अपनी टेकसे। अहो हट जाता है टेकसे। मृत्यु हुई, दूसरा शरीर धारण किया, अब उस शररीरको अपना मानने लगा। आज कैसा सुडौल है, अच्छे नाक, आँख, कान है और मरकर मगरमच्छ बन गये तो उस थावाथूल शरीरको ही अपना सर्वस्व मानने लगा। जीव मैं वही हूँ। अब जिस पर्यायमे गया उसको ही मैं माना। इस मनुष्यको ये भैसा, बैल, सूकर, कूकर आदि न कुछसे विचित्र मालूम होते है। बेढगे कहाँसे हाथ निकल बैठे, और कैसा पूरे अगोसे चल रहे है, सब बेढगे मालूम होते है, सम्भव है कि इन सूकर, कूकर, गाय, भैसोको भी यह मनुष्य बेढगा मालूम होता होगा। जिसको जो पर्याय मिली है उसको वह अपनी उस ही पर्यायको सुन्दर सुडौल ढगकी ठीक मानता है, उसके अतिरिक्त अन्य देह आकार ढाचे तो बेढगे मालूम होने है।

कुटेकमें स्थिरता व शांतिका अभाव—यह जीव किसी एक बातपर थमकर ही नही रहता। चाहे तुम धनको प्रिय मानते हो, सर्वस्व मानते हो तो मानते ही रहो, देखो टेकसे हट मत जाना। लेकिन अपने शरीरमे कोई व्याधि हो जाय या कुटुम्बके लोग कोई विपत्ति

मे पड जाये तो उस ही धनको बुरी तरह खर्च कर डालते है। यह टेक नही निभा पाता, किसी भी चीजमे स्थिर नही हो पाता। यह अनेक इन्द्रियविषयसाधनोको ग्रहण कर करके डोलता है, दुखी रहता है। यह जीव संसारमे तब तक भ्रमण करता रहता है जब तक मन, वचन, कायको यह मै ही हूँ ऐसी प्रतीति रखता है।

भेदप्रयोग——भैया ! यह भ्रमबुद्धि दूर हो, शरीर मै नही हू ऐसी प्रतीति करे, छोडा तो जा सकता है शरीरका ध्यान, न शरीरको ज्ञानमे ले। यह जाननहार ज्ञान स्वयं क्या है, इसका स्वयका स्वरूप क्या है यह बुद्धि लाये तो क्या लायी नही जा सकती ? छोड दो इस शरीरका विकल्प। वचनोका भी विकल्प त्यागा जा सकता है पर कायके विकल्पसे कठिन वचनका विकल्प है। ये दोनो भी त्यागे जा सकते है पर मनका विकल्प सबमे कठिन है। कायके विकल्पसे कठिन वचनका विकल्प और वचनके विकल्पसे कठिन मनका विकल्प है। कुछ-कुछ ध्यानमे तो बनाया जा सकता है। शरीर मैं नही हू। कोई जाननहार पदार्थ मै हूँ, वचन भी मै नही हू, कोई ज्ञान प्रकाश मै हूँ, पर चित्त, मन जो अतरङ्ग इन्द्रिय है, जिसका परिणमन ज्ञानविकल्पमे एकमेक चल रहा है उस मनसे न्यारा ज्ञानप्रकाश मात्र मै हूँ, ऐसा अनुभव करना कठिन हो रहा है। लेकिन यह मनोविकल्प जिसके कारण सहज आत्मतत्त्वका अनुभव नही हो पाता है यह भी भ्रम है, मनोविकल्पका अपनाना यह भी कष्ट है। जो जीव कायसे, वचनसे और मनसे न्यारा अपने आपको देखता है वह ससारके बधन से छूटकर मुक्तिको पाता है।

विभक्त आत्मस्वरूपकी भावना——इन जीवोको यहाँकी बाते बहुत बडी मीठी लगती है, पर एक बार सभी झझटोसे छूटकर शुद्ध आनन्दमे पहुच जाय तो यह सबसे बडी उत्कृष्ट बात है। जो सदाको संकटोसे छुटानेका उपाय है उस उपायका आदर किया जाय तो यह मनुष्यजीवन सफल है, अन्यथा बाह्यमे कुछ भी करते जावो, करता भी यह कुछ नही है, केवल विकल्प करता है। कुछ भी हो जाय बाह्य पदार्थमे किन्तु उससे इस आत्माका भला नही है। समस्त प्राणियोको मन, वचन, कायके संयोगसे ही दु:खसमूहका भाजन बनना पडा है। अब मै मनसे, वचनसे, कायसे अर्थात् सर्वथा बडी दृढतासे इन सबका परित्याग करता हू, और मै केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हू इस अनुभवमे बसूँगा, ऐसा ज्ञानी यथार्थ चिन्तन कर रहा है और अपने आपको सर्व विविक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र अनुभव करता है।

न मे मृत्यु कुतो भीतिर्न मे व्याधि कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

ज्ञानीके मरणभयका अभाव——मेरे मृत्यु नही है, फिर मेरे भय कहाँसे पैदा हो ?

जब मेरेमे व्याधि ही नही है तो व्यथा कहाँसे बने ? मै बालक नही, वृद्ध नही और जवान भी नही हू । ये सब दशाये पुद्गलमे होती है।

ज्ञानीके मरणभयका अभाव—जिस जीवको अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वका निश्चय हो जाता है उस जीवके मृत्यु नही होती है। ये बाह्य प्राण, इन्द्रियबल, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्‌वास मिट जाते है, परन्तु मै नही मिटता। ये विकारभाव है। लोकमे इन प्राणोके वियोगका नाम मरण कहा है किन्तु वास्तवमे प्राणोके दूर हो जानेपर उसका विनाश नही होता है। मैं मृत्युरहित हू। शरीर मुझसे भिन्न है, विपरीत स्वभाव वाला है। यह मै परमार्थ चैतन्यतत्त्व हू। इसका कभी विनाश नही है। शरीरका विनाश है। शरीर का वियोग शरीरका बिछुडना शरीरकी स्थिति है, जीवकी नही है। आत्माका स्वरूप आत्मा का प्राण ज्ञानदर्शन है, चैतन्यस्वरूप है, उसका कभी भी अभाव नही होता है, इस कारण जीवका कभी मरण ही नही है, यह निर्भय नि शक रहता हुआ अपने स्वरूपका अनुभव कर रहा है। मरण नाम है आगे जन्म होनेका। नवीन जन्म लेनेका नाम मरण है। जिसका नवीन जन्म नही होता ऐसे अरहत भगवानका मरण भी नही कहा जाता है। उसका नाम है निर्वाण। जिसके बाद जन्म हो उसका नाम मरण है। इस आत्माका न कभी जन्म है न कभी मरण है। अपने सहजस्वरूपको दृष्टिमे लेकर चिन्तन करिये। यह शरीर जिसमे बँधा हुआ है, यह शरीर मेरा साथी नही है। मेरा कुछ भी आत्मतत्त्व नही है। शरीरकी बात शरीरमे है, मेरी बात मुझमे है। यह मैं आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप प्रभुकी तरह प्रभुतासे भरा हुआ हू। स्वरसत अनन्त चतुष्टयात्मक आत्मसमृद्धिसम्पन्न मै आत्मा हू। इसमे कहाँ भय है ?

मोहियोंका विकट भय—सबसे विकट भय जीवको मरणका रहा करता है। कोई पुरानी बुढिया जो रोज-रोज भगवानका नाम इसलिए जपे कि भगवान मुझे उठा ले अर्थात् मेरी मौत हो जाय, होगा कोई दु ख। और कदाचित् साप सामने आ जाय तो वह अपने छोटे पोतोको पुकारती है कि बेटा बचावो साप आया है, और बेटा अगर कह दे कि तुम तो रोज भगवानका नाम जपती थी भगवान मुझे उठा ले, सो भगवानने ही भेजा है यह, अब काहेको बुलाती है हमे ? लेकिन मरणका भय सबके लगता है।

आत्मज्ञानमें भयका अभाव—जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, जो जानते है कि यह शरीर नही रहा, यह धन वैभव सम्पदा नही रही, लोगोंमे मेरी उठा बैठी न रही तो क्या है, ये तो सब मायास्वरूप है। मै आत्मा सत् हू, मेरा सुख दु ख आनद सब मेरी करतूतके आधीन है, यहांके मकान सम्पदा मेरे आधीन नही है। यो आत्मतत्त्वका चिन्तन हो तो उसे भय नही रहता। भयकी चीज तो यही समागम है। जिसके पास वैभव है उसको भय है, जिसके

समीप कुछ वैभव ही नही है भले ही वही अन्य जाति का दुःख माने, पर उसे कुछ भय तो नही है। न चोरका, न डाकूका, न किसीके छलका, कोई प्रकारका उसे डर नही है। बाह्य चीजोसे निर्भयता नही आती है किन्तु आत्मज्ञानके बलसे निर्भयता प्रकट होती है। क्या है, न रहा यह तो क्या बिगड गया ? इससे भी बहुत अच्छी अच्छी जगह है दुनिया मे। यहाँ न रहा और जगह पहुंच गया, क्या उसका बिगाड है ? यो जो अपने शुद्ध सत्त्व का चिन्तन करता है उस तत्त्वज्ञानी पुरुषको भय नही होता।

वस्तुके प्राणभूत स्वरूपका विनाश—मेरा प्राण मेरा ज्ञान दर्शन है, मेरा चैतन्यस्वरूप है। प्राण उसे कहते है कि जिसके वियोग होनेपर वस्तु खतम हो जाय। जैसे अग्निका प्राण गर्मी है। गर्मी निकल जाय तो अग्नि खतम हो जाती है, उसका सत्त्व ही नही रहता है। ऐसा मेरा कौनसा प्राण है जिसके निकलनेपर उसका सत्त्व नही रहता है ? यद्यपि ऐसा होता नही। जिस पदार्थका जो सत् है वह तीन काल भी नही छूटता है। अग्नि तो कोई पदार्थ है नही, वह तो पुद्गल पदार्थ है। अग्नि तो परिणति है, परीणतिका वस्तुत क्या प्राण बताये ? पदार्थका प्राण बताया जाता है, मेरा कभी भी मिट नही सकता, इस कारण यह मै आत्मा अमर हूँ। क्या मेरे भय है ?

ज्ञानीके देहव्यथाका अभाव—ज्ञानी पुरुषको शारीरिक पीडाकी भी शका नही रहती है। मै आत्मा आकाशवत् अमूर्त निर्लेप ज्ञानानन्द प्रकाशमात्र हू, इस मुझ आत्मामे व्याधि कहाँ है ? यहाँ कोई ऐसा सोच सकता है कि जब तबियत अच्छी होगी तब यह बात कही जाती। जरा सिरदर्द हो जाय या कुछ बात आ जाय फिर यह बात भूल जाती है, भूल जावो, फिर भी जिसे तत्त्वज्ञान है, वह व्याधियोके समयमे भी आकुलित नही होता है. सब आपदाओको धीरतासे सहन करता है, और जिनके तत्त्वज्ञानकी परिपूर्णता है उनको यह भी विदित नही हो पाता कि इस शरीरपर कोई बैठा भी है। यह शरीर मुझसे पृथक् है। यह मै आत्मा जब शरीरकी ओर दृष्टि देता हू तो इस शरीरकी व्यथाएं मुझे विदित होती है अन्यथा नही। मेरे कोई व्यथा नही है। मै आनन्दमग्न हू।

आत्मामें देह दशावोंका अभाव—मै बालक नही हू, वृद्ध नही हूँ और जवान भी नही हू। किसका नाम बालक है ? शरीरकी ही प्रारम्भिक अवस्थाको बालक कहते है। यह बालपन पुद्गलमे ही हुआ। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र है। शरीरकी जो मध्यम परि-स्थिति है उसे जवानी कहते हैं, यह जवानी शरीरमे होती है, शरीरका धर्म है। आत्माका तो गुण है नही। शरीरकी ही परिपक्वदशा व उत्तरदशा बुढापा कहलाता है। यह बुढापा भी मुझ आत्मामे नही है। यह मै आत्मा तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं। इस प्रकार यह ज्ञानी पुरुष मिले हुए सर्व समागमोको अपनेसे पृथक् निहारता है। जब आत्माको यह

निश्चय हो जाता है कि तू चेतन है, ज्ञान दर्शन आदिक गुणोका अखण्ड पिण्ड है तो इस ज्ञान आदिक गुणोका कभी विनाश नही होता, ऐसी दृष्टि बनती है यही तो मेरी आत्मनिधि है। जो मेरे स्वरूपमे है वह कभी मिट न सकेगा, जो मुझमे है वह मुझसे कभी अलग होता नही, जो मुझमे नही है वह कभी मुझमे आता नही है।

परपदार्थका आत्मामें अत्यन्ताभाव—दृश्यमान समस्त परिणतियाँ, दृश्यमान समस्त पदार्थ तेरे कुछ नही है, न तू उनका कभी हुआ है और न कभी हो सकता है परसे तू त्रिकाल भिन्न है। है उदय पुण्यका, ठीक है, किन्तु क्या वैभवमे तू एकमेक बन सकता है ? तू तू ही है, अन्य अन्य ही है। कर्मोदयवश कुछ दिनोका यह साधन सयोग बन गया है। जैसे सफर करते हुए किसी सरायमे एक जगह ठहर जाते है अन्य-अन्य देशोसे आये हुए कुछ पुरुष, पर वे कुछ समयके लिए ही ठहरे है, एक दूसरेका जो सयोग बन गया है वहाँ वह कुछ समयके लिए ही बना है। कुछ समय ही बाद अथवा प्रात काल होते ही सब अपने-अपने अभिमत देशोको चले जाते है। रास्ता चलते हुए सरायमे मनुष्य रात भर ही टिकते है, दिनको नही रहते है, प्रात काल हुआ कि रास्ता नापने लगते है। ऐसे ही यहाँ कुछ समय का मेल है, मोही जीव इस कुछ समयके मेलमे ही ऐसी कुटेव ठान लेते है कि यही तो मेरे सब कुछ है। मेरा मरना जीना इन्हीके लिए तो है। ऐसा मोह भाव बसाकर अपने आपको दुर्गतिका पात्र बना लेते है।

नीरोग ज्ञानस्वरूपका चिन्तन—शरीरमे नाना रोग होते है वे शरीरके विकारसे होते है। वात, पित्त, कफ—ये तीन जो उपधातुये है, इनका जो समान अनुतापसे रहना है उसमे भग हो जाय, विषमता आ जाय तो इस शरीरमे रोग पैदा हो जाता है। यह शरीर ही मैं नही हू तो मै रोगका क्या अनुभव करूँ ? ज्ञानी पुरुष निरन्तर निज ज्ञानस्वरूपका ही चिन्तन करते है।

धन जीवनविषयक मोहके अभावमें कर्मकलका अननुभव—जगतके जीवोको ये कर्म सता रहे है। केवल दो बातोपर ये कर्म सता रहे है। यदि उन दो बातोका मोह न रहे तो फिर कर्मोका सताना ही कुछ न ठहरे। वे दो बाते है धन और जीवन। जीवनका लोभ और धनका लोभ ये दो लोभ हैं तब कर्म सता रहे है, न रहे ये तो कर्म क्या सतायेगे ? जैसे कोई पक्षी कहीसे कुछ खानेकी चीज चोचमे ले आये तो उसे देखकर बीसो पक्षी उस पक्षीके ऊपर टूट पडते है। वह पक्षी अपने प्राण बचानेको तरसने लगता है। अरे क्यो दुख मानता है वह पक्षी ? जो चोचमे लिए है उसको चोचसे निकालकर बाहर फेक, फिर कोई भी पक्षी उसे न सतायेगा। ऐसे ही इस जीवने धन और जीवन इन दोनोसे राग किया है ये सदा काल तक जीते रहना चाहते है और धन सम्पदाकी कुछ सीमा भी नही बनाना

चाहने। लखपति हो जाय तो करोडपतिकी आशा, करोडपति हो जाय तो अरबपतिकी आशा। जो आज बहुत बडे धनी है उनको अब जरूरत भी कुछ नही है तो धर्मसाधनामें क्यो नही जुट जाते ? तृष्णा लगी है तब तक ये धर्म सताने वाले बने है। ये दो बाते ही न रहे, न धनकी तृष्णा आवे और न जीवनका लोभ करे, फिर धर्मका सताना ही क्या रहेगा ?

ज्ञानीकी ज्ञानमे अविचलितता--भैया ! कुछ यथार्थज्ञान तो करो- जीऊ तो जीऊ, न जीऊ तो क्या ? मै आत्मा तो अमर हू। इसका प्राण तो ज्ञान दर्शन है। उसका कभी वियोग नही होता। क्या क्लेश है ? मेरा धन तो मेरा स्वरूप है वह कही नही जाता। धन जाय तो जाय क्या क्लेश है, यो धन और जीवन दोनोका मोह छोड दे तो फिर धर्म क्या कर सकते है ? जब हम स्वयं ही कमजोर है, उपादान निर्बल है तो अनेक दुःखी होनेके निमित्त मिल जायेंगे। जब आत्मा बलिष्ट है, ज्ञानबल जागरूक है, अपने शुद्ध स्वभावकी परख है, उसका ही ग्रहण हो रहा है तब सारा जगत भी प्रतिकूल हो जाय कोई कुछ भी बातें कहे क्या असर होता है इस ज्ञानीपर। यह ज्ञानी पुरुष तो जो अपने उपयोगमे कर्तव्य निश्चित कर चुका है उस कर्तव्यसे विचलित नही होता है।

संसार व्यवहारका वैचित्र्य--यह संसार बडा विकट है। कोई पुरुष अधिक बात बोले तो लोग कहते है कि यह बडा बकवादी है, यदि कुछ बात न बोले, चुप रहे तो लोग कहते है कि यह बडे गरूर वाला है, किसीसे बोलता नही है। कोई मधुर बात बोले तो लोग कहते है कि यह जबानका मीठा है पर अतरगमे मिठाई नही है कोई कठोर वचन बोले तो कहते कि इसे बोलनेका कुछ भी सहूर नही है। यह तो लट्ठमार वचन बोलता है, कुछ कर्तव्य न करे तो लोग कहेंगे कि यह बडा कायर है, यह कुछ करता ही नही है, कुछ करे तो लोग कहेंगे कि यह सब विपरीत कार्य करता है। अरे संसारमे जो कुछ भी कार्य किया जाता है वह सब विपरीत ही तो है ? आत्माकी करतूत किसमे है सो बतावो ? आत्माकी करतूत तो ज्ञाताद्रष्टा रहनेमे है, बाकी तो सब जजाल है। यहाँ लोगोके निर्णयपर तुम अपना प्रोग्राम रखोगे क्या ? इससे पूरा न पडेगा। लोग कुछ भी विचारें, तुम अपने आत्माके न्यायकी बात सोच लो और उसपर फिर डट जावो। दूसरोकी दोटूक आने पर डरोगे बुद्धिमानी नही है किन्तु अपने अंतः ईश्वरसे आज्ञा लेकर जिस कामको यह उचित समझता हो, स्वपर हितकारी जानता हो उस धुनको लेकर बढते चले जाइए। तुम्हे जो फल मिलेगा अपने परिणमनसे मिलेगा, इस कारण अपने परिणमनमे ही शोधन कर लेना चाहिए कि मुझे किस तरह रहना है ?

निःसंकट स्वरूपके अवलम्बनकी स्वच्छतामें बाधाओंका अभाव—भैया ! मुझे किसी

प्रकारका सकट नही है। निःसकट स्वभावका आलम्बन हो तो फिर क्लेशका कोई अवसर नही आ सकता। मेरे मृत्यु भय नही है, मेरे व्याधि नही है, मेरे व्यथा भी नही है। सर्व अवस्थावोसे शून्य केवल शुद्ध ज्ञानमात्र मै हूँ, ऐसा ज्ञानी जन अपने आपके स्वरूपका निर्णय करते है। जिसे धर्म पालना है, धर्ममे प्रगति बढाना है उसे पहिले यह चाहिए कि वह अपने हृदयको स्वच्छ बना ले। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ इन विकारोसे आत्मामे मलिनता बढती है, पहिले स्वच्छ करिये अपना हृदय। अपने अंतरगको पवित्र वही बना सकता है जो यथार्थ निजको निज परको पर जान लेता है। मै सर्व बाधावोसे रहित हू, सकटोका मुझमे नाम नही है, ऐसो निःसकट ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वकी श्रद्धा हो, उसमे ही उपयोग को समाया जाय तो सर्व प्रकारके सकट दूर हो जाते है।

मायासे परे परमज्योतिका चिन्तन—जो मिलकर बढ जाय और बिछुडकर घट जाय वह तो सब व्यक्त माया है। जिस वस्तुमे मिलन हो रहा है यदि वह सब वस्तु मिलकर बढ गयी है और बिछुडकर घट जाने वाली है वह सब पुद्गल है। पूरण और गलनकी जिसमे निरन्तर वर्तना चल रही है उसको पुद्गल कहते है। पुद्गलके ही सयोगसे जीवन, पुद्गलके वियोगसे मरण, पुद्गलके वियोगसे ही व्याधि और पुद्गलको अपनानेसे व्यथा है। यह मै आत्मा समस्त पुद्गलोसे विविक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र शाश्वत अत प्रकाशमान हूँ, उसे न देखा, न आश्रय किया इसने। उसके फलमे अब तक रुलता चला आया हू। अब मोहको तजे, रागद्वेषको हटावे, अपने आधारभूत शुद्ध आत्मतत्त्वको ग्रहण करे, ऐसा यत्न करनेमे ही जीवनकी सफलता है अन्यथा कितने ही कीडे, कितने ही एकेन्द्रिय जैसे मरते है रोज-रोज वैसे ही मरण कर जानेमे शुमार हो जायगी। ज्ञानी पुरुष अपनेको सबसे न्यारा केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र प्रतीतिमे ले रहा है और इसके अनुभवसे इसके लक्ष्यसे अपने आपमे परमज्योतिको प्रकट कर रहा है। यो ज्ञानीने चिन्तनमे इस आत्मस्वरूपका आश्रय लिया है।

भुक्त्वोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गला।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

भयके ओटपाये—जब तक इस जीवकी शरीर और आत्मामे एकमेक मान्यता रहती है, शरीरको ही यह मै हू ऐसा समझा जाता है तब तक इस जीवमे भय और दुःख होता है। ये जगतके प्राणी जो भी दुःखी है उनमे दुःखका कारण एक पर्यायबुद्धि है। अन्यथा जगतमे क्लेश है कहाँ? ये सब बाह्य पदार्थ है, कैसा ही परिणमे, हमारा क्या बिगाड किया? कोई भी कष्टकी बात नही है। आज वैभव है, कल न रहा, हमारा क्या बिगड गया, वह तो हमसे भिन्न ही था। रही एक यह बात कि अपना जीवन चलानेके लिए तो धनकी

जरूरत है ? तो जीवन चलानेके लिए कितने धनकी जरूरत है ? तृष्णा क्यो लग गयी है, उसका कारण है केवल दुनियामे अपनी वाहवाही प्रसिद्ध करना, अन्यथा धनकी तृष्णा हो नही सकती। धन आए तो आने दो। चक्रवर्तियोके ६ खण्डका वैभव आता है आनेका मना नही है किन्तु उस वैभवको ही अपना सर्वस्व समझ लेना, इसके बिना मेरा जीवन नही है, यही मेरा शरण है, ऐसी बुद्धि कर लेना, यही विपत्तिकी बात है।

ज्ञानीका परिणाम—जब यह जीव इन समस्त बाह्य पदार्थोंको अहितकारी मानकर, अपने मे भिन्न समझकर त्याग कर देता है तब फिर कभी भी ये सतापके कारण नही होते। ज्ञानी पुरुष इसी प्रयोजनके लिए चिन्तन कर रहा है कि मैने सभी पुद्गलोको भोग भोगकर बारबार छोडा, अब ये सारे भोग जूठे हो गये, एक बार भोजन कर लेने पर बादमे फिर उसे खाये तो वह जूठा कहलाया, खाये हुएको उगल करके फिर खाया। ऐसे ही यह जितनी विभूति है धन सम्पदा है ये सब कई बार भोग चुके है और भोग भोगकर उन्हे छोड दिया था। भोगकर छोडे गए पुद्गल फिर भोगने मे आ रहे है तब ये जूठे ही तो कहलाये। उन भोगोमे मुझ ज्ञानीके क्या स्पृहा होना चाहिए ?

अनन्ते परिवर्तनोंमें गृहीत भोग—यह जीव अनादिकालसे ५च परिवर्तनमे घूम रहा है। सबने सुना है कि परिवर्तन ५ होते है। छहढालामे लिखा है यो परिवतन पूरे करे। पहिली ढालके अतमे है। इस प्रकार यह जीव परिवर्तनको पूरा करता है। वह परिवर्तन क्या है ? उनका नाम है द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भाव-परिवर्तन। द्रव्यपरिवर्तनका पहिला स्वरूप देखो—किसी जीवने अगृहीत पुद्गल परमाणुवो को, स्कधोको ग्रहण किया, और इस परिवर्तनसे पहिले जो भोगनेमे आये थे, जब अनेक बार उन गृहीत स्कधोका ग्रहण कर लिया फिर अगृहीत स्कध ग्रहणमे आया। गृहीत मानते है जिन पुद्गलोको पहिले भोग चुके और अगृहीतके मायने है जिन पुद्गलोको पहिले भोगा न था। यद्यपि ऐसी बात नही है कि कोई पुद्गल ऐसे भी हो जिन्हे पहिले कभी न भोगा था लेकिन परिवर्तन जबसे बताया है तबका हिसाब है। अनन्त बार भोगा हुआ ग्रहण कर ले तब बिना भोगा ग्रहणमे आया। यो अनन्त बार फिर भोगा हुआ ग्रहण करे तो फिर बिना भोगा हुआ ग्रहणमे आया। इस तरह बिना भोगा भी अनत बार ग्रहणमे आ चुके, तब भोगा और बिना भोगा मिलकर ग्रहणमे आये, इस तरह गृहीत अगृहीत मिश्रका कई पद्धतियोमे ग्रहण बता करके द्रव्यपरिवर्तनकी बात कही है। उससे सिर्फ यह जानना है कि इस जीवने अब तक ससारके सभी पुद्गलोको अनेक बार भोगा है और भोगकर छोडा है।

तृष्णाका आतंक—भैया ! अनन्तो बारका भोगा हुआ व छोडा हुआ यह वैभव फिर मिला है तो इसमे तृष्णा फिर बन गयी। भव भवमे तृष्णाएँ की, वे तृष्णाएँ पुरानी हुई,

जीर्ण हुईं, मिट गयी, फिर नवीन तृष्णाएँ बना ली। जैसे पहिले हम आप सभी बच्चे थे, फिर जवान हुए, अब बूढे हो रहे है। तो बचपनमे जो दिल होता है, जिस प्रकारकी खुशी होती है वह अब कहाँ है? बचपनमे पहिले कुछ विद्या सीखी, स्वर व्यञ्जन सीखा तो खुश हो गये, समझा कि बहुत कुछ सीख लिया, खूब पढ लिया। अब देखो जवानी व्यतीत हो गयी, बूढ हो गए, मरण हो जायगा, फिर कदाचित् मनुष्य हो गये तो बच्चे होगे फिर वही स्वर व्यञ्जन नई चीज मान लेगे और फिर वही नई उत्सुकता होगी। अच्छा दूसरे भवकी बात छोडो, कल भी कुछ आपने खाया था, वही दाल, रोटी, साग, खूब छककर खाया था, तृप्त हुए थे, आज १० बजे फिर वही दाल, रोटी साक खाया होगा तो कुछ नई सी मालूम हुई होगी। कितने ही बार भोग भोगता जाय यह व्यामोही फिर भी बीच-बीचमे जो भोग मिले, साधन मिले, वैभव मिले तो वे भोग नये नये लगते है।

व्यर्थका अभिमान—भैया! अनेक बार सेठ हो चुके होगे, आज लाख या हजारका वैभव मिल गया ता वही नया मान लिया। मैने बहुत बडी चीज पायी। अरे इससे करोडो गुणा वैभव पाया और उसे छोड दिया। अनेक बार राज्यपद पाया होगा, बडी हुकूमत की होगी पर आज कुछ लोगोमे नेतागिरी मिली या कुछ हुकूमत मिल जाय, थोडे राज्यमे पैठ हो जाय तो यह बडा अभिमान करता है, फूला नही समाता। मै अब यह हो गया हू, अरे इससे बढ-बढकर बाते हुईं उसके आगे आज मिला क्या है? परतु यह मोही कुछ भी मिले उसे ही नई चीज मानता है। खूब मिठाई खाई हो कल और आज रूखी सूखी दाल रोटी ही मिले तो उसे भी यह नई चीज मानता है। क्या प्रकृति है इस जीवकी कि इन भोगोको अनेक बार भोगा है फिर भी ये जब मिलते है तो नयेसे लगते है। ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि अब उन जूठे भोगोमे मुझ ज्ञानीकी क्या स्पृहा हो? अनादि कालसे मोहनीय कर्म के उदयवश सभी पुद्गलोको मुझ ससारी जीवने बार-बार भोगा और भोग करके छोड दिया। अब कुछ चेत आया है, अब मै विवेकी हुआ हूँ, शरीर आदिकके स्वरूपको भली प्रकार जानकर अब उन जूठे भोजनोमे, गन्ध आदिक पदार्थोमे अब मेरे भोगनेकी क्या इच्छा हो?

आत्मीय आनन्दकी अपूर्वता—भैया! जब तक कोई निरुपम आनन्दका अनुभव नही हो लेता तब तक विषयोकी प्रीति नही छूट सकती। इसे तो आनन्द चाहिए। वतमान आनन्दसे अधिक आनन्द किसी बातमे हो तो इसे छोड देगा, बडे आनन्द वाली चीज ग्रहण करेगा। मोह दशामे परपदार्थोकी ओर बुद्धि होनेके कारण इस जीवको अपने आत्मस्वरूपमे रुचि नही है और न यह विकल्पोका बोझा हटाना चाहता है। विकल्पोका ही मौज मानता है। मोह बढाकर, ममता बढाकर, राग बसाकर यह जीव अपनेको कुशल और बडा सुखी

मानता है, फिर इसे आत्मीय सत्य आनन्द कैसे प्राप्त हो ? जो बडे स्वादिष्ट पदार्थोंका सेवन करने वाला है उस पुरुषको जूठा खानेमे कोई अभिलाषा नही होती। जूठे पदार्थोको मनुष्य घृणाकी दृष्टिसे देखते है। तो यो ही यह समझो कि ये रमणीक समस्त पदार्थ अनेक बार भोगे गए है। जो अनेक बार भोग लिए गए वे झूठे है। उनमे मुझ ज्ञानीकी क्या इच्छा हो ?

स्पर्शनेन्द्रियविषयकी अरम्यता—भैया ! कुछ निर्णय तो करो कि कौनसा विषय ऐसा है जो हितकारी हो, जिसमे रमण करना योग्य हो ? कोई भी विषय नही है। यह कामी पुरुष कामवासनाके वश होकर शरीरके रूपको बहुत रमणीक मानता है। मगर रूप क्या है ? अरे थोडी सी देरमे नाक निकल पडे तो बडा सुन्दर जचने वाला रूप भी फिर-फिरा हो जाता है, घृणा आने लगती है। जिसे जानते है कि यह बहुत अच्छी छवि है, कान्ति है, रूप है, सुडौल है, और जरा नाकमल बाहर निकल आये, थोडा ओठोंसे भिड जाय और इतना ही नही, कुछ अदाज भी हो जाय तो वहाँ फिर रति नही हो सकती। घृणा होने लगती है।

शरीरकी असारता—अहो, कर्मोने तो मानो इस अपवित्र मनुष्य शरीरको इसलिए बनाया कि यह जीव विरक्त होकर अपने आत्महितके मार्गमे लगे। भीतरसे बाहर तक सारा शरीर अपवित्र ही अपवित्र है। जैसे केलेके पेडमे सार नही रहता, उसे छीलते जावो तो पत्ते निकलते जायेगे, सब खतम हो जायेगे, पर सारकी बात कुछ न मिलेगी। जैसे वह केला का पेड असार है ऐसे ही जानो कि इस शरीरमे कुछ सार नही है। अपवित्र वस्तुवोंको सबको हटा दो, फिर क्या मिलेगा देहमे, बहुत अन्दरसे बाहर तक अपवित्रता ही अपवित्रता नजर आती है इस शरीरमे। भीतर हड्डी, फिर मास, मज्जा, खून, चमडा रोम, कही कुछ भी तत्त्वकी बात नही मिलती है। यदि कुछ तत्त्वकी बात मिलती हो तो बताओ, पर मोह का ऐसा नशा है इस जीवपर कि जो असार है, जिस शरीरमे कुछ सारकी बात नही है, अपवित्र ही अपवित्र है पूरा और फिर भी इस शरीरको निरखकर मोही पुरुष कुछ कल्पना बनाकर मौज मानते है।

नर देहमें जुगुप्सा और असारता—भैया ! पृथ्वीमे, वनस्पतिमे इनमे तो कुछ सार मिल जायगा, जितने ये काम आ रहे है पृथ्वी और वनस्पति प्रयोगमे आ रहे है, पर यह मनुष्यका शरीर किसी काम आता है क्या ? मर जानेके बाद बड़ी जल्दी जलावो ऐसी लोगो के आकुलता हो जाती है। देर तक मुर्दा न रहे, कोई लोग तो यह शका करते हैं कि देर तक मुर्दा रहनेसे घरमे भूत न बस जाय। कोई अपवित्र दुर्गन्धित वातावरण न हो जाय, इससे डरते है, उसका मुख भयानक हो जाता है सो उससे डरते है। घरके ही लोग उस मुर्देकी शकल भी नही देख सकते है, डरते है, छुपते है। किस काम आता है यह शरीर,

सो बतावो ? इस शरीरसे भले तो उपयोगकी दृष्टिसे पृथ्वी और वनस्पति है, इनका फिर भी आदर है, हीरा जवाहरात, सोना चादी ये सब पृथ्वी ही तो है, इनमे भी जीव था, अब जीव नही रहा तो मुर्दा पृथ्वी है, किन्तु इस मृतक पृथ्वीका कितना आदर है ? वनस्पतियो मे काठ आदिका कितना आदर है, कितनी ही उसपर कलात्मक रचनाएँ की जाती है पर मनुष्य शरीरका क्या होता है, क्या आस्था है इसकी, कौन रखता है इसे ?

शरीरकी कृतघ्नता—यह शरीर प्रीतिके योग्य नही है और फिर अपने आपके शरीर को भी कह लो, यह शरीर भी प्रीतिके योग्य नही है, इसे आरामसे रखो, कही इसे कष्ट न हो जाय। अरे क्या डरना, जैसे सर्पको दूध पिलावो तो विष ही उगलेगा ऐसे ही इस शरीर को कितना ही सजावो, कितना ही गद्दा तकियोपर रक्खे रहो, दूसरेका भी काम न करना पडे, शरीरपर कितनी ही मेहरबानी करो पर शरीरकी ओरसे क्या उत्तर मिलेगा ? रोग, अपवित्रता ये सारी बाते और अधिक इसमे फैल जाती है और अन्तमे यह साथ न जायगा। कितना ही इससे मरत समय लडो–अरे शरीर ! तेरे लिए हमने जिन्दगीमे बडे बडे श्रम किये, संकल्प विकल्प आकुलता व्याकुलताके कितने ही प्रसग आये, उनमे मैंने तुझे बडे आरामसे रक्खा, तू मेरे साथ तो चल। तो इस जीवके साथ एक कण भी चलता है क्या ?

वैभवकी असारता—कौनसा ठाठ है ऐसा सारभूत जिसमे इतना रमा जा रहा है ? यह वैभव रमनेके लायक नही है तिसपर भी कितना इसका बेढगा नाच है, कितना भी वैभव मिल जाय तो इसे थोडा लगता है। मुझे तो यह थोडा ही है, हम तो बडे कष्टमे है, कुछ ढगसे गुजारा ही नही चलता है। ज्ञानी जीव इस वैभवको झूठा समझता है। करने योग्य काम तो निर्विकल्प होकर ज्ञानप्रकाशका अनुभव करना है और सारी बाते मायामयी है, व्यर्थ है, केवल बरबादीके ही कारण है। ज्ञानी पुरुष इन पुद्गलोसे प्रीति नही रखता है। किस भवमे ये विषयभोग नही मिले, सूकर, कूकर, कीट पतग जो कुछ भी भव धारण किया क्या उन सब भवोमे विषयभोग नही भोगे ? इस जीवके लिए खेदकी बात यह है कि जैसे अग्नि कभी यह नही कहती कि मुझे ईंधन अब न चाहिए, अब मैं तृप्त हो गयी हू। उसमे तो जितना ही ईधन डालो उतनी ही वह बढती चली जायगी, ऐसे ही ये विषयभोग के साधन है, जितने ही भोगविषयोके साधन मिलते जायेगे उतनी ही तृष्णा बढती चली जायगी।

गुणग्रहणकी भावना—भैया ! सच बात तो यह है कि जब तक होनहार अच्छा नही आनेको होता है तब तक इस जीवको ज्ञान भी नही जगता, विवेक नही होता। जिसका होनहार ही खोटा है उसको धर्मकी रीतिसे ज्ञानकी बात नही रुचती है। वह तो सवत्र दोष ही दोष निरखता रहता है। उसके सर्वत्र दोष ही दोषका ग्रहण होगा। धर्मीजनोमे कुछ

अच्छी भी बात है, पर इस ओर दृष्टि नही जाती । धर्म खराब है, कुछ जैनियोका उदाहरण दे दिया, अमुक यो है, अमुक यो है । अरे तुम्हे अमुकसे क्या मतलब ? धर्ममे जो वस्तुस्वरूप बताया है उस स्वरूपका आचरण करके तुम्ही ठीक बनकर उदाहरण बन जावो । धर्म मानने वाले लोगोके दोष निरखकर कौनसी सिद्धि हो जायगी ? तुम उसके गुण देखो, धर्म मे क्या गुण है, धर्ममे क्या प्रकाश है, यह सिद्धान्त वस्तुस्वरूपको किस प्रकार कह रहा है, उसको निरखो । जब ध्यानमे आयगा—अहो, ऐसा स्वतत्र स्वरूप मेरा है ज्ञाना न्दमात्र, आनन्द जगेगा और समस्त झभटोका परित्याग हो जायगा, समस्त सकट टल जायेगे । ये भोग भव-भवमे भोगे है । इन भोगे हुए भोगोमे मुझ ज्ञानस्वरूप आत्माकी इच्छा क्यो हो ? ऐसी भावना और आचरण बनाना चाहिए ।

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृह ।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥३१॥

कर्म और जीवमें अपने अपने प्रभावकी ओर झुकाव—कर्म कर्मोके हितकी बात करते है और जीव जीवके हितको चाहता है । सो यह बात युक्त ही है कि अपने अपनेका प्रभाव बढानेके लिए कौन पुरुष स्वार्थको नही चाहता है ? इस श्लोकमे बताया है कि कर्मो के उदयसे होता क्या है ? कर्म बँधते है, कर्म कर्मोको ग्रहण करनेके लिए स्थान देते है । कर्मोमे कर्म बन्धन है । कर्मोसे कर्म आगे संतान बढाते चले जाते है । तो इन कर्मोने कर्मोका कुटुम्ब बनानेकी ठानी और यह जीव, अतरगसे पूछो इससे कि यह क्या चाहता है ? यह अपना हित चाहता है, आनन्द, शान्ति चाहता है । भले ही कोई भ्रम हो जाय और उस भ्रममे सही काम न कर सके, यह बात दूसरी है किन्तु मूल प्रेरणा जीवको जीवके हितकी भावनासे उठती है । इस जीवने जीवका हित चाहा और कर्मोने कर्मोका कुल बढाया सो यह बात लोकमे युक्त ही है कि प्रत्येक जीव अपनी-अपनी बिरादरीका ध्यान रखता है, कुल को बढाता है । कर्मोने कर्मोको बढाया, जीवने जीवका सम्बन्ध चाहा ।

लोकयुक्तता—ससारमे यह बात प्रसिद्ध है कि जो बलवान होता है वह दूसरेको अपनी ओर खीच लेता है । जब कर्म बलिष्ट होगा तो वह अनेक कर्मोका आकर्षण कर लेगा और जब जीव बलिष्ट होगा तो यह जीव अपने स्वभावका विकास कर लेगा । अपना अपना प्रभाव बढानेके लिए सभी पदार्थ उद्यत है । ये कर्म उदयमे आते है तो कर्मोके उदयके निमित्तसे जीवमे क्रोधादिक कषाये उत्पन्न होती है और उन कषाय भावोके निमित्तसे कर्मो का बन्धन होने लगता है । फिर उनका उदय आता है । जीवके भाव बिगडे, नवीन कर्म बँधे, इस तरहसे यह सतति चलती रहती है । इन कर्मोने इस प्रकारसे कर्मोकी सतति बढायी है ।

जीव और कर्ममें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होनेपर भी स्वतंत्रता—जीवमे और कर्मंमे परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बध है। जीवके भावका निमित्त पाकर कर्मोका बन्धन होता है। अर्थात् कार्माणवर्गणाएँ स्वय ही कर्मरूपसे प्रवृत्त हो जाती है, और कर्मोका उदय होनेपर यह जीव स्वय रागादिक भावोमे प्रवृत्त हो जाता है। ऐसा इन दोनोमे परस्परमे निमित्त-नैमित्तिक सम्बध है, फिर भी किसी भी पदार्थका परिणमन किसी अन्य पदार्थमे नही पहुचता है। जैसे यही देख लो— बोलने वाला पुरुष और सुनने वाले लोग इन दोनोका परस्परमे निमित्तनैमित्तिक सम्बध है। बोलने वालेका निमित्त पाकर सुनने वाले शब्दोको सुनकर और उनका अर्थ जानकर ज्ञानविकास करते है, यो उनके इस ज्ञानविकासमे कोई वक्ता निमित्त हुआ और वक्ताको भी श्रोतावोको निरखकर धर्मचर्चा सुनानेकी रुचि हुई। ये कल्याणार्थी है ऐसा जानकर वक्ता उस प्रकारसे अपना भाषण करता है तो यो वक्ताको बोलनेमे श्रोता-गण निमित्त हुए और श्रोतागणोके सुनने और जाननेमे वक्ता निमित्त हुआ। ऐसा परस्परमे निमित्तनैमित्तिक सम्बध है। फिर भी वक्ताने श्रोतावोमे कुछ परिणमन नही किया और श्रोतावोने वक्तामे कुछ परिणमन नही किया। ऐसे निमित्तनैमित्तिक सम्बधका यथार्थ मर्म तत्त्वज्ञानी पुरुष जानता है।

निमित्तनैमित्तिक चक्रमें जीवका अकल्याण—इस निमित्तनैमित्तिक भावके चक्रमे यह जीव अनादि कालसे ससारमे जन्म मरण करता चला आ रहा है। इसपर कैसी मोहनी धूल पडी है अथवा इसने मोहकी शराब पी है कि इसे जो कुछ आज मिला है, जिन जीवो का समागम हुआ है, जो धन वैभव साथ है यह उसको अपना सब कुछ मानता है, यही मेरा है। अरे न तेरे साथ कुछ आया और न तेरे साथ जायगा। ये तो तेरी बरबादीके ही कारण हो रहे है। उनका निमित्त करके, आश्रय करके उनको उपयोगका विषय बनाकर अपनी विभावपरिणति रच रहे है, क्या कल्याण किया उन समागमोके कारण ? कुछ भी कल्याण नही किया, लेकिन यह मोही जीव कूद-कूदकर सबको छोडकर केवल इनेगिने दो चार जीवोको अपना सब कुछ मान लिया। कितना लाखोका धन कमाया, वह किसके लिए है ? केवल उन्ही दो चार जीवोके आरामके लिए। उसकी दृष्टिमे जगतके शेष जीव कुछ नही है। यहाँ कितना बडा पागलपन छाया है ? दुखी होता जाता है, और दुखका कारण जो अज्ञान है, मोह है उसे छोडना नही चाहता है।

निर्मोहता आदर—धन्य हैं वे गृहस्थ जन जो गृहस्थीके सम्पदाके बीच रहते हुए जलमे भिन्न कमलकी नाई रहते है। यह जो आगममे लिखा है कि ज्ञानी पुरुष जलमे भिन्न कमलकी तरह रहते है तो क्या कोई ऐसे होते नही है ? किनके लिए लिखा है ? न रहे जलमे भिन्न कमलकी भाति, खूब आसक्ति रक्खे तो उससे पूरा पड जायगा क्या ? मरते

हुए जीवको दो चार आदमी पकडे रहे तो जीव रुक जायगा क्या, अथवा कोई कितनी ही मिन्नते करे कि ऐ जीव ! तुम अभी मत जावो तो क्या वह रुक जायगा ? उसका क्या हाल होगा ? बहुत मोह किया हो जिसने, वह भी क्या रुक सकता है ? मोहका कैसा विचित्र नशा है कि अपने आत्माकी जो निरुपम निधि है, ज्ञानानन्दस्वरूप है उस स्वरूपको तो भुला दिया और बाह्यपदार्थोंमे रत हो गया, समय गुजर रहा है बहुत बुरी तरहसे। शुद्ध ज्ञान हो, सच्चा ज्ञान बना रहे तो वहाँ कोई क्लेश हो ही नही सकता। जब यथार्थ ज्ञानसे हम मुख मोडे है और अज्ञानमयी भावना बनाते है तब क्लेश होता है।

आत्मप्रभावके लिये संकल्प—जो कर्मोंसे घिरा हुआ है, जिसपर कर्म प्रबल छाये है, बडी शक्तिके कर्म है ऐसे जीव पुन कर्मोंका सचय करते है, और जिनके कर्म शिथिल हो गये, ज्ञानप्रकाश जिनका उदित हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुष ज्ञानानन्द स्वरूपमे आनन्दमय निज स्वभावमे स्थित रहा करते है। कर्म कर्मोको बढाये, जीव जीवका ही हित चाहे, ऐसी बात जानकर हे मोक्षार्थी पुरुषो ! जब कर्म अपनी हठपर तुले हुए है तब हम मुक्तिसे प्रीति क्यो नही करते, क्यो ससारकी भटकना, क्लेश, इनमे ही प्रीति करते है ? कर्मोंने ऐसी हठ बनायी है तो हम भी अपने स्वभाव विकासकी हठ बनावे ना ? कर्म यो चलते है चले। कर्म क्या करेगे ? कुछ धन नष्ट हो जायगा, या जीवन जल्दी चला जायगा या यश नष्ट हो जायगा। इन तीन बातोके सिवाय और क्या हो सकता है, सो बतावो ?

शुद्ध ज्ञानरूप साहस—भैया ! अन्तरङ्गमे परमप्रकाश पावो। धन चला जाय तो चला जाय, वह दूर तो रहता ही था और दूर चला गया। कहाँ धन आत्मामे लिपटा है ? वह तो दूर-दूर रहता है। यह धन दूर-दूर तो रहता ही था और दूर हो गया। इस घरमे न रहा, किसी और घरमे चला गया। जो धन है उसका बिल्कुल अभाव कहाँ होगा ? जो इस मायामयी दुनियामे अपना झूठा पर्याय नाम नही चाहते है उन पुरुषोको यश बिगडनेका क्या कष्ट होगा ? हाँ अपने आपमे कोई दुर्भावना न उत्पन्न हो फिर तो वह मौजमे ही है, उसकी शान्तिको किसने छीना है ? ऐसा साहस बनावो कि दो-एक नही, सारा जहान भी मुझे न पहिचाने, अगर अपयश गाना फिरे तो सारा जहान गावे उससे इस अमूर्त आत्माको कौनसी बाधा हो सकती है ? सत्यमेव जयते। अतमे विजय सत्यकी ही होती है। यदि शुद्ध परिणाम है, शुद्ध भावना है तो इस जीवका कहाँ बिगाड है, कर्म क्या करेगे ? इन तीन पर ही तो ये कर्म आक्रमण कर सकते है। ज्ञानी पुरुषको इन तीनकी भी कुछ परवाह नही होती है।

यश अपयशके क्षोभसे विरक्त रहनेमें भलाई—आत्माका कल्याण तब होता है जब यह समस्त परविषयक विकल्पोको तोडकर केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अपना अनुभव बनाता

है। ऐसा करनेमे उसने समस्त यश अपयशको छोड ही तो दिया। अपयश होनेमे जो बुराई है वही बुराई यशमे भी है। अपयशसे तो यह जीव दु ख मानकर संक्लेश करता है और पापका बध करता है और यश होनेपर यह जीव रौद्र आशय बनाता है, रौद्रानन्दी बन जाता है, उसमे क्रूरता, बहिर्मुखता बढती जा रही है और उसमे जो संक्लेश हुआ, जो कलुषता बनी, बहिर्मुख दृष्टि बढी, उनके निमित्तसे जो कर्मोका बध हुआ उनके उदयकालमे क्या दुर्गति न होगी ? जितना बिगाड अपयशसे है उतना ही बिगाड यशसे है। अज्ञानी जीव को तो सर्वत्र विपदा है। वह कही भी सुख शान्तिमे रह ही नही सकता। ज्ञानी जीवको सर्वत्र शान्ति है, उसे कोई भी वातावरण स्वरूपसे विचलित नही कर सकता है, अज्ञानी नही बना सकता है।

मूढतामें क्लेश होनेकी प्राकृतिकतापर दृष्टान्त—कोई उद्दण्ड पुरुष हो और उसे हर जगह क्लेश मिले तो उसका यह सोचना व्यर्थ है कि अमुक लोग मेरे विरोधी है और मुझे कष्ट पहुचाते है। अरे कष्ट पहुचाने वाला कोई दूसरा नही है। खुद ही परिणाम बिगाडत है और कष्टमे आते है। कोई एक बुद्धिहीन मूर्ख पुरुष था। उसे लोग गाँवमे मूरखचद बोला करते थे। वह गाँव वालोसे तग आकर घर छोडकर गाँवसे बाहर चला गया, रास्तेमे एक कुँवा मिला, वह उस कुवेकी मेडके ऊपर कुवेमे पैर लटकाकर बैठ गया। कुछ मुसाफिर आए और बोले कि अरे मूरखचद कहाँ बैठे हो ? तो वह पुरुष उठकर उन मुसाफिरोके गले लगकर बोलता है—भाई, और भई सो भई पर यह तो बतावो कि तुमको किसने बताया कि मेरा नाम मूरखचद है ? मुसाफिर बोले कि हमको किसीने नही बताया, तुम्हारी ही करतूत ने बताया कि तुम्हारा नाम मूरखचद है।

क्लेशका कारण मोह—इस ससारमे जो जीव दु खी है वे मोहकी उद्दण्डतासे दु खी है, किसी दूसरेका नाम लगाना बिल्कुल व्यर्थ है कि अमुकने मुझे यो सताया। व्यर्थकी कल्पनाएँ करना बेकार बात है। मैं स्वय ही अज्ञानी हू इस कारण अज्ञानसे ही क्लेश हो रहे है। ससारकी स्थिति किसीने अब तक क्या सुधार पायी है ? बडे-बडे महापुरुष हुए जिनके नामके पुराण रचे गए है, पुराणोमे जिनका नाम बडे आदरसे लिया जाता है उन्होने भी तो स्वाग रचा था, घर बनवाया, गृहस्थी बसायी, बाल बच्चे हुए, राजपाठ हुआ, युद्ध भी किया, सारे स्वाग तो रचे उन्होने भी, क्या ससारकी इस स्थितिको पूरा कर पाया ? वैसी ही चलती गाडी बनी रही। कुछ दिन घर रहे, फिर छोडा, कोई तप करके मोक्ष गए, कोई स्वर्ग गए, कोई बुरी वासनामे मरकर नरक गए। सबका विछोह हुआ, लो कहीका ईंट कहीका रोडा। जोडा तो बहुत था पर अतमे सब कुछ बिछुड गया। क्या किसीने पूरा कर पाया ?

व्यर्थकी चिन्ता--सब व्यर्थकी चिन्तना मचा रक्खी है मोही प्राणियोंने। मुझे इतनी जायदाद मिल जाय, मैं इस ढगका कार्य बना लूं फिर तो कुछ चिन्ता ही न रहेगी। अरे भाई जब तक पर्यायमूढता है तब तक बेफिक्र हो ही नहीं सकते। एक फिक्र मिट गई तो उसकी सवाई एक फिक्र और लग जायगी जिसमें उस फिक्रसे भी ड्योढी ताकत बनी हुई है। कहाँ तक मिटावोगे ? फिक्र तो तब मिटेगी जब फिक्रकी फिक्र छोडी जाय। जो होता हो होने दो। कर भी क्या सकता है कोई इसमें ? उदय होगा तो स्वत ही अनुकूल बुद्धि चलेगी, स्वत सयोग मिलेगा और वह कार्य बनेगा। कौन करने वाला है किसी दूसरेका कुछ। यह मनुष्य जीवन बाहरी विभूतियोंके सचयके लिए नही पाया है। अपना उद्देश्य ही कर लो। जो उसपर चलेगा अर्थात् सत्य मार्गपर चलेगा उसीको ही फल मिलेगा। धर्म का पालन इसीको ही कहते है।

सपद्धति ज्ञानप्रयोगका अनुरोध--भैया ! केवल पूजन स्वाध्यायका सुनना या अन्य प्रकारसे धर्मपालनका शौक निभाना इतने मात्रसे काम नही चलता किन्तु कुछ अपनेमे अन्तर लाये, कुछ ज्ञानप्रयोग करे, जो कुछ सुना है, समझा है, जाना है उसको किसी अशमे करके दिखाये। किसे दिखाये ? दूसरेको नही। अपने आपको दिखा दे। जो बात धर्मपालनके लिए बतायी गई है वहाँ धर्म है, केवल रूढिवादमे क्या रखा है। कोई एक सेठ था, रोज शास्त्र सुनने आता था। एक दिन देरमे आया तो पडितजीने पूछा--सेठ जी आज देरसे क्यो आए ? सेठ जी बोले--पडित जी वह एक जो छोटा मुन्ना है ना, १० वर्षका, वह भी हठ करने लगा कि मैं भी शास्त्र सुनने चलूंगा। फिर जब बहुत उसे मनाया, आठ आने पैसे देकर सनीमेका टिकेट कटाया, उसे भेजा तब यहाँ आ पाये। पडित जी बोले--सेठ जी बच्चा भी आ जाता, शास्त्र सुन लेता तो क्या नुक्सान था ? तो सेठ जी कहने लगे--पडित जी ! तुम तो बहुत भोले हो। हम शास्त्र सुननेकी विधि जानते है कि शास्त्र सुननेकी क्या विधि है। अपने कुर्तामे, चद्दरमे सब धरते जाना फिर चलते समय उन सब कपडोको भिटककर जाना। यह है सुननेकी विधि। तो हम तो जानते हैं कि शास्त्र कैसे सुना जाता है, पर वह १० वर्षका बच्चा जिसे सुननेकी विधि भी नही याद है, वह कही शास्त्र सुननेसे विधिके खिलाफ हृदयमे धारण कर ले और कुछ ज्ञान वैराग्य जगे, घर छोड दे तो हम क्या करेगे ? तो भाई यह शास्त्र सुननेकी विधि नही है।

कार्यकी प्रयोगसाध्यता--भैया ! जो करना हो अपनी कुछ शान्तिका काम तो अन्तर मे कुछ प्रयोग करना होगा। बातोमे तो काम नही चलता। कोई मनुष्य प्यासा हो और वह पानी-पानीकी १०८ बार जाप जप ले तो वही पानी तो पेटमें न आ जायगा, प्यास तो न मिट जायगी। ऐसे ही शान्ति आती है शुद्ध ज्ञानसे। शुद्ध ज्ञानका प्रकाश हो वहाँ

शान्ति है, हम ज्ञानप्रकाशको ही न चाहे और वही ममता वही तृष्णा वही कषाय निकलती रहे तो धर्मपालन कहाँ हुआ। वह तो केवल बात ही बात है।

कषायपरित्यागसे शान्तिका उद्भव––अनन्तानुबधी क्रोध बताया है जहाँ धर्मके प्रसंग मे भी क्रोध आए। और जगह क्रोध आए वह उतना बुरा नही है। अनन्तानुबधी मान बताया है कि धर्मात्माजनोके सामने अपना अभिमान बगराये। और जगह अभिमान करे वह प्रबल अभिमान नही कहलाता मगर धर्मात्माजनोके समक्ष भी अपना मान करे। मदिर मे आये तो हाथ जोडकर नमस्कार करने तकमे भी हिचकिचाहट हो या अन्य साधु सतोके प्रति, सधर्मीजनोके प्रति धर्मके नाते से धर्मीपनको दिखानेके कारण अभिमान कोई बगराये तो उसे अनन्तानुबधी मान कहते है। धर्मके मामलेमे कोई माया करे, छल, कपट करे तो उसे अनन्तानुबधी माया कहते है, और धर्मके ही प्रसगमे कोई लोभ करे तो उसे अनन्तानुबधी लोभ कहते है। जहाँ अनन्तानुबधी कषाय वर्त रही हो वहाँ आनन्दके स्वप्ने देखने से आनन्दका काम कैसे पूरा किया जा सकता है? इस तत्त्वज्ञानकी बातको हृदयमे धरे और विवेकियोसे उपेक्षा करे तो यह जीव अपना प्रभाव बढा सकता है और कल्याण कर सकता है।

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो वर्तमानस्य लोकवत् ॥३२॥

स्वोपकारका ध्यान––हे आत्मन्! तू परोपकारको छोडकर स्वोपकारमे रत रह। अज्ञ लोककी तरह मूढ बनकर दृश्यमान शरीर आदिक परपदार्थोमे उपयोगको क्यो कर रहा है? इस श्लोकमे शब्द तो ये आये है कि तू परके उपकारको तज दे और अपने उपकारमे लग। यह सुननेमे कुछ कटु लग रहा होगा कि परके उपकारकी मनाही की जाती है। परके मायने है शरीरादिक बाह्यपदार्थ; तू शरीरका, धनवैभवका उपकार करना छोड दे और आत्मा जिस तरह शान्ति सन्तोषमे रह सके वैसा उपकार कर। जैसे कोई मूढ अज्ञानी शत्रुको मित्र समझकर रात दिन उसकी भलाईमे लगा रहता है। उसका हित हो, अपने हित अहितका कुछ भी ध्यान नही रखता है। भ्रम हो गया। है तो शत्रु पर मान लिया मित्र। कोई मायाचारी छली कपटी पुरुष है और उसका इतना मीठा बरतावा है कि हमने उसको अपना मान लिया। अब अपना माननेके भ्रमसे उसके उपकारमे बुद्धि रहती है। पर क्या वह हित कर देगा, क्या हानि कर देगा? इस ओर यह ध्यान नही रखता है। उसके हितकी साधनामे ही अपना सर्वस्व सौंप देता है।

तत्त्वज्ञानसे स्वोपकारकी रुचि––जब इसको यह परिज्ञान हो जाता है कि यह मेरा मित्र नही है, शत्रु है, तभीसे यह मनुष्य उसका उपकार करना छोड देता है। यो ही यह

शरीर जीवका शत्रु है। जीवका अहित इस शरीरके कारण हो रहा है अतएव यह शरीर शत्रुकी तरह है लेकिन मोहमे इसने मान लिया मित्र। यह शरीर मेरा बडा उपकारी है इतना भी भेद नही करता कि शरीर है सो मै हू, मुझे अपना काम करना है, शरीरका काम करना है, यह भी नही किन्तु उसे आत्मा स्वीकार कर लिया और उस परके उपकारमे यह मोही जीव लग गया है। सो यहाँ यही कहा गया है कि परके उपकारको तज, निजके उपकारमे लग। जिन प्रसगोमे अन्य जीवोका उपकार किया जा रहा है वहाँ भी यह जीव यदि यह ध्यान रख रहा है कि मै इस परका उपकारका काम कर रहा हू तो भी उसने गलती की। उसने पर माना है इस शरीरको तो वह भी जडके काम करता है।

परमार्थतः परके उपकारकी अशक्यता—जो ज्ञानी पुरुष है वह अन्य जीवोका उपकार करके यह ध्यानमे लेता है कि मैने किसी परका उपकार नही किया है, किन्तु अपने ही आत्माको विषय कषायोसे रोककर अपना भला किया है। कोई जीव वस्तुत किसी परका उपकार कर ही नही सकता है। प्रत्येक जीव अपना ही परिगमन कर पाते है। जो जीव वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ है उन्हे शान्ति सतोष किसी क्षण नही मिलता है क्योकि शान्ति का आश्रय जो स्वय है जिसके आलम्बनसे शान्ति प्रकट होती है, उसका पता नही है तो बाहर ही मे किसी परपदार्थमे अपनी दृष्टि गडायेगा। होगा क्या कि पर तो पर ही है, उनमे दृष्टि अपनी रखनेसे बहिर्मुख बननेसे स्वय रीता हो गया। अब इसे कुछ शरण नही रहा। जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है वे जानते है कि मेरा स्वरूप ही मेरा शरण है। उन्हे किसी भी पदार्थमे, वातावरणमे, स्थितिमे विह्वलता नही होती है। वे सर्वत्र स्वतंत्र वस्तुका स्वरूप निरखते रहते है।

शब्दजालसे आत्माका असम्बन्ध—सारा जहान यदि प्रशंसा करे, यश करे तो भी उन प्रशसाके शब्दोसे ज्ञानीके चित्तमे क्षोभ नही होता है। क्योकि वह देख रहा है कि ये सब भाषावर्गणाके परिणमन है, इन शब्दोका मुझ आत्मामे रच प्रवेश नही है और न कुछ परिणमन ही कर सकते है। ऐसी स्वतंत्रताका भान होनेसे यह तत्त्वज्ञानी जीव प्रशसाके शब्दोको सुनकर भी क्षोभ नही लाता है। हर्ष भी एक क्षोभ है। जो लोग प्रशसा सुनकर मौज मानते है वे बहिर्मुख बनकर कषाय कर्मकलक अपनेमे बसाते है, उसका फल दुर्गतियो मे भ्रमण करना ही है। कौनसे शब्द इस जीवका क्या कर सकेगे ? न इस भवमे ये सब सहायक है और न परभवमे सहायक है। लोग आज भी ऐसा कहा करते है कि पुराने जो महापुरुष हुए है कृष्ण, महावीर आदिक, हम उनके शब्दोका रिकार्ड कर ले, लेकिन जो शब्द परिणत हो जाते है वे दूसरी क्षणमे उस पर्यायरूपमे नही रहते हैं। वे रिकार्ड कहाँसे हो सकेगे ? ऐसे ही ये शब्द जब कहनेके बाद ही समाप्त हो जाते है। कुछ काल तक यदि

ये गूंजते है तो उसके भी गूंजनेका कारण यह है कि शब्दवर्गणाके निमित्तसे अन्य वर्गणाये शब्दरूप परिणाम जाती है और यो बिजलीकी तरह इसमे भी तरग उत्पन्न होती है, पर यह तरग भी बहुत समय तक कहाँ ठहर सकेगी ? ये शब्द न मेरेको अभी काम देते है, न आगे काम देगे ।

शान्तिका मूल उपाय तत्त्वज्ञान—ज्ञानी तो अपने ज्ञानके प्रकाशका रुचिया है और दूसरे जन भी इस ज्ञानका प्रकाश पाये, वस्तुका जो स्वतन्त्र स्वरूप है वह सबकी दृष्टिमे आए और सुखी हो जाएँ ऐसी भावना करता है । सुखी होनेका मूल उपाय तत्त्वज्ञान है । अनेक उपाय कर डालिए, कितना ही धनसंचय कर लो पर धनसे भी शान्ति नही । कितनी भी लोकमे इज्जत बना लो पर इज्जतसे भी शान्ति नही । जो जो उपाय करना चाहे आप कर डालें, पर एक तत्त्वज्ञानके बिना सारे उपाय शातिके लिए कार्यकारी नही है । जब भी जिसे शान्ति मिलनी है तो इस ही मार्गसे मिलेगी, खुदको खुदके यथार्थज्ञानसे शान्ति मिलेगी । भेदविज्ञानका बडा महत्त्व है । कोई भी विपदा हो, विपदा कुछ भी नही, परपदार्थके परिणमन अपने मनके अनुकूल न जंचे ऐसी कल्पना करते रहना बस यही विपदा है । विपदा भी किसी तत्त्वका नाम नही है । ऐसे चाहे लौकिक विपदाके प्रसग भी आएँ किन्तु यह तत्त्वज्ञानी जीव अपनेको सबसे न्यारा अमूर्त ज्ञानानन्द स्वभावरूप अनुभव करता है, इसके प्रतापसे उसे कभी क्लेश नही होता है । कदाचित् क्लेश माने तो यह उसके किन्ही दर्जो तक अज्ञानका ही प्रसाद है ।

आचार्यदेवका आत्मोपकारका उपदेश—आचार्य देव यहाँ यह कह रहे है कि तू परका उपकार तजकर अपने उपकारमे लग । यहाँ धन वैभव, इज्जत लोकसम्पदाको पर कहा गया है । उनके उपकारको तज और एक अपने उपकारमे लग । अपना उपकार है निजको निज परको पर रूपसे जान लेना । गुप्त ही गुप्त कल्याण होता है, दिखावट, बनावट, सजावटसे कल्याण नही होता है । भेदविज्ञानकी तब तक शरण गहो जब तक सर्व विकल्प समाप्त न हो जाएँ । इस जीवको यथाथमे सकट कुछ भी नही है । आज हम आप कितनी अच्छी स्थितिमे है, कीडे मकोडे पतिगोको देखो उनकी क्या दयनीय स्थिति है, अथवा मनुष्योमे ही देखो कोई भिखारी जनोकी ऐसी दयनीय स्थिति है कि जिनको कई दिनो तक भी खानेका ठिकाना नही है, उनकी अपेक्षा हम आप आज कितनी अच्छी स्थितिमे है, और सबसे बडी बात तो यह है कि जैन सिद्धान्तका पाना अति दुर्लभ है । जैन सिद्धात एक ऐसे तत्त्वज्ञानका प्रकाश करता है कि जिस ज्ञानके आनेपर सदाके लिए सकट काट लेने का उपाय मिलता है ।

पदार्थोंका स्वातन्त्र्य स्वभाव—वस्तुके सम्बधमे जैनसिद्धान्तने एक गहरी दृष्टिमे

प्रतिपादन किया है । प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है । ये जो दृश्यमान पदार्थ पुद्गल स्कंध है ये एक चीज नही है, ये अनन्त परमाणुवोका पुञ्ज है । इनमे जो एक-एक परमाणु है वह द्रव्य है, यो एक-एक जीव करके अनन्त जीवद्रव्य है, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और एक असख्यात कालद्रव्य है । प्रत्येक पदार्थ ६ साधारण गुणो करके परिपूर्ण है । प्रत्येक पदार्थ है, अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नही है । दूसरी बात यह है । तीसरी बात—अपनेमे यह द्रव्यत्वगुण रखनेके कारण निरन्तर परिणमता रहता है । चौथी बात अपनेमे ही परिणमता है किसी दूसरेमे नही । ५ वी बात—अपने प्रदेशसे है । छठवी बात—किसी न किसीके ज्ञानद्वारा प्रमेय है । इन ६ साधारण गुणोके वर्णनसे आप यह देखेगे कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है ।

अपनी वेदना मेटनेका इलाज—कोई भिखारी यदि जाडेके दिनोमे सुबह तीन चार बजे तडके चक्कर लगाकर कपडे मांगता है और आप लोग उसे कपडे दे दे तो कही आप उस भिखारीका उपकार नही कर रहे है लेकिन व्यवहारमे माना तो जा रहा है, परन्तु वहाँ क्या किया जा रहा है कि उस भिखारीकी स्थिति जानकर अपनेमे कल्पना करके खुद ही दुःखी हो गए, कुछ वेदना हो गयी, ओह यह कैसा दुःखी है ? ऐसी कल्पना जगनेके साथ आपके हृदयमे वेदना हो गयी । उस वेदनाको मिटानेका इलाज आप और क्या कर सकते है ? आपने अपना ही उपकार किया, उस भिखारीका कुछ उपकार नही किया । जो जीव अपनेमे यह निर्णय किए हुए है कि मेरा सुख, दुःख मेरे परिणमनसे ही है, कोई अन्य जीव मुझमे कुछ परिणति नही बना देता है । भले ही बाहरमे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है लेकिन परिणमना तो खुदकी ही कलासे पड रहा है । मैं किसीका कुछ करता भी नही हू । जिसमे जैसी कषाय उत्पन्न होती है उस कषायकी वेदनाको शान्त करनेका वह प्रयत्न करता है ।

ऋषि संतोंकी कृतिमें आत्मोपकारका लक्ष्य—जैन सिद्धान्त तो यह प्रकट कर रहा है कि ये आचार्यदेव जिन्होने इन हितकारक ग्रन्थोको लिखा है जिनको पढकर हम आप अपनी शक्तिके अनुसार अपना उपकार कर लेते है, इन आचार्योंने भी वस्तुत हमारा उपकार नही किया है किन्तु उन्होने जो हम पामरोंपर करुणा बुद्धि करके स्वयमे वेदना की थी, उन्होने भी उस वेदनाको शान्त करनेके लिए यत्न किया है । लोग इस बातकी हैरानी मानते है कि मैंने अपने पुत्रको इतना पढाया, इतना योग्य बनाया, पर आज यह मुझमे विपरीत चलता है, ऐसा लोग खेद मानते है किन्तु तत्त्वज्ञानका उपयोग करे तो खेद नही माना जा सकता है । मैंने सर्वत्र अपने मनके अनुकूल अपनी वेदनाको शान्त करनेके लिए श्रम किया है, मैंने दूसरे जीवका परमार्थतः कुछ नही किया है । अब जिसकी जो परिणति है वह अपनी परिणति कर रहा है । मेरा जो कुछ कर्तव्य है वह मुझे करना चाहिए ऐसा

ज्ञानी जीवके ि त्तमे विवेक रहता है। इस कारण वह कभी अधीर नही होता।

समयके सदुपयोगका अनुरोध—भैया! मनुष्य जीवन और यह श्रावककुल, जैनधर्मके सिद्धान्तके श्रवणकी योग्यता सब कुछ प्राप्त करके इस समयका सदुपयोग करना चाहिए। समय गुजर रहा है, उम्र निकली जा रही है, मरणके निकट पहुच रहे है ऐसी स्थितिमे यदि सावधान न हुए तो यह होहल्ला तो सब समाप्त ही हो जायगा। तुम अपनेको भविष्य मे कहाँ शान्त बना सकोगे ? कोई यह न जाने कि हम मर गए तो आगेकी क्या खबर है कि हम रहेगे कि नही रहेगे, कहाँ जायेगे ? दीपक है, बुझ गया फिर क्या है, ऐसी बात नही है। खूब युक्तियोसे और अनुभवने सोच लो। जो भी पदार्थ सत् है उस पदार्थका समूल विनाश कभी नही होता है कैसे हो सकेगा विनाश ? सत्त्व कहाँ जायगा ? भले ही उसका परिणमन कितने ही प्रकारोसे चलता रहे किन्तु उस पदार्थका सत्त्व मूलसे कभी नष्ट नही हो सकता। यह बात पूर्ण प्रमाणसिद्ध है।

अपनी चर्चा—अब अपने आपके सम्बधमे सोचिए हम वास्तवमे कुछ है अथवा नही ? यदि हम कुछ नही है तो यह बडी खुशीकी बात है। यदि हम नही है तो ये सुख दुःख किसमे होगे ? फिर तो कोई क्लेश ही न रहना चाहिए। मैं हू और जो भी मै हू वह कभी मिट भी नही सकता, यदि इस भवसे निकल जाऊँ तो भी मैं रहूगा। उसके लिए अपने और अन्य जीवोका परिणमन देखकर निर्णय कर लीजिए। जो जगतमे जीव दीख रहे है वैसा मै भी बना और फिर बन सकता हू। मतलब यह है कि किसी न किसी देहमे रहना होगा, और वहाँ अपने ज्ञान अज्ञानके अनुकूल सुख दु ख पाना होगा। यह सम्पदा, ये ठाठ ये समागम कितने समयके लिए है ? जो इन समागमोको अपने विषयवासनामे विषयोकी पूर्ति मे ही खर्च करता है, तन, मन, धन, वचन सब विषयोकी पूर्तिके लिए ही खर्च किए जा रहे है तो यह अपने आपके उपयोगका बडा दुरुपयोग है। अपने लिए तो अपने खानेके लिए, पहिननेके लिए और शृगारके लिए जितनी अधिकसे अधिक सात्त्विक वृत्ति रक्खी जायगी उतना ही भला है, और शेष जो कुछ भी समागम है यह ध्यानमे रखना चाहिए कि ये सब परके उपकारके लिए है। मुझे इन विभूतियोको विषयसाधनोमे नही व्यय करना है।

स्वकी सुध—विषय साधन मेरा कुछ भला नही कर सकते है। ये विषयोके साधनभूत समस्त परपदार्थ है, इनके लिए कहा जा रहा है कि तू परका उपकार तज दे और निजके उपकारमे तत्पर रह। हे आत्मन्! अज्ञान अवस्थामे तूने अपने चिदानन्दस्वभावकी सुध नही ली। जो आनन्दका निधान सर्वोत्कृष्ट है, जिस परमपारिणामिक भावके आलम्बन से कल्याण होता है उस मगलमय चैतन्यस्वरूपकी सुध न ली जा सके और शरीर आदिक परद्रव्य जो भी तुझे मिले है उनके सयोगमे मौज माने, उनके पोषणमे तू अपना ध्यान

लगाये बडे-बडे कष्ट भी सहे, पर शरीरके आरामकी ही बात तू सोचता रहे, यो परके उपकारमे रत रहे, इससे क्या सिद्धि है ? अब उन शत्रु मित्र आदिक परपदार्थोंमे आत्मीयताकी कल्पना तू छोड दे ।

सहज स्वतत्त्वका उपयोग शान्तिदानमें समर्थ—जो मनुष्य समस्त जीवोमे उस सामान्य तत्त्वको निरख सकता है जिस तत्त्वकी अपेक्षासे सब जीव एक समान है, तो उसने ज्ञानप्रकाश पाया समझिये । जो इन अनन्त जीवोमे से यह मेरा है, यह गैर है, ऐसी बुद्धि बनाता है वह मोहसे पक्षसे रगा हुआ है । उसे शान्तिका मार्ग कहाँसे मिलेगा, वह तो अपनी राग वेदनाको ही शान्त करनेका श्रम करता रहेगा, ये दृश्यमान पदार्थ तेरे कुछ नही है और न तू कभी उन पदार्थोंका हो सकता है । अत. विवेक ज्ञानका आश्रय कर, अपना हित सोच, शान्तिसे कुछ रहनेका यत्न तो बना. परकी ओर दृष्टि देनेसे अशान्ति ही होती है क्योकि उपकार है स्वाश्रित और इस उपकारको तुमने अपनी कल्पनासे बना लिया पराश्रित तो ये परपदार्थ भिन्न है, असार है अध्रुव है तब इनकी ओर लगा हुआ उपयोग हमे कैसे शान्ति का कारण बन सकता है ?

आत्मध्यानका आदेश—भैया ! आत्मध्यान ही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है । एतदर्थ वस्तुका सम्यग्ज्ञान चाहिए, स्वतत्र-स्वतत्र स्वरूपका भान होना चाहिए और इसके लिए कर्तव्य है कि हम ज्ञानार्जनमे अधिकाधिक समय दे । गुरुजनोसे पढे, चर्चाएँ करके, ज्ञानाभ्यास करके अपना उपयोग निर्मल बनाएँ । इस प्रकार यदि ज्ञानकी रुचि जगी, धर्मकी रुचि बनी तो हमे शान्तिका कुछ मार्ग मिल सकेगा, अन्यथा बहिर्मुखी दृष्टिमे तो शाति नही हो सकती । इसे इन शब्दोमे कहा गया है कि हे आत्मन् ! तू परके उपकारमे अभी तक लगा रहा, अर्थात् तेरा जो यह शरीर है वह पर है, और तू इन देहादिकके उपकारमे अभी तक जुटा रहा । इसकी ओरसे अपने उपयोगको हटाकर ज्ञानघन आनन्दनिधान अपने उपयोगको हटाकर ज्ञानघन आनन्दनिधान अपने शुद्ध चिदानन्दस्वरूपको निरख । इसके अनुभवमे जो आनन्द बसा हुआ है वह आनन्द ससारमे किसी भी जगह न मिल सकेगा । इस कारण अपने उपकारके लिए तत्त्वज्ञानका उपाय कर ।

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तै स्वपरान्तरम् ।
जानाति य स जानाति मोक्षसौख्य निरन्तरम् ।।३३।।

ज्ञानार्जनके उपायोंमें दिग्दर्शन—जो जीव गुरुवोके उपदेशमे अथवा शास्त्रके अभ्यासमे अथवा स्वात्मतत्त्वके अनुभवसे स्वपरके भेदको जानता है वही पुरुष मोक्षके सुखको जानता है । यहा तत्त्वज्ञानके अर्जनके उपाय तीन बताये गए हैं । पहिला उपाय है गुरुका उपदेश पाना, दूसरा उपाय है शास्त्रोका अभ्यास करना और तीसरा उपाय

है स्वय मनन करके भेदविज्ञान अथवा स्वसम्वेदन करना। इन तीन उपायोमे उत्तरोत्तर उपाय बडे है। सबसे उत्कृष्ट उपाय स्वसम्वेदन है। मोक्ष सुखके अनुभव करनेके उपायोमे सर्वोत्कृष्ट उपाय स्वसम्वेदन है। उसके निकटका उपाय है शास्त्राभ्यास और सर्व प्रथम उपाय है गुरुजनोका उपदेश पाना।

गुरुस्वरूपका निर्देशन—गुरु वे होते है जो बाह्य और आभ्यतर परिग्रहोसे विरक्त रहते है। बाह्य परिग्रह है १०। खेत, मकान, अन्न आदिक धान्य, रुपया रकम, सोन चाँदी, दासी, दास, बर्तन और कपडे। इन दसोमे सब आ गए और अन्तरंग परिग्रह है १४, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ और ६ प्रकारकी ६ कषाये। इन १४ परिग्रहोके और १० परिग्रहोके जो त्यागी होते है उन्हे गुरु कहते है। गुरु आत्मतत्त्वका कितना अधिक रुचिया है कि जिसके सिवाय एक स्वानुभवकी वाञ्छाके अन्य कुछ वाञ्छा नही है। वे ज्ञानध्यान तपस्यामे ही जो निरत रहते है।

तप, ध्यान व ज्ञानमें परस्परता—ज्ञान, ध्यान और तपमे सबसे ऊँचा काम है ज्ञान ज्ञान न रह सके तो दूसरा काम है ध्यान और ध्यान भी न बन सके तब तीसरा काम है तप। यहाँ ज्ञानसे मतलब साधारण जानकारी नही है किन्तु रागद्वेषरहित होकर केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, इस स्थितिको ज्ञान कहते है, यह ज्ञान सर्वोत्कृष्ट शान्तिका मार्ग है। जब कोई पुरुष केवल ज्ञाताद्रष्टा नही रह सकता तो उसके लिए दूसरा उपाय कहा गया है ध्यान। ध्यानमे चित्त एकाग्र हो जाता है और उस एकाग्रताके समयमे धर्मकी ओर एकाग्रताके कालमे इसका विषयकषायोमे उपयोग नही रह पाता, इस कारण यह ध्यान भी साधु का द्वितीय काम है और तपस्या भी साधुवोका काम है।

बाह्य तपोंमें अनशन, ऊनोदर व वृत्तिपरिसंख्यानका निर्देश—तपोमे बाह्य तप ६ है-अनशन करना, भूखसे कम खाना और अपनी अतरायोकी परीक्षा करनेके लिए कर्मोसे मैं कितना भरा हुआ हू, इसकी परीक्षा करनेके लिए नाना प्रकारके नियम लेकर उठना, रस परित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश। पुराणोमे आया है कि एक साधुने ऐसा नियम लिया था कि कोई बैल अपनी सीगमे गुडकी भेली छेदे हुए दिख जाय तो आहार करूँगा। अब बतलावो कहाँ बैल और कहाँ गुड और सीगमे भेली दिखे, किसी समय दिख जाय यह कितना कठिन नियम लिया था ? कितने ही दिनो तक उनका उपवास चलता रहा। आखिर किसी दिन कोई बैल किसी बनियाकी दूकानके सामनेसे निकला, उस बैलने गुडकी भेली खानेको मुह दिया, उस बनियाने उस बैलको भगाना चाहा तो ऐसी जल्दबाजीके मारे बैल की सीगमे भेली छिद गयी। जब वह बैल सामनेसे निकला तो मुनि महाराजकी प्रतिज्ञा पूरी हुई और आहार लिया। यह सम्बंध अपने आपके भीतरसे है, लोकदिखावेके लिए

नही कि हम १० जगहसे लौटकर आयेगे, लोगोमे भब्बड मचेगी और आपसमे चर्चा चलेगी कि महाराजकी आज विधि नही मिली, क्या इनकी विधि है, यह तो बडा भारी तप कर रहे है। साधु कभी अपने अतरायकी परीक्षा करना चाहे तो करते है। समाजके बीच ही रहते हुए कौनसा कार्य ऐसा खिर गया है जिससे परीक्षा करनेकी मनमे ठानी कि हम परीक्षा करेगे अतरायकी। यह बहुत दुर्धर तप है। इसका अधिकारी एकातवासी बनवासी बडा तपस्वी हो वह हुआ करता है।

रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश तपका निर्देश व तपोंकी आदेयता—रस परित्याग—एक दो रस छोडना—सब रस छोडना, रस छोडकर भोजन करना रसपरित्याग तप है। एकात स्थानमे सोना, उठना, बैठना, रहना यही विविक्त शय्यासन है, और गर्मीमे गर्मीके तप शीतमे शीलके तप और वर्षा कालमे वृक्षोके नीचे खडे होकर ध्यान लगाने का तप, और-और प्रकारके अनेक काम क्लेश हो, इन बाह्य तपोंको ये साधुजन किया करते है। तपस्यामे उपयोग रहनेसे विषयकषायोसे चित्त हट जाता है और अपने आपके आत्माके शोधनका उपयोग चलता है, इससे यह तप भी साधुवोको करने योग्य है। यो ज्ञान ध्यान तपस्यामे निरत साधुजनोका उपदेश पाकर यह जीव अपने आपमे निर्मलता उत्पन्न करता है, स्वपरका भेदविज्ञान होता है।

शान्तिकी साधना—शान्तिके लिए लोग अन्य-अन्य बडा श्रम करते है। वह श्रम ऐसा श्रम है कि जितना श्रम करते जावो उतना ही फसते जावो, अशात होते जावो। जिसके पास किसी समय १००) की भी पूंजी न थी और वह आज लखपति हो गया तो उसकी चर्याको देख लो—क्या शान्ति उसने पा ली है? बल्कि कुछ अशान्तिमे वृद्धि ही मिलेगी। जितना अधिक धन अपने पास है उतनी ही चिन्ता उसके रक्षाकी बढती जाती है। मै धनी हू, मै सम्पदावान हूँ, मैं इज्जत वाला हू—ये सब बाते अज्ञानी जनोके बढती जाती है। तब अशान्ति बढ़ी या शान्ति हुई? वस्तुत: सम्पदा न अशान्ति करती है और न शान्ति करती है। यह तो अपने-अपने ज्ञानकी बात है। भरत चक्रवर्ती ६ खण्डकी विभूतिको पाकर अशान्त न रहते थे और दिगम्बर दीक्षा धारण करनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमे ही उनके केवलज्ञान हो गया था। उन्होने गृहस्थावस्थामे बडी आत्मभावना की थी। घरमे रहते हुए भी वैरागीका दृष्टान्त भरतका ही प्रसिद्ध है।

भेदविज्ञानसे मोक्षसौख्यका परिचय—साधु संतोके उपदेशसे जो आत्मा और परका भेदविज्ञान होता है वह आत्मस्वरूपको जानता है और मुक्तिमे क्या सुख है, उस सुखको भी पहिचानता है। मुक्ति मायने हैं छुटकारा मिल जाना। द्रव्यकर्म, शरीर, रागादिक भाव इन सबसे छुटकारा मिलनेका नाम है मुक्ति। इनसे छूटे रहनेका मेरा स्वभाव है। यह जब तक

अनुभवमे न आए तब तक वह छुटकाराका क्या उपाय करेगा ? यह मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हू और मुझसे भिन्न ये समस्त जड पदार्थ है, वे मेरे कभी नही हो सकते। जब तक यो भेदविज्ञान नही होता तब तक आत्माकी पहिचान भी नही होती। चित्त तो लगा है बाहरी ओर, आत्माकी सुध कौन ले। और ऐसे प्राणी जो मूढ है, बहिर्मुख है, धन-के लोलुपी है वे अपनी दृष्टिके अनुसार ही जगत्मे सबको यो देखेगे कि सभी मोही है, अज्ञानी हैं। पापी पुरुष ऐसा जानते है कि सभी ऐसा किया करते है क्योकि उनके उपयोगमे जो बसा हुआ है उसका ही दर्शन होगा।

शास्त्राभ्यासकी महती आवश्यकता—दूसरा उपाय बताया गया है शास्त्राभ्यासका। शास्त्रका अभ्यास भी सिलसिलेवार ठीक ढगसे पढे बिना नही हो सकता। लोग घरके काम, दूकानके काम तो कैसा सिलसिलेसे करते है कपडेका काम अथवा सोना चादीका काम करेंगे तो उसे अलमारीमे अच्छी तरह रखेगे, हर काम तो सिलसिलेसे करते है पर धर्मका कार्य ठीक ढंगसे सिलसिलेमे नही करते है। शास्त्र पढना हो तो कोई भी शास्त्र उठा लिया और उसकी दो लकीर देख ली, देखकर धर दिया और चल दिया। अगर चार-छ महिलाओके शास्त्रका नियम हो तो वे सब एक शास्त्र उठा लेगी जिसमे खुले पन्ने होते है तो उस शास्त्र की आफत आ जायगी। उस शास्त्रके पन्ने फिर क्रमसे न रह पायेगें क्योकि एक महिला एक कागज उठायेगी दूसरी उसपर दूसरा कागज धरेगी। किसी किसी जगह तो इसीके लिए एक शास्त्र रिजर्व रहता है। तो इस तरहका शास्त्रका पढना कुछ भी लाभ नही दे सकता है। ससारी कामसे भी बढ करके सिलसिला चाहिए शास्त्राभ्यासके लिए। पहिले किन्ही गुरुवोसे पढना, क्रमपूर्वक पढना, उसको कुछ अभ्यासमे लेना और उसके बाद सिलसिलेसे उसे पढना। यह शास्त्रका अभ्यास बढाना बहुत बडा काम है। इसमे समय देना चाहिए आजीविकाके कामसे ज्यादा।

सांसारिक लाभकी उदयानुरूपता—भैया। आजीविकाका काम आपके हाथ पैरकी मेहनतसे नही बनता, वह तो उदयाधीन है, जैसा उदय हो उस पुण्यके माफिक प्राप्ति होती है। आप १० घटे बैठे तो और दो घटे बैठे तो, जो उदयमे है वही समागम होता है। अगर लोग नियमितता जान जाये कि ये इतने बजे दूकान खोलते है तो वे ग्राहक उतने ही समय मे काम निकाल लेगे। एक बजाजके ऐसा नियम है कि ५००) का कपडा बिक जानेपर फिर दूकान बद कर दे और अपने नियमपर वह बडा दृढ रहता है, सो उसकी दूकानके खुलनेका जो टाइम है उससे पहिले ही अनेक ग्राहक बैठे रहते है, यदि इसका ५००) का कपडा बिक गया तो फिर हमे कुछ न मिलगा। ५००) का कपडा घटा डेढ घटामे ही बिक जाता है और अपनी दूकान वह बद कर देता है।

अनुकूल उदयमें सुगम लाभ——भैया ! लाभकी बात उतनी ही है । जैसे पहिले कभी बाजारकी छुट्टी न चलती थी और आजकल बाजारकी छुट्टी चल रही है, तो बाजारकी छुट्टी हो जानेसे व्यापारमे हानि नही हुई । अगर कुछ हानि है तो वह और कारणोसे है । ऐसे ही समय भी नियत हो गया । १० घटा दूकान खुलेगी, ८-६ बजे रातको बद ह जायगी । गर्मी के दिनोमे मान लो ८ बजे खुलनेका टाइम हो गया, १२ घटे दूकान चले, पहिले कुछ समय नियत भी न था । जितने समय तक चाहे उसमे जुटे रहे, तो समयकी बदिशमे भी प्राप्तिमे हानि नही हुई । तो यदि कोई एक भी व्यक्ति दृढ रहकर अपना हित करनेके लिए समय निकाले तो उसका उतने ही समयमे काम निकल सकता है । यह भी बहुत बडी आफत लगी है कि न स्वाध्याय सुन पाते है, न कभी धर्मका काम कर पाते है, चिन्ता ही चिन्ता रोजिगार सम्बधी लगी है, उसीमे ही प्रवृत्ति लगी रहती है । पर धन पाया और धर्म न पाया तो कुछ भी न पाया । जो पाया है वह तो मिट जायगा, किन्तु जो धर्मसस्कार बन जायगा, जो ज्ञानप्रकाश होगा वह तो न मिटेगा, इस जीवको आनन्द ही बर्षायेगा ।

धर्मलाभ ही अपूर्व लाभ——भैया ! शास्त्राभ्यासमे बहुत समय दो और श्रम भी करो, और व्यय भी करना पडे तो होने दो, यदि अपने आपका ज्ञान हो जायगा जो समझो उसने सब कुछ निधि पा ली । तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके भी यदि एक धर्मदृष्टि पायी, आत्मानुभव जगा तो उसने सब पाया । यह ही एक बात न हो सकी और केवल बहिर्मुखदृष्टि ही तो रही तो उसने क्या पाया ? जो पाया वह सब एक साथ मिट जायगा । लोग यह सोचते है कि हम मर जायेगे, सारा धन यही रह जायगा तो वह अपने बालबच्चोके नाती पोतोके ही तो काम आयगा । मगर मरकर जब वह जिस भी जगह पैदा होगा उसके लिए तो अब नाती बेटे कुछ भी नही रहे । न उन नाती पोतोके लिए वह कुछ रहा । भला यह तो बतावो कि आपके पूर्व जन्मका माता पिता कौन है, कहाँ है, कुछ भी तो याद नही है । वे चाहे जो सुख दुःख भोग रहे हो, पर अपने लिए तो वे कुछ नही है । इस कारण यह ममताकी बात इस जीवको हितकारी नही है ।

ज्ञानार्जन व ज्ञानदानकी सातिशय निधि——भैया ! जैसे अपने आपमे ज्ञानप्रकाश हो वह काम करनेके योग्य है । शास्त्राभ्यासका उपाय प्रथम तो है गुरुमुखसे अध्ययन करना, दूसरा है दूसरोको उपदेश देना । जो पुरुष दूसरोको विद्या सिखाता है उसकी विद्या दृढ हो जाता है । ज्ञानका खजाना एक अपूर्व खजाना है । धन वैभव यदि खर्च करो तो वह कम होता है पर ज्ञानका खजाना जितना खर्च करोगे उतना ही बढता चला जायगा । तो दूसरे को पढाना यह भी शास्त्राभ्यासका सुन्दर उपाय है । ज्ञानार्जनका तीसरा उपाय है धर्म चर्चा कर, जो विषय पढा है उसका मनन करें, यो शास्त्राभ्याससे स्व और परका भे-

विज्ञान करना चाहिए। तीसरा उपाय है स्वसम्वेदन। आत्मा अपने आपको जाने, अनुभव करे उसे स्वसम्वेदन कहते है। स्व है केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र, उसका सम्वेदन होना, अनुभव होना यह भी ज्ञानका उपाय है। इन सब उपायोसे ज्ञानका अर्जन करना चाहिये।

आत्मानुभूतिके आनन्दसे मुक्तिके आनन्दका परिचय—जो साधु संत ज्ञानी पुरुष आत्मा और परको परस्पर विपरीत जानता है और आत्माके स्वरूपका अनुभव करता है उसमे जो इसे आनन्द मिलेगा उस आनन्दकी प्राप्तिसे यह जान जाता है कि मुक्तिमे ऐसा सुख होता है। जब क्षणभरकी निराकुलतामे, शुद्ध ज्ञानप्रकाशमे उसे इसका आनन्द मिला है तो फिर जिसके सब मूल कलंक दूर हो गए है, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप रह गया है। उन अरहत सिद्ध भगवतोको कैसा सुख होता होगा? वह अपूर्व है और उसकी पहिचान इस ज्ञानीको हुई है। कोई गरीब ४ पैसेका ही पेडा लेकर खाये और कोई सेठ एक रुपयेका एक सेर वही पेडा लेकर खाये पर स्वाद तो दोनोको एकसा ही आया, फर्क केवल इतना रहा कि वह गरीब छककर न खा सका, तरसता रहा, पर स्वाद तो वह वैसा ही जान गया। इसी तरह गृहस्थ ज्ञानी क्षणभरके आत्मस्वरूपके अनुभवमे पहिचान जाता है—भगवतोको किस प्रकारका आनन्द है, भले ही वह छककर आनन्द न लूट सके लेकिन जान जाता है। यो यह ज्ञानी पुरुष आत्मज्ञानसे मुक्तिके सुखको निरन्तर पहिचानता रहता है।

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वत ।
स्वय हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मन ।।३४।।

स्वयंके द्वारा ही स्वयंके कल्याणका यत्न—यह जीव उत्तम प्रयोजनकी अपने आपमे भी अभिलाषा करता है और उत्तम प्रयोजनके कार्यका खुद ही ज्ञान करता है और हितका प्रयोग भी यह स्वय ही करता है। इस कारण आत्माका गुरु वास्तवमे आत्मा ही है। लोकमे जब किसीका कोई अभीष्ट गुजर जाता है और उसके हृदयमे बडा धक्का लगता है तब उस विह्वल पुरुषको समझानेके लिए अनेक रिश्तेदार अनेक मित्र खूब समझाते हैं और उपाय भी उसके मन बहलानेका करते है किन्तु कोई क्या करे, जब उसके ही ज्ञानमे सही बात आये, भेदविज्ञान जगे, तब ही तो उसे सतोष हो सकेगा, दूसरे हैरान हो जाते है, पर स्वय समझे तो समझ आये। इससे यह सिद्ध है कि स्वयके किएसे ही फल मिलता है। यहाँ मोक्षमार्गके प्रकरणकी बात कही जा रही है। उत्तम बातकी अभिलाषा यह जीव स्वय ही करता, स्वयंमे करता और ज्ञान व आचरण भी स्वय करता है। तब अपना घर परमार्थ से तो स्वय ही है, किन्तु इससे प्राक् पदवीमे यह दोष ग्रहण नही करना चाहिये कि लो शास्त्रमे तो कहा है कि आत्माका गुरु आत्मा ही है। अब दूसरा कौन गुरु है, सब पाखण्ड है, सब ऐसे ही है, ऐसा संशय न करना चाहिए क्योकि जिस किसीको भी अपने परमार्थ

गुरुका काम बना, ध्यान बना, ज्ञानप्रकाश हुआ उसको भी प्रथम तो गुरुका उपदेश आवश्यक ही हुआ।

आत्मलाभमें देशनाकी प्रथम आवश्यकता—भैया! कोई भी हो वह पुरुष किसी न किसी रूपमे ज्ञानी विरक्त गुरुवोका उपदेश लगे तब उसकी आँखे खुलती है। प्रथम गुरुकी देशना सबको मिली है, कोई ऐसे पुरुष होते है जिनको गुरुका कोई नियोग नही मिला और स्वयं ही अपने आप तत्त्वज्ञान जगा, उनको भी इस भवमे नही तो इससे पूर्वभवमे गुरुकी देशना अवश्य मिली थी। यह तो शास्त्रका नियम है कि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमे ५ लब्धियाँ होती है। सम्यग्दर्शन किसके होता है और किस विधिसे होता है, इसके समाधानमे कहा गया है कि ५ लब्धियाँ हो तो सम्यग्दर्शन हो उसमे देशना तो आ ही गई।

सम्यक्त्वकी पांच लब्धियोंमें क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धि—सम्यक्त्वकी लब्धियोमे पहिली लब्धि है क्षयोपशम लब्धि। कर्मोंका क्षयोपशम हो, उदय कुछ कम हो तब इसकी उन्नतिका प्रारम्भ होता है। जब इस प्रकारका क्षयोपशम हो तो दूसरी लब्धि पैदा होती है उसका नाम है विशुद्धि लब्धि। किसी उत्कृष्ट चीजके लाभका नाम लब्धि है, परिणाम उसका उत्तरोत्तर निर्मल होता जाता है। जिसकी कषाये मद हो वही पुरुष तो गुरुके सम्मुख बैठ सकेगा, गुरुकी विनय कर सकेगा, गुरुकी बात ग्रहण कर सकेगा। ऐसा व्यक्ति जो कषायोमे रत रहता है वह गुरुकी देशना सुनेगा ही क्यो? तो जब विशुद्धि बढी, जब यह गुरुके उपदेशका लाभ प्राप्त करता है, यहाँ तक तो कुछ बुद्धि-पूर्वक उद्यमकी बात रही। अब इसके बाद स्वय ही ऐसा परिणाम निर्मल होता है जिसके प्रतापसे कर्मोका बध और बहुत बडी स्थिति वह घटाने लगता है, कम स्थितिका कर्म बाँधने लगता है। और उसही दरम्यानमे ३४ अवसर ऐसे आते है जिनमे जो नियत प्रकृतियाँ है उनका बध रुक जाता है। यह मिथ्यादृष्टि जीवकी ही बात कह रहे है अभी। जिसको सम्यक्त्व पैदा हुआ है ऐसे मिथ्यादृष्टिकी निर्मलता बतायी जा रही है। यो बधापसरण भी करते है और स्थितिका बध भी कम करते जाते है। तो इसके बाद फिर करणलब्धि पैदा होती है।

सम्यक्त्वकी नियामिका करणलब्धि—प्रायोग्यलब्धि नाम है उसका जिससे बंधापसरण होता है और स्थिति कम होती है। इन चार लब्धियो तक तो अभव्य भी चल सकता है जिसको कभी सम्यग्दर्शन नही होना है, ऐसा अभव्य जीव भी चार लब्धियोका लाभ ले सकता है, किन्तु करणलब्धि उनके ही होती है जिनको नियमसे अभी ही सम्यग्दर्शन होना है, उन करणोका नाम है अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन करणोका ८ वे, ९ वें गुणस्थानसे सम्बन्ध नही है जो अभी कहे जा रहे है, ये तो मिथ्या-

दृष्टिके हो रहे है अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। सम्यक्त्व उसके प्रतापसे उत्पन्न होता है। तो इस विधिसे आप जान गये होगे कि सम्यग्दर्शनके लिए गुरुका उपदेश आवश्यक है, लेकिन यहाँ परमार्थ स्वरूप कहा जा रहा है कि गुरुका उपदेश भी मिले और न माने जरा भी तो क्या लाभ होगा? जैसे कहावत है कि पचोकी आज्ञा सिर माथे पर पनाला यहीसे निकलेगा, ऐसे ही शास्त्रोकी बात सिर माथे, गुरुकी बात सिर माथे, पर धन वैभव, घर, कुटुम्ब इनमे मोह वहीका वही रहेगा। इनमे अन्तर न आए तो उसका फल खुद को ही तो मिलेगा।

स्वयंका हित स्वयंके ही द्वारा संभव—भैया! सत्य आनन्द चाहो तो मोहमे ढिलाव खुदको ही तो करना पडेगा। ऐसा कोई गुरु न मिलेगा जिससे कह दे गुरुजी कि आप ऐसा तप कर लो जिससे मुझे सम्यग्दर्शन हो जाय। जैसे पडोसे कह देते है ग्रहशान्तिके लिए कि तुम एक लाख जाप हमारे नामपर कर दो तो हमारा उपसर्ग टल जायगा। उसका उपसर्ग टले या न टले, पर उस पडाका उपसर्ग तो तुरन्त टल जायगा। जो सामग्री लिखी—इतना सोना, इतना चादी, पचरत्न, अनेक नाम ऐसे रख लिए कि पडाका उपसर्ग तो टल जाता है। भला, दूसरेके विग्रहको कौन टालेगा? ऐसा वस्तुका स्वरूप ही नही है। कोई गुरुके नामका ध्यान करे, तप करे, उपदेश सुने, सत्सगमे रहे किन्तु खुदके ही परिणामोमे योग्य परिवर्तन न करे तो काम न चलेगा। तब स्वयका गुरु स्वय ही हुआ। जो आत्महितकारी उपदेश देता है अथवा अज्ञान भावको दूर करता है वही वास्तवमे मेरा गुरु है, यह तो व्यवहारकी बात है, ऐसे आचार्य उपाध्याय आदिक हो सकते है, लेकिन वे निमित्तरूप रहे इस कारण व्यवहारमे गुरु हुए।

औपचारिक व्यवहार—क्या कोई गुरुजन शिष्यके आत्माको, भक्तके उपयोगको सम्यग्दर्शन रूप परिणमा सकते है? कभी नही। व्यवहारमे लोग कहा करते है कि तुम्हारे सुखसे हमे सुख है, तुम्हारे दु खमे हमे दु ख है, यह सब मोहमे कहनेकी बात है. ऐसा कभी हो ही नही सकता कि किसी दूसरेके परिणमनसे किसी दूसरेको सुख दु ख मिले। यह तो एक मोहमे बकवाद है। कितने ही लोग कहते हैं कि हमारा दिल तो तुम ही मे धरा है, पर ऐसा हो ही नही सकता कि किसीका दिल किसी दूसरेके दिलमे धर जाय। जिस वस्तुका जो परिणमन है वह उस वस्तुमे ही सन्निहित रहेगा, अन्यत्र पहुच नही सकता। जो ऐसी गप्पे मारते है उनकी पूरी परीक्षा करना हो तो उनके मनके खिलाफ दो एक काम कर बैठो, सब निर्णय सामने आयगा।

परमार्थ गुरु—आजकल कितना अच्छा हमे सयोग मिला है? गुरुजनोका हितकारी उपदेश भी मिलता है लेकिन स्वय ही उस प्रकारकी अभिलाषा करे, ध्यान जमाये, आचरण

करे तो मोक्षमार्ग मिलेगा। गुरुजनोके यत्नसे मोक्षमार्ग नही मिलता, वह केवल निमित्तरूप कारण है इसलिए वास्तविक गुरु तो आत्माका आत्मा ही है क्योकि आत्मसुखकी प्राप्ति हो, मोक्ष मिले ऐसी रुचि भी इसको ही करना होता है। परमार्थसे मेरे हितरूप तो मोक्ष ही है ऐसा यथार्थज्ञान इसको ही करना होता है, ऐसा यत्न, ऐसी भावना और इस प्रकारकी प्रवृत्ति इस ही को करना पडती है। तब गुरु स्वयका स्वय ही हुआ ना। कोई दोष बन जाय तो इसको ही अपनी निन्दा, गर्हा, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, ध्यान ये सब इसको ही करने पडते है तब दोषोकी शुद्धि होती है। कल्याणके लिए विषय सुखोसे मुख मोडना प्रथम आवश्यक है। यह भी एक तप है जो सुगम मिले हुए विषयसाधनोमे भी आसक्ति उत्पन्न नही होती। यह बात स्वयंको ही करना पडता है।

स्वयंके कार्यमें स्वयंका कर्तृत्व—भैया! जैसे और कामोमे लोग कहते है चलो रहने दो, यह काम हमी करे आते है। शायद कोई ऐसा भी कह देता हो कि चलो तुम यहाँ ही बैठो, हम ही दर्शन किए आते है, तुम्हारी जगह पर मदिरका दर्शन हम कर आयेंगे और कहे आयेंगे कि हमारे बब्बूका भी दर्शन ल लो। ऐसा तो शायद कोई भी न कहता होगा, और ऐसा कह भी दिया यदि किसीने तो क्या दर्शन हो गया? ध्यान और ज्ञानके अत प्रयोगकी बात तो सबसे अनोखी बात है। खुदको ही ज्ञान ध्यान तपमे रत होना पडता है और स्वयं ही स्वयमे प्रसन्न रहे तब मोक्षमार्ग मिलता है, इसलिए आत्माका गुरु यह आत्मा ही हुआ, आत्मा चाहे तो अपनेको ससारी बनाए और चाहे तो मोक्ष सुखमे ले जाय, दूसरा मेरी परिणतिका अथवा स्वभावका कर्ता धर्ता नही है। स्वय ही शुभ भाव करता है तो उत्तम गति पाता है और स्वयं ही कुभाव करता है तो खोटी गति पाता है, और शुभ अशुभ भावोका परित्याग करके आत्माके शुद्ध चैतन्यस्वरूपमे जब यह विचरने लगता है तो कर्म बंधनोको तोडकर मुक्तिको भी यह अकेले प्राप्त करता है। यही जीव भ्रमी बनकर ससारमे रुलता है।

कथन और आचरण—विषयोसे मुझे सुख मिलता है ऐसी भीतरमे वासना बसी है, मुखसे कुछ भी कहे, धर्मके नामपर ज्ञान और वैराग्यकी बात भी कहे किन्तु प्रतीतिमे वही विषय विषरस भरा है सो ऐसी हालत हो जाती है जैसे सुवा पाठ रटता रहता है, उड मत जाना, नलनी पर मत बैठ जाना बैठ जाना, तो दाने चुगनेकी कोशिश न करना, दाने चुगना तो उसमे औंध न जाना, औंध भी जाना तो नलनीको छोडकर उड जाना. पाठ याद है लेकिन अतरङ्गमे प्रेरणा जगती है विषयवासनाकी, तृष्णाकी। मौका पाकर वह तोता पिजडे से उड गया, नलनी पर बैठ गया, दाने चुगने लगा, उलट गया और कही मैं गिर न जाऊ इस ख्यालमे वह नलनीको ही पकडे रहता है। ऐसे ही जिसके अन्तरमे भ्रमवासना बसी

वह पूजा भी करता जाय, पाठ भी पढता जाय, साथ ही विषय कषायोमे बुद्धि भी बनी है, ऐसा भ्रमी पुरुष शान्ति सतोष कहाँसे पायगा ? विवेक जागृत हो तो जैसे वह तोता नलनी को छोडकर उड जायगा।

स्वयकी उलझन और सुलझन—भैया ! विवेक जागृत हो तो भीतरमे ही तो एक सही ज्ञान बनाना है। कुछ घरके लोगोंसे यह नही कहना है कि तुम नरकमे डुबाने वाले हो, ऐसी गालिया नही देना है किन्तु अन्तरङ्गमे एक समझभर बना लेना है कि मेरा मात्र मै ही हू, जैसा भी मै अपने को रच डालूं। इस अज्ञानी प्राणीने अपने ही अज्ञानसे अपने ही अन्यायसे इन ससारके बन्धनोको बढाया है। अब इन बन्धनोको कौन तोडेगा ? यह आत्मा स्वय ही तोडेगा। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति रूप यह स्वय ही परिणमेगा। अरहद् अवस्था तो इसके स्वयके ही स्वसम्वेदनसे प्रकट होगी और समस्त कर्मोंसे मुक्त होकर शाश्वत सुख और पूर्ण निरञ्जनताको यही अकेला प्राप्त करेगा।

स्वयंका कर्तव्य—इससे यह शिक्षा लेनी है कि हमारे करनेसे ही हमारा कल्याण है दूसरेके प्रयत्नसे हमारा कल्याण नही है। घरके आगनमे कोई आसपासकी भीत गिर जाय और आगनमे इक्ट्ठी हो जाय तब तो यह बुद्धि चलती है कि यह आगन हमे ही साफ करना पडेगा, कोई दूसरा साफ करने न आ जायगा। ऐसे ही यहा समझो कि भ्रमसे खुदमे दोष भर गए है तो उन दोषोका निराकरण खुदके ही पुरुषार्थसे होगा, दूसरा कोई मेरी गदगी निकालने न आ जायगा।

ज्ञानवैभव--यथार्थ ज्ञान होना सबसे अलौकिक वैभव है। धन, कन, कचन राजसुख सब कुछ सुलभ है किन्तु आत्माके यथार्थ स्वरूपका यथार्थ बोध होना बहुत कठिन है। यह वैभव जिसने पाया है समझिए उन्होने सब कुछ प्राप्त कर लिया, एक इस ज्ञाननिधिके बिना यह जीव वैभवके निकट बसकर भी हीन है, गरीब है, अशान्त है। इसलिए सब प्रकारसे प्रयत्न करके एक इस आत्मज्ञानको उत्पन्न करे, यही शरण है।

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेधर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

जो पुरुष अज्ञानी है, तत्त्वज्ञानकी जिनमे उत्पत्ति नही हो सकती है अथवा कहिए अभव्य है वे किसी भी प्रसगसे ज्ञानी नही हो पाते है, और जो ज्ञानी है, जिनके तत्त्वज्ञान हो गया है वे अज्ञानी नही हो सकते। अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानको प्राप्त नही करते और ज्ञानी जीव मोहको प्राप्त नही होते।

ज्ञानविकास व अज्ञानपरिहार--जैसे बाहर ररी पडी हुई है और उसमे किसीको

सापका भ्रम हो गया है तो जब तक सापका भ्रम बना हुआ है उस भ्रमीको ज्ञान नही हो पाता है, और जब ज्ञान हो गया, जान लिया कि यह रस्सी ही है तब उसके भ्रम नही हो पाता है, अथवा अज्ञानीसे ज्ञानी बननेके लिए स्वयंमे ही तो अज्ञानका परिहार करना होगा और स्वयमे ही ज्ञानका विकास करना होगा। गुरु विकास नही करते। विकास हो रहा हो तो अन्य गुरु जन निमित्तमात्र होते है। जैसे जीव पुद्गल जब चलनेको उद्यत होते है तो धर्मद्रव्य निमित्त है, पर धर्मद्रव्य चला नही देता। पानीमे मछली है, जब वह चलती है तो उसके चलानेमे पानी कारण है, पर पानी मछलीको चलाता नही है। चलना चाहे मछली तो निमित्त मौजूद है। ऐसे ही जो पुरुष अज्ञानको छोडकर ज्ञानी होना चाहता है अथवा ज्ञानी होनेको उद्यत है उसको गुरुजन निमित्त मात्र है।

उपादानसिद्धता—भैया! जो ज्ञानी बनना चाहता है उसको कहाँ रुकावट है। शास्त्र हैं, गुरु है, साधर्मियोका सग है, सब कुछ प्रसंग हैं, कहाँ अटक है कि मुझे साधन नही है, मै कैसे ज्ञान पैदा करूँ? जिसे ज्ञान नही पैदा करना है उसको निमित्त ही कुछ नही बन पाते है। वह ही चीज दूसरोके लिए निमित्त बन गयी जो ज्ञानी होना चाहते है और जो ज्ञानी नही होना चाहते है उनके लिए कुछ निमित्त नही है। प्रत्येक पदार्थमे परिणमन की शक्ति है। पदार्थमे जो शक्ति है उसका परिणमन स्वयका ही कार्य बनता है। उस कार्य के समय अन्य पदार्थ निमित्त मात्र है। जैसे इस समय जो श्रोता यह रुचि करता हो कि मुझे तो अपने ज्ञानस्वरूपमे अपने उपयोगको लगाना है और अपना ध्यान अच्छा बनाना है तो उसके लिए तो शास्त्रके वचन निमित्त हो जायेगे, पर जिनके ऐसी रुचि नही है, जिनका उपयोग भ्रममे बना हुआ है उनके लिए ये शास्त्रके वचन निमित्त नही है। सब जीवोके स्वयके उपादानकी विशेषता है।

उपादान और निमित्तप्रसंग—पूर्व श्लोकमे यह कहा गया था कि परमार्थसे आत्मा का आत्मा ही गुरु है, क्योकि प्रत्येक आत्मा स्वय ही अपनेमे उत्तम हितकी अभिलाषा रखता है उसका ज्ञान और उस रूप आचरण है भी यह स्वय करता है इस कारण अपना गुरु यह स्वय है ऐसी बात आनेपर यह शका होती है तो फिर गुरुजन और उनके उपदेश ये सब बेकार है क्या? उसके उत्तरमे यह कहा गया कि वास्तवमे तो जितने भी कार्य होते है, कोई ज्ञानरूप और कोई अज्ञानरूप परिणमे तो यह उसके उपादानसे होता है। वहाँ अन्य जन, पदार्थ तो निमित्तमात्र होते हैं और उसके उदाहरणमे दृष्टान्त देते है, जैसे जीव पुद्गल जब चलनेको उद्यत होते है तो अपनी उपादान शक्तिसे चलते है। उस समयमे धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है।

सिद्धिका आधार और उसका निमित्त—भैया उपादान व निमित्तकी स्वतन्त्रताके

अनेक उदाहरण ले लो। चूल्हे पर अदहनका पानी रक्खा हुआ है, तो पानी जो गर्म होता है वह आगकी परिणतिसे नही गर्म होता है, उस पानीमे स्वय गर्म होनेकी शक्ति है। वह पानी अपने उपादानसे ही गर्म होता है। हाँ उस सम्बधमे निमित्त अग्नि अवश्य है, पर आग की परिणति पानीमे आकर पानीको गर्म कर रही हो, ऐसा नही है। जैसे आप सब सुन रहे है, जो बाते हम कह रहे है वे बाते आप सब ज्ञानमे ला रहे है, स्वय ही अपने अन्तरमे ज्ञान का पुरुषार्थ करके जान रहे है, हम आपमे ज्ञानकी परिणति नही बना सकते है। हाँ उस तरहके ज्ञानके विकासमे ये वचन निमित्त मात्र हो रहे है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके उपादानसे परिणत होता है, बाह्यपदार्थ निमित्तरूप सहकारी होते है।

अयोग्य उपादानमें विवक्षितसिद्धिका अभाव—जिसमे परिणमनेकी शक्ति नही है उसमे कितने ही निमित्त जुटें, पर वह परिणमता नही है। जैसे कुरड् मूंगमे पकनेकी शक्ति नही है तो आप उसे चार घटे भी गर्म पानीमे पकावे तो भी नही पक सकती। अज्ञानी पुरुष मे अभव्यमे, जिसका होनहार अच्छा नही है ऐसे मिथ्यादृष्टियोमे ज्ञान ग्रहण करनेकी योग्यता नही है, अतएव वहाँ कितने ही निमित्त मौजूद हो तो भी वे लाभ नही उठा सकते, क्योकि उपयोग गंदा है। जिन निमित्तोको पाकर सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी बन सकता है उन ही निमित्तोको पाकर मिथ्यादृष्टि मोही अज्ञानी जीव दोष ग्रहण करने लगता है। यह सब अपने-अपने उपादानके योग्यताकी बात है।

लब्धिके बिना विकासका अवरोध—यदि आत्मामे एक ज्ञान प्राप्त करनेका क्षयोपशम नही है, तत्त्वज्ञानकी योग्यता नही है उन अभव्य जनोको सैकडो धर्माचार्योके उपदेश भी सुननेको मिले तो भी वे ज्ञानी नही हो सकते, क्योकि कोई पदार्थ किसी भी अवस्थाको छोडकर कोई नई अवस्था बनाए तो उसमे उस पदार्थकी क्रिया और गुणोकी विशेषता है, दूसरा तो निमित्त मात्र है। प्रयोग करके देख लो– बगुला पढ नही सकता कभी तोतेकी भांति, वह अक्षर नही बोल सकता तो बगुलाको पालकर यदि उसे वर्षो तक भी सिखावो तो क्या वह बोल लेगा? नही बोल सकता। उसमे उस तरह परिणमनेकी शक्ति ही नही है। तोतेमे बोलनेकी योग्यता है, चाहे वह न समझ पाये बोलनेका भाव, किन्तु उसका मुख उसकी जिह्वा व चोच ऐसी है कि कुछ शब्द वह मनुष्योकी तरह बोल सकता है। कितने ही लोग तो तोतेको चौपाई तक सिखा देते है, कोई गद्यमे बात सिखा देते है, वह तोता बोलता रहता है। तो जैसे बगला सैकडो प्रयत्न करनेपर भी बोल नही सकता है इस ही प्रकार अभव्य जीवोके अज्ञानी जीवोके चूंकि तत्त्वज्ञान उत्पन्न करनेकी योग्यता नही है, इस कारण कितने ही ज्ञानी पुरुषोके उपदेश मिले, कितने ही निमित्त साधन मिलें तो भी वे ज्ञानी नही बनाये जा सकते है। उपादान ही विपरीत है तो वे ज्ञानको कैसे ग्रहण करेंगे? बल्कि वे अज्ञान ही

ग्रहण करेंगे।

योग्यतानुसार परिणमन—जब तीर्थंकरोंका समवशरण होता था उस समवशरणमे अनेक जीव अपना कल्याण करते थे और अनेक जीव उस समय ऐसे भी थे कि प्रभुको मायावी, इन्द्रजालिया, ऐसे अनेक गालियोंके शब्द कहकर अपना अज्ञान बढाया करते थे, वे कल्याणका पथ नही पा सकते थे। हुआ क्या, प्रभु तो वहीके वही, अनेकोने तो कल्याण प्राप्त कर लिया और अनेकोने दुर्गतियोका रास्ता बना लिया। ये सब जीवोंकी अपनी-अपनी योग्यताकी बाते है। जो पुरुष अज्ञान दशाको छोडकर ज्ञान अवस्थाको प्राप्त करना चाहते है वे अपनी ही योग्यतासे ज्ञानी बनते है। अन्य जन तो निमित्तमात्र है, ऐसे ही जो पुरुष पाप करना चाहते है पापोमे मौज मानते है वे अपनी ही अशुद्ध परिणतिसे पापोका परिणाम बनाते है। अन्य जो विषयोंके साधन है वे निमित्तमात्र है।

योगीश्वरोंका ज्ञानसे अविचलितपना—जो योगीश्वर सम्यग्ज्ञानके प्रकाशसे मोहान्धकारको नष्ट कर देते है, जो तत्त्व दृष्टि वाले है, यथार्थ ज्ञानी है, शान्तस्वभावी है, ऐसे योगीश्वर किसी भी प्रसंगमे अपने ज्ञानपथको नही छोडते है। यह साहस सम्यग्दृष्टिमे है कि कैसी भी विपदा, कैसा भी उपसर्ग आ जाय तिसपर भी वे अपने ज्ञानस्वभावको नही छोड सकते। परपदार्थ कैसे ही परिणमे, पर सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष उसके ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहते है। किसी कवि ने कहा है कि गाली देने वाला पुरुष गाली देता है और सज्जन पुरुष विनय प्रकट करता है, तो जिसके समीप जो कुछ है उससे वही तो प्रकट होगा।

परिणमनकी उपादानानुसारिता—ज्ञानी पुरुष दूसरोके गुण ग्रहण करता है, दोष नही और अज्ञानी पुरुष दूसरोके गुण नही ग्रहण कर सकता, दोष ही ग्रहण करेगा। जो जैसा है वह वैसा ही परिणमता है, कहाँ तक रोका जाय ? मूर्ख पुरुष किसी सभामे सज धजकर बैठा हो तो कहाँ तक उसकी शोभा रह सकती है ? आखिर किसी प्रसगमे कुछ भी शब्द बोल दिया तो लोग उसकी असलियत जान ही जायेगे। तोतला आदमी बडा सज धजकर बैठा हो मौजसे तो उसकी यह शोभा कब तक है जब तक कि वह मुखसे कुछ बोलता नही है। बोलने पर तो सब बात विदित हो जाती है। जो लोग भीतरसे पोले है और आर्थिक स्थिति ठीक नही है और बहुत बडी सजावट करके लोगोमे अपनी शान जतायें तो देखा होगा कि किसी प्रसगमे वे हसेंगे तो वह हंसी कुछ उडती हुई सी रहती है, और जानने वाले जान जाते है कि ये बनकर हस रहे है, इनके चित्तमे इस प्रकारकी स्वाभाविक हँसी नही है जो स्वाभाविक बात आ सके। कहाँ तक क्या चीज दबाई जाय, जिसमे जैसा उपादान है वह अपने उपादानके अनुकूल ही कार्य करेगा।

प्रत्येक प्रसंगोंमें ज्ञानीकी अन्तःप्रतिबुद्धता—तत्त्वज्ञानी पुरुष ज्ञानका ही काय

करेगा और अज्ञानी पुरुष अज्ञानका ही कार्य करेगा। जैसे स्वर्ण धातुसे लोहेका पात्र नही बनाया जा सकता और लोहे की धातुसे स्वर्णका पात्र नही बनाया जा सकता अथवा गेहू बोकर चना नही पैदा किया जा सकता और चना बोकर गेहू नही पैदा किया जा सकता। ऐसे ही अज्ञानी जीव, अभव्य जीव धर्मके नाम पर बहुत बडा ढोग रचे तिस पर भी उनके अतरङ्ग ज्ञान कैसे प्रकट हो सकता है और ज्ञानी पुरुष किसी परिस्थितिमे अयोग्य भी व्यवहार करता हो तो भी वह भीतरमे प्रतिबुद्ध रहता है। श्री रामका दृष्टान्त सब लोग जानते है। जब लक्ष्मणकी मृत्यु हो गई थी उस समय उनको कितनी परेशानी और विह्वलता थी ? जब सीताका हरण हुआ था उस समय भी कितनी विह्वलता थी ? उस समयके लोग उन्हे अपने भीतरमे पागल कहे बिना न रहते होगे, वह स्थिति बन गयी थी। किन्तु वे महापुरुष थे, रहे।

श्री रामकी अन्तःप्रतिबुद्धताका उदाहरण—भैया ! कैसे जाना कि राम सकटकाल मे भी प्रतिबुद्ध थे ? तो एक दो दृष्टान्त देखलो। जिस समय श्रीराम और रावणका युद्ध चल रहा था उन दिनोमे रावण शान्तिनाथ चैत्यालयमे बैठकर बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा था। लोगोने रामसे कहा कि रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है। उसने यह विद्या यदि सिद्ध कर ली तो फिर उसका जीतना कठिन है, इस कारण विद्या सिद्ध न होने दे, उसमे विघ्न डाले, उसका उपयोग भ्रष्ट कर दे, इसकी ही इस समय आवश्यकता है। तब राम बोले कि वह चैत्यालयमे बैठा है, अपनी साधना कर रहा है, उसमे विघ्न करनेका हमे क्या अधिकार ? रामने इजाजत नही दी कि तुम रावणकी इस साधनामे विघ्न डालो। विवेकी थे तभी तो विवेककी बात निकली। फिर क्या हुआ यह बात अलग है। कुछ मन चले राजावोने वहाँ जाकर थोडा बहुत उपद्रव किया। राजावो द्वारा उपद्रव किया जाने पर भी रावण अपनी साधनासे विचलित नही हुआ। तब जो विद्या अनेक दिनोमे सिद्ध हो सकती थी वह मिनटोमे ही विद्या सिद्ध हो गई।

निर्भयताके लिये अन्तःसाहसकी आवश्यकता—भैया ! खुद मजबूत होना चाहिए फिर क्या डर है ? स्वय ही कायर हो, भयशील हो तो वह दुःखी होगा ही। कोई दूसरा पुरुष उसे कदाचित् भी दुःखी नही कर सकता। मैं ही दुःखके योग्य कल्पना बनाऊँ तो दुःखी हो सकता हू। क्या दुःख है, दुःख सब मान रहे है। हर एक कोई यह अनुभव करता है कि मेरे पास जो वर्तमानमे धन है वह पर्याप्त नही है, मेरी पोजीशनको बढाने वाला नही है। इस कल्पनासे सभी जीव दुःखी हैं। और देखो तो कही दुःख नही है, जिसके पास जो स्थिति है उससे भी चौथाई होती तो क्या गुजारा न होता ? जिसके इस सम्पत्तिका

हजारवा भाग भी नही है क्या उसका गुजारा नही होता है ? होता है और उनके सद्‌बुद्धि है तो वे धर्ममे लगे हुए है । क्या कष्ट है, पर कल्पना उठ गई इससे सुख सुविधावोका भी उपयोग सही नही किया जा सकता ।

बुद्धिके अनुसार घटनाका अर्थ—जिसका जैसा उपादान है वह अपने उपादानके अनुकूल ही कार्य करेगा । एक नावमे कुछ लोग बैठे चले जा रहे थे । उसमे एक दो साधु भी बैठे थे । कुछ गुण्डोने उनको गालियाँ दी तो वे समतासे सहन कर गए । वे गुन्डे यह कहते जाये कि ये चोर है, बदमाश है, झूठे है, ढोगी है आदि तो साधु कहते है कि ये लोग ठीक कह रहे है हम चोर है, बदमाश है, झूठे है अन्यथा इस ससारमे क्यो भटकते ? आप लोग इन पर क्यो नाराज होते हो ? खैर जब तक बाते हुईं तब तक तो ठीक, लेकिन एक उदण्ड ने एक साधुके सिरमे तमाचा भी मार दिया । तो वह साधु कहता है कि आप लोग इस पर नाराज मत होओ । यह भाई यह कह रहा है कि तुमने अपना सिर प्रभुके चरणोमे भक्ति पूर्वक न माया नही है इसलिए यह सिर ताडने योग्य है, यह मुझे शिक्षा दे रहा है । नाराज मत होओ । चीज वहीकी वही है, चाहे गुण ग्रहण करने लायक कल्पना बना ले और चाहे दोष ग्रहण करने लायक कल्पना बना ले । ज्ञानी पुरुष गुणग्रहणकी कल्पना बनाते है और अज्ञानी पुरुष दोषग्रहण करनेकी कल्पना बनाते है । जो पुरुष दूसरोके दोष ग्रहण कर रहा है उसने दूसरेका बिगाडा क्या, खुदका ही उसने बिगाड कर लिया ।

योग्यताकी संभालमें ही सुधार—जितने भी पदार्थ है वे सब अपनी योग्यताके अनुकूल परिणमते है । इन सब कथनोसे यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी बनने की सामर्थ्य भी अपनी आत्मामे है और अज्ञानी बननेकी सामर्थ्य भी अपनी आत्मामे है । गुरु-जन तो बाह्य निमित्त कारण है । जिसे कामी बनना ही रुचिकर है उसको फोटो या कोई स्त्री पुरुष रूपवान कुछ भी दिखे तो सब निमित्तमात्र है, पर स्वयमे ही ऐसी कलुषता है योग्यता है जिसके कारण वे कामके मार्गमे लग जाते है । कोई पुरुष क्रोधस्वभाव वाला है, उसको जगह जगह क्रोध आनेका साधन जुट जाता है और कोई शान्तस्वभावी है तो उसे किसी भी विषयमे क्रोध नही आता है । इससे यह जानना कि अपनी योग्यता सभाले बिना अपने आपका सुधार कभी हो नही सकता है ।

उपादानके परिणमनमें अन्यका निमित्तपना—भैया ! दूसरेका नाम लगाना क्या करे, अमुक है, ऐसा है इसलिए हमारा काम नही बनता, ये सब बहानेबाजी है । राजा जनकके समयमे एक गृहस्थ आया, जनक बैठे थे । बोले महाराज हम बहुत दुखी है, मुझे गृहस्थीने फसा रक्खा है, धन वैभवने हमे जकड रक्खा है, मुझे साधुताका आनन्द नही मिल पाता है, तो आप कोई ऐसा उपाय बतावो कि वे सब मुझे छोड दें ? तो जनकसे

कुछ उत्तर ही न दिया गया। और सामने जो खम्भा खडा था उसको अपनी जोटमे भर कर कुछ चिल्लाने लगे कि भाई भाई मै क्या करूँ, मुझे तो इस खम्भेने जकड लिया है। मै कुछ जवाब नही दे सकता। मुझे यह खम्भा छोड दे तो फिर जवाब दूं। तो गृहस्थ बोला—महाराज ! कैसे आप भूली-भूली बातें करते है। अरे खम्भेने आपको जकड लिया है कि आपने खम्भेको जकड लिया है ? तो राजा जनक कहते है कि बस यही तो तुम्हारे प्रश्नका उत्तर है। धन, दौलत, कुटुम्बने तुमको फंसा रक्खा है कि तुमने खुद उनको फसा रक्खा है तो कोई किसीको न ज्ञानी बना सकता है, न अज्ञानी बना सकता है। निमित्तमात्र अवश्य है। इस कारण ज्ञानकी प्राप्तिके लिए गुरुवोकी सेवा सुश्रूपा करना कर्तव्य है, उनमे श्रद्धा भक्ति रखना कर्तव्य है, परन्तु परमार्थसे अपने आत्माको ही अपना मार्ग-चालक जानकर अपने पुरुषार्थ और कर्तव्यका सदा ध्यान रखना चाहिए।

अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्वसंस्थितिः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्व निजात्मन ॥३६॥

आत्मतत्त्वाभ्यासकी प्रेरणा—जिसके चित्तमे किसी भी प्रकारका विक्षेप नही है अर्थात् रागद्वेषकी तरगकी कलुपता नही है, तथा जिसकी बुद्धि एकान्तमे तत्त्वमे लगा करती है ऐसा योगी निज तत्त्वका विधिविधान सहित योग साधना समाधिसहित ध्यानका अभ्यास करता है। आत्मस्वरूपके अभ्यासका उपाय क्या है, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए इस श्लोकमे यह बताया है कि राग द्वेषका क्षोभ न हो तो तत्त्वचिन्तनका अभ्यास बने। रागद्वेषका क्षोभ न हो इसके लिए यथार्थस्वरूपका परिज्ञान चाहिए। सो सर्वप्रयत्न करके अध्यात्मयोगार्थीको आत्मतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये।

सर्वत्र ज्ञानलीला—भैया ! सब कुछ लीला ज्ञानकी है, सर्वत्र निहार लो, जो आनन्द मे रत है, योगी है उनके भी ज्ञानकी लीला चल रही है। जो दु खी पुरुष है, जो दु खकी कल्पना बनाते है तो कल्पना भी तो ज्ञानसे ही सम्बन्ध रखने वाली चीज हुई ना, कुछ तो ज्ञानमे आया, किसी प्रकारकी जानकारी तो बनायी उसका क्लेश है। वहाँ भी ज्ञानकी एक लीला हुई। जो पुरुप आनन्दमे रत है उसने भी अपना विशुद्ध ज्ञान बनाया, उस विशुद्ध ज्ञान का उसे आनन्द है, वहाँ तो ज्ञानकी विशुद्ध लीला है ही। यो योगी अपने तत्त्वचिन्तनका अभ्यास बनाता हैं।

चित्तका विक्षेप महती विपदा—चित्तका विक्षिप्त हो जाना यह महती विपत्ति है। किसी धनी पुरुषके कोई पागल बिगडे दिमागका कम दिमागका या जिसके चित्तमे विक्षेप होता रहे ऐसे दिमागका बालक हो तो लोग उसके रक्षक मातापिता जन रिश्तेदार वगैरह

हजारो लाखोका खर्च करके भी चाहे कि उसके चित्तका विक्षेप बदल दे तो ऐसा उपाय करते है, पर हैरान हो जाते है, दु खी ही रहते है। कदाचित ठीक हो जाय तो उसके ही होनहारसे वह ठीक होता है। दूसरे लोग उसमे कुछ अपना करतब नही अदा कर सकते है। चित्तका विक्षिप्त हो जाना यह जब तक बना रहेगा तब तक रागद्वेषका क्षोभ रहेगा। इस आकुलताके कारण आत्मस्वरूपका ध्यान नही बन सकता। किसी मनुष्यके द्वारा कुछ अपने को कष्ट पहुचे, कष्ट तो नही पहुंचा, पर किसी मनुष्यका बोल सुनकर उसकी चेष्टा निरखकर कुछ ऐसी कल्पना बनायी कि दु खी हो गए, तो दु खी हो जानेपर चित्तमे ऐसा हठ होता है कि हम भी इसका कुछ बदला चुकायेंगे, लेकिन ऐसे परिणामका होना यह इसके लिए बहुत बडी विपत्ति है।

अन्तः साहस—दुनियाके जीव जो कुछ करते हो, करे, उनका उसी प्रकारका अशुभ कर्मका उदय है कि थोडी बुद्धि है, थोडी योग्यता है, उसके अनुकूल उन्होने अपनी प्रवृत्ति की, उसको देखकर यदि हम भी चलित हो जायें अर्थात् क्षमाभावसे, सत्य श्रद्धासे, आत्मकल्याणकी दृष्टिसे हम भी चिग जाये तो हमने कौनसा अपूर्व काम किया ? इससे यह बडी साधना है, बडा ज्ञानबल है कि इतनी हिम्मत भीतरमे रहे कि लोग जो चेष्टा करें सो करते जाये पर हम तो अपने आपके सत्य विचार सत्य कर्तव्यमे ही रत रहेगे। हाँ कोई आजीविका पर धक्का लगे, अथवा आत्महितमे कोई बाधा आए और उस बाधाको दूर करनेके लिए कुछ सामना करना पडे, उत्तर देना पडे तो वह बात अलग है, पर जहाँ न हमारी आजीविकापर ही धक्का लग रहा हो और न हमारी धर्मसाधनामे कोई बाधा आ रही हो, फिर भी किसी प्रतिकूल चलने वाले पर रोष करना अथवा उससे बदला लेनेका भाव करना, यह तो हितकी बात नही है।

क्षमासे अन्तः स्वच्छता—भैया ! खुदको तो बहुत स्वच्छ रहना चाहिए, क्योंकि बदला देनेका परिणाम यदि रहा तो उससे चित्तमे शल्य रहा, पापोका बध बराबर चलता रहा जब तक कि बदला लेनेका संस्कार मनमे रहा आया हो। लाभ क्या उठा पाया, हानि ही अपनी थी, कर्मबंध किया, समय दुरुपयोगमे गुजारा और फायदा कुछ भी न उठाया। शान्त रहते तो बुद्धि स्वच्छ रहती, पुण्यबध होता, धर्ममे भी गति होती। तब गृहस्थको कमसे कम इतना तो अपना मनोबल बढाना चाहिए कि जिस घटनामे आजीविका आदि पर धक्का न लग रहा हो, आत्महितमे बाधा न हो रही हो तो ऐसी घटनावोमे न कुछ क्षोभ लाना है और न कुछ प्रतिक्रिया करनेका आशय बनाना है। योगी साधु पुरुष तो किसी भी परिस्थितिमे चाहे कोई प्राण भी ले रहा हो तब भी उस घातक पुरुषपर रोष नही करते है, उनके और उत्कृष्ट क्षमा होती है। चित्तमे रागद्वेषका क्षोभ न मच सके ऐसा अपना ज्ञान

बढाना, यही आत्माके हितकी बात है।

कल्पनाकी व्यर्थ विपदा—भैया! मोटी बात सोचो, इस आत्माका साथी कौन है? इस आत्माके साथ जायेगा कौन? मरते हुए लोगोको तो देखा है, एक धागा भी साथ नही जाता है। खूब बढिया ऐसी बडी पहिना दो जिसे उतार भी न सके या कैसे ही कपडोमे गूंथकर रख दो, पर जीव जो मर रहा है उसके साथ कुछ भी जा सकता है क्या? मरने वाले मनुष्यकी छातीपर नोटोकी गठरी रख दो तो भी वह उसमे से कुछ ग्रहण कर सकता है क्या? कितना दयापूर्ण वातावरण है वह। मोही पुरुष कितनी विपत्तिमे पडा हुआ है, उसे सत्य मार्ग ही नही दीखता। एक रागके अधकारमे बहा जा रहा है और रागी पुरुष ही सामने मिलते है सो वे पुरुष इसको कुछ बुरा भी नही कहते। दूसरेकी रागभरी चेष्टाको देखकर दूसरे रागी लोग उसकी सराहना ही करते है। तब कैसे इस रागकी विपदा से दूर हो?

अन्तः आश्रयका साहस—धर्मका पथ बडा कटीला पथ है। जब तक कोई अपनेमे इतना साहस नही करता कि लो मैं तो दुनियाके लिए मरा ही हुआ हू, अर्थात् मुझे दुनिया को कुछ नही दिखाना है। दस साल आगे मरनेको समझलें कि अभी हम दुनियाके लिए मर गए। जो जीवित हू, वह केवल आत्मकल्याणके लिए शान्ति और सतोषसे रहकर इन कर्मोको काटनेके लिए जीवित हू, ऐसा साहस जब तक नही आता तब तक तो सही मायने मे यह धर्मका पात्र नही होता। अब अपनेको टटोल लो कि हमे किस प्रकारका साहस रखना है, जिन जीवोमे मोह पडा हुआ है, पुत्र हो, स्त्री हो, कोई हो उनके प्रति उनको विषय बनाकर जो उपयोग विकल्पोमे गुथे रहते है भला बतलावो तो सही कि इन विकल्प-जालोसे कौनसा आनन्द पाया, कौनसा प्रकाश पाया?

व्यामोह विपत्—व्यामोही प्राणियोके कितना अधकार बना हुआ है, अन्तरमे श्रद्धा यह बैठी है कि यह तो मेरा है, बाकी दुनिया गैर है। भाईचारे के नातेसे व्यवस्था करना अन्य बात है। व्यवस्था करनी पडती है, ठीक है, किन्तु अतरङ्गमे यह श्रद्धा जम जाय कि मेरे तो ये ही है तीन साडे तीन लोग, और बाकी सब गैर हैं, ऐसी बुद्धिमे कितना पाप समाया हुआ है, उसे कौन भोगेगा? प्रकट भी दिखता है कि किसीका कुछ कोई दूसरा नही है। देखते भी जाते है, घटनाएँ भी घट जाती है, तिस पर भी वासना वही रहती है। एक अहानेमे कहते है कि कुत्ताकी पूँछको किसी पुगेरीमे अर्थात् पोले बासमे जो कि सीधा होता है उसमे पूँछको रख दो तो पूछ सीधी तो रहेगी किन्तु जब निकलेगी तो तुरन्त-टेढी हो जायगी, ऐसे ही कितनी मोहकी तीव्र वासना भरी है अज्ञानी जीवोकी। किसी गोष्ठीमे आयासे पचकल्याणक विधानोके दृश्योमे या विद्वानोके भाषणोमे या मरघटोमे, किसी को जलाने

रहे है अथवा समुदायोंमे ये भाव कर लेते है, चर्चा कर लेते है ज्ञानकी ओर वैराग्य की, पर थोडी ही देर बाद जैसे के तैसे ही रह जाते है। बडी विपदा है यह मोहकी।

निर्मोहताकी अमीरी—भैया! मोह जिसका छूटे वही पुरुष सच्चा अमीर है। कौन पूछने वाला है, किसके लिए तृष्णा बढाई जा रही है? कोई जीवनमे अथवा मरणमे साथी हो सकता हो तो निहारो जब तक चित्तमे विक्षेप है तब तक इस जीवको साता हो ही नही सकती। इसलिए सबसे पहिले योगीको अपना चित्त शान्त रखना चाहिए। एक ज्ञान बढाने का चस्का लगा लीजिए फिर दिन बडे अच्छे कटेंगे। इतना ज्ञान सीखा अब और आगे समझना है।

प्राप्त बलका आत्महितमें सदुपयोग—जब तक आंखे काम दे रही है, जब तक इन आंखोसे देखना बन रहा है तब तक स्वाध्याय करके, ज्ञान सीखकर क्यो न सदुपयोग कर लिया जाय? जब कदाचित् मानलो आंखोसे दिखना बद हो जाय तब क्या किया जायगा? ज्ञानार्जनका उपाय फिर ज्यादा तो न किया जा सकेगा। भले ही बहुत कुछ सीखा हो तो ध्यान करके ज्ञानका फल पा सके। लेकिन जब तक ये इन्द्रिया सजग है, समर्थ है तब तक इनका सदुपयोग कर ले। कानोसे जब तक सुनाई दे रहा है तो तत्त्वकी बात सुने ना, ज्ञान की बात वैराग्यकी बात सुने ना, महापुरुषोके चारित्रकी बात सुने, जिनके सुननेसे कुछ लाभ होगा। जब तक बोलते बन रहा है जीभ ठीक चल रही है तब तक प्रभुभक्ति गुणगान स्तवन कर ले ना। जब बल थक जायगा, कुछ बोल न सकेगे, जीभ तडखडा जायगी फिर क्या कर सकेगे? जब तक शरीरमे बल है, हाथ पैर चलते है तब तक गुरुवोकी सेवा कर ले ना। जब स्वय ही थक जायेगे, उठ ही न सकेगे फिर क्या किया जा सकेगा? जब तक यह बल बना हुआ है इस बलका उपयोग धर्मसाधनाके लिए करना चाहिए।

धर्मसाधना—धर्मसाधना मोहरागद्वेष उत्पन्न न हो, इसमे ही है। इसकी सिद्धिके लिए योगी पुरुष एकात स्थानमे रहनेका अभ्यास करते है। एकात निवास आत्मस्वरूपकी बडी साधना है। एकात निवासमे जब रागद्वेषके साधन ही सामने नही है तो प्रकृतिसे इसके चित्तपर स्फूर्ति जागृत होती है। जब तक हेय और उपादेय पदार्थका परिज्ञान न होगा तब तक कैसे आत्मस्वरूपका अभ्यास बन सकता है? सबसे बडी दुर्लभ वस्तु है तो ज्ञान है। धन, कन, कञ्चन, हाथी, घोडा दुकान वैभव ये कोई काम न आयेगे, पर अपना आत्मज्ञान एक बार भी प्रकट हो जाय तो यह अचल सुखको उत्पन्न कर देगा। इसलिए करोडो बातो मे भी प्रधान बात एक यही है कि अनेक उपाय करके एक ज्ञानार्जनका साधन बना ले।

विनाशीक वस्तुसे अविनाशी तत्त्वके लाभका विवेक—यदि नष्ट हो जाने वाली चीज का व्यय करके अविनाशी चीज प्राप्त होती है तो इसमे विवेक हो तो रहा। यह वैभव धन

खर्च हो जाता है त्याग हो जाता है और उस त्याग और व्यय करनेसे कोई हमे कुछ ज्ञान की सिद्धि होती है, दृष्टि जगती है तो ऐसी उदारताका आना लाभ ही तो है, अन्यथा तृष्णा मे कृपणतामे होता क्या है कि वियोग तो सबका होगा ही, इसमे ज्ञानसे सूना-सूना रहनेके कारण अधेरी छायी रहेगी, दुखी होगे। कृपण पुरुषके कितनी विपत्ति है, इसका ज्ञान कब होता है जब कोई लुटेरे लूट ले, धन नष्ट हो जाय, तो लोगोको विदित होता है कि इसके पास इतना कुछ था। बतावो कौनसा लाभ लूट लिया रागकी आसक्तिमे और मोह ममतामे ?

तत्त्वज्ञानका आदर—भैया ! जब तक एक ज्ञानका प्रकाश नही हो सकता तब तक आत्मामे शान्ति आ ही नही सकती। इस कारण यह कर्तव्य है कि हम स्व और परका यथार्थ विवेक बनाएँ। मेरा आत्मा समस्त परपदार्थोसे न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ऐसा भान जिन सतोके रहा करता है वे ज्ञानी योगी पुरुष है। सब दशावोमे ज्ञान ही तो मदद देता है। धन कमा रहे हो तो वहाँ भी क्या ज्ञान बिना रहकर, भोदूपना करके व्यापारका काम बन जायगा ? वहाँ भी ज्ञानकलाका ही प्रताप चल रहा है। किसी भी प्रकारकी जो कुछ भी श्रेष्ठता है वह सब ज्ञानकी कलाके प्रतापसे है। इस तत्त्वज्ञानका आदर करो, यही सहाय है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी जगतमे सहाय नही है। जो जीवनमे ज्ञानी होता है वह मरते समय भी अपनी ज्ञानवासनाके कारण प्रसन्न रहता है।

जगत्का खेल—अहो कैसा है यह जगतका खेल, पहिले बनाया जाता और फिर मिटाना पडता। जैसे बच्चे लोग मिट्टीका भदूना बनाते है, बादमे बनाकर बिगाड देते है, अपना समय उस खेलमे व्यर्थ गवाते है ऐसे ही रागी मोही जन किसी कामको बनाते है तो वह भी क्या सदा तक बना रह पाता है ? वह भी बिखर जाता है। तो क्या बुद्धिमानी हुई, बनाया और बिगाडा। बनानेमे तो इतना समय लगा और बिगाडनेमे कुछ भी समय न लगा। जिन्दगी भर तो इतना श्रम किया और अतमे फल कुछ न मिला तो ऐसे व्यवसायसे, परिश्रमसे कौनसा अपने आपके आत्माका लाभ उठाया ?

व्यवहारसे लाभ—भैया ! सब हिम्मतकी बात है। जो पुरुष इतना तक समझनेके लिए तैयार रह सकता है कि मै तो इस दुनियाके-लिए मरा हुआ ही हू, मैं इन मायामयी मोही प्राणियोसे, इन मोही मायामयी समागमोसे मै कुछ नही कहलवाना चाहता हूँ, मैं अपने आपमे ही प्रसन्न हू, इतना साहस यदि किया जा सकता है तब धर्मपालनकी बात बोलना चाहिए अन्यथा सब एक पार्ट अदा किया जा रहा है। जैसे दूकान किया, ऐसे ही पूजन भी किया, यह सब तफरी है एक तरहकी। जिसको ज्ञानकी दृष्टि नही है, जिसने अपना लक्ष्य विशुद्ध नही बना पाया है उनका दिल बहलावा है। खोटे-खोटे कामोमे ही बहुत समय तक

रहनेपर फिर दिल नही लगता है, ऊब जाता है, अब उस दिलको कहाँ लगायें ? तो कुछ यहाँ व्यवहार धर्मकी बातें भी बना ली ।

व्यवहारधर्मकी बाह्य सहायकता—यह सब व्यवहारधर्म बुरा नही है, हमारी भलाईमे सहायक है, पर जैसे हमारी भलाई हो सकती है उस प्रकारकी दृष्टि बनाकर व्यवहारधर्मको करें तब ही तो भलाई है। जो पुरुष अपने को सबसे न्यारा अकिञ्चन केवल ज्ञानानन्द स्वरूप निहारेगा उसको ऋद्धि सिद्धि होगी और जो बहिर्मुखदृष्टि करके अपना उपयोग बिगाडेगा, भले ही पूर्वजन्मके पुण्यके प्रतापसे कुछ जड विभूति मिल जाय किन्तु उसने किया कुछ नही है, आगे वह दुर्गतिका ही पात्र होगा। इससे रागद्वेष न हों, ज्ञानप्रकाश बने ऐसा उद्यम करना इसमे ही हितकी बात होगी।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि ॥३७॥

ज्ञानसे विषयोंमें अरुचि—अपने उपयोगमे जैसे-जैसे यह आत्मतत्त्व विकसित होता जाता है वैसे ही वैसे ये सुलभ भी विषय रुचिकर नही होते है। जब सहज शुद्ध अतस्तत्त्व के उपयोगसे एक आनन्द झरता है तो उस आनन्दसे तृप्त हो चुकने वाले प्राणियोको सुलभ भी विषय, सामने मौजूद भी विषय रुचिकर नही होता है। जब तक अपने स्वभावका बोध न हो तब तक विषयोमे प्रीति जगती है। जब कोई पदार्थ है तो उस पदार्थका कुछ स्वरूप भी होना चाहिए, अर्थात् । अर्थात् केवल उस पदार्थकी सत्ताके ही कारण मेरा क्या स्वरूप हो सकता है, उसे कहते है सहजस्वरूप। इस आत्माका आत्माकी स्वरूप सत्ताके कारण क्या स्वरूप हो सकता है उसका नाम है सहज स्वरूप। यह उत्तम तत्त्व जिसके ज्ञानमे समाया है उसे सुलभ भी विषय रुचिकर नही होते।

नैमित्तिक भावमें स्वरूपताका अभाव—जो किसी परद्रव्यके सम्बन्धसे इस आत्माकी बात बनती है वह आत्मामे होकर भी आत्माका स्वरूप नही है। जैसे दृष्टान्तमे देखिये कि अग्निके सम्बन्धसे पानीमे गर्मी आनेपर भी पानीका स्वरूप गर्मी नही है। यद्यपि उस पानी को कोई पी ले तो मुँह जल जायगा। गर्मी अवश्य है और वही गर्मी पानीमे तन्मय है, इतने पर भी पानीका स्वरूप गर्म नही कहा जा सकता है। इस ही प्रकार कर्मोके उदयवश अपने उपयोगकी भरमना चल रही है, रागादिक भाव उत्पन्न होते है, ये रागादिक आत्माके ही परिणमन है, इतने पर भी ये रागादिक आत्माके स्वरूप नही बन जाते हैं। इतनी बातकी खबर जिसे है उसने अपना मनुष्य जन्म सार्थक कर लिया है। शेष जो कुछ भी समागम मिला है वे सर्व समागम इस आत्माके भले के लिए नही है, ये छूटेंगे और जब तक साथ है तब तक भी क्या यह जीव चैनसे रह सका है ?

स्वकी विश्वास्यता—भैया ! इन समागमोमे रच भी विश्वास न करो और यह विश्वास करो कि मेरे ही स्वरूपके कारण मेरा जो स्वभाव है 'बस वही मेरा शरण है, वही मेरा रक्षक है। उसमे स्वय आनन्द भरा हुआ है। ऐसे इस सहज ज्ञानानन्दस्वरूपकी जिन्हे सुध रहती है और इस स्वरूपके अनुभवसे जो शुद्ध आनन्दका अनुभव जगा है उसके कारण इस ज्ञानीको ये सुलभ विषय भी रुचिकर नही होते है।

परिस्थितिवश विषयमें अरुचिसे एक अनुमान—अब जरा इस तरह भी अनुमान कर लो। जब किसी कामी पुरुषको कामविषयक वासनाका विकल्प चलता है तो उसे जात कुजात अथवा किसी ही वर्णका रूप हो, सब सुन्दर और रमणीक जचता है, और यही उपयोग जब ज्ञानवासनाको लिए हुए हो और यह अंत. प्रसन्नता धार्मिक जग रही हो तो सुन्दरसे भी सुन्दर रूप हाड मॉसका पिञ्जर है, यह इस प्रकार दीखा करता है। और भी दृष्टान्त देखो—जब भोजन करनेमे आसक्तिका परिणाम हो रहा हो उस समय भोजन कितना स्वादिष्ट और सरस सुखदायी मालूम होता है ? जब उपयोग बदला हो, किसी बाह्य विकल्पमे फसा हो या कोई बडी हानिका प्रसग आया हो जिससे चिन्तामग्न हो तो उस कालमे वह भोजन ऐसा सरस स्वादिष्ट नही प्रतीत होता है। क्योकि उपयोग दूसरी जगह है। ज्ञानी सतका उपयोग इस सहज ज्ञानस्वरूपके अनुभवसे निर्मल हुआ है, उसे यो सुलभ विषय भी रुचिकर नही होते है। यह बात युक्त ही है कि अधिक आनन्द मिल जाय तो हीन आनन्दकी कोई चाह नही करता है।

मोहीकी अस्थिरता—इस मोही जीवको विषय-साधनोमे रमनेके कारण शुद्ध आनद नही मिला है इसलिए किसी भी विषयको भोगकर तृप्त नही हो पाते। तृप्त न होनेके कारण किसी अन्य विषयमे अपना उपयोग फिर भटकने लगता है। पचेन्द्रियके विषय और एक मनका विषय। इन ६ विषयोमे से किसी भी एक विषयमे ही रत हो जाय, यह भी नही हो पाता है।

मोहोन्मत्तका विषयपरिवर्तन—किसीको यदि स्पर्शनका विषय प्रिय है, काम मैथुन का विषय प्रिय है तो फिर रहा आये न घटो उसी प्रसगमे, पर कोई रह नही पाता है। अतृप्ति हो जाती है, तब तृप्तिके लिये अन्य विषय खोजने लगता है। किसीको भोजन ही स्वादिष्ट लगा हो तो वह करता ही रहे भोजन, लेकिन नही कर पाता है फिर दूसरे विषय की याद हो जाती है। किसीको कोई मनका विषय रुच रहा है, यश, पोजीशन, बडप्पन रुच रहा है तो इस विषयके बडप्पनमे ही रहे, फिर बदल-बदलकर नये-नये विषयोमे यश बढानेका क्यो यह जीव यत्न करता है ? मोही जीवको कही भी तृप्ति नही है। तृप्तिका काम ही नही है। अज्ञान हो और वहाँ सतोष आ जाय यह कभी हो नही सकता। सतोषके

मार्गसे ही संतोष मिलेगा। जिन अज्ञानी पुरुषके उपयोगमे भेदविज्ञानके प्रतापसे यह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप परमतत्त्व समाया है उन्हे ये सुलभ विषय भी रुचिकर नही होते है।

विषयसाधनोंकी पराधीनता, विनश्वरता व दुःखमयता—ये विषयभोग प्रथम तो पराधीन है। जिस विषयकी चाहकी जाती है उस विषयमे स्वाधीनता नही है। कितने पराधीन है ये विषयोके साधन, और यह आत्माका आनन्दमयी स्वरूप जिसको हमे ही देखना है, हमारा ही स्वरूप है, जिसके देखने वाले भी हम हैं, और जिसे देखना है वह भी शाश्वत हममे विराजमान है फिर वहाँ किस बातकी आधीनता है ? यह आत्महितका कार्य स्वाधीन है। जो स्वाधीन कार्य है उसके झुकावमे विकृति नही रहती है और जो पराधीन कार्य है उसकी निरन्तर वाञ्छा बनी रहती है। ये समस्त विषयभोग पराधीन है। पराधीन ही रहे इतना ही ऐब नही किन्तु ये नष्ट हो जाते है। ऐसा भी नही है कि ये विषय सदैव बने रहे। ये मायामय है, कुछ ही समय बाद ये नष्ट हो जाते है। पराधीन है और नष्ट हो जाते है। वे रहे आये पराधीन व विनाशीक, तो भी मोही यह मान लेगा कि हम तो जब तक विषय मिलें उन विषयोमे ही सनते रहेगे, चापलूसी करते रहेगे। वे अंत सहित भी सही, पर जब तक है तब तक तो मौज मिल जायगी। सो इतना भी नही है। जितने काल विषयोका समागम है उतने काल भी बीच-बीचमे दुखके ही कारण होते रहते है।

वक्तव्य एक प्रसंगकी भूमिका— पुराणमे एक कथानक पढा होगा, आदिनाथ भगवान के पूर्व भवोमे जब वज्रजघका भव था तो उनकी स्त्री श्रीमती हुई, और श्रीमतीका विवाह जब न हुआ था तब उस श्रीमती कन्याने देखा कि कबूतर और कबूतरी परस्परमे रम रहे है, इतना देखकर उसे कुछ जाति स्मरण हुआ। श्रीमती पहिले भवमे देवी थी और वज्रजघ ललितांग देव था। उस जातिस्मरणमे उसे पिछले मौजोकी सुध आयी और ललितांग देव का स्मरण हुआ तो उसने यह प्रतिज्ञा की कि वही जीव यदि मनुष्य भवमे हो और सुयोग हो तो विवाह करूँगी अन्यथा न करूँगी। अब पता कैसे लगे कि कौन है वह मनुष्य जो ललितांग देव था। श्रीमतीको जातिस्मरण हुआ और उसे देवके समयकी एक घटना भी चित्तमे बसायी, सो चित्रपटमे अनेक घटनाएँ लिखी व वह विशिष्ट घटना भी लिखी और कितनी ही परीक्षाके लिए झूठी घटनाएँ भी लिखी। तो पहिले समयमे ऐसी प्रथा थी। उस चित्रावली को मन्दिरके द्वारपर रख दिया गया और एक भाईके सुपुर्द कर दिया गया। उस चित्रावलीमे कुछ पहेली बनी हुई थी, ताकि जो शंकावोका समाधान कर दे, उसे समझ ले कि यह ही वास्तवमे पूर्वभवका पति था। बहुतसे मनुष्य आये, झूठे कपटी भी आए और कुछसे कुछ बताकर अपना रौब जमाने लगे, पर किसीकी दाल न गली।

देवगतिमें कामलीलाका एक प्रसंग—वज्रजंघ स्वयं एक बार वहाँसे निकला और

चित्रावलीको देखा तो एक चित्र वहाँ ऐसा था कि ललितागदेवके सिरमे देवी ने जो लात मारी थी उसका दाग बना था। उसको देखकर उसे भी स्मरण हो आया और वह प्रेम एव वियोगकी पीडासे बेहोश हो गया। होश होने पर धाई ने पूछा तो बताया कि यह चित्त हमारे पूर्वभवके देवके समयकी घटनाका है, वह घटना क्या थी उसको ही बताना है। यह देव जब देवीके साथ यथेष्ट विहार करके रम रहा था तो किसी समय दवी अप्रसन्न हो गयी और उसने अपने पति ललितागदेवके सिरमे लात लगायी थी। जो मनुष्य भवमे अप्रिय घटनाये होती है ऐसी अप्रिय घटनाये देवगतिमे भी हुआ करती है। जब स्वय चित्त विषयवासनासे व्याकुल है तो वहाँ बाह्य पदार्थ भी रमणीक लगते है और वहाँ अनेक उपद्रव सहने पडते है जब चित्त ज्ञानमे है तो फिर ये बाह्य पदार्थ उसे रम्य नही मालूम होते है।

ज्ञानीका चिन्तन और यत्न—विचार कर रहे है ज्ञानी पुरुष कि ये भोग पराधीन है, मिटने है और जब तक भी विषय भोग बन रहे है तब तक भी दुःख बराबर चलता रहता है। और फिर इसमे नफा क्या मिलता है, केवल पापोका बध होता है। ऐसे सुखमे ज्ञानियोके आदरबुद्धि नही होती है। तत्त्वज्ञानमे ज्यो ज्यो समाया जाता है त्यो-त्यो ये सर्व विषय सुलभ भी हो तो भी रुचिकर नही मालूम होते। जैसे सूखी जमीन मछलियोके प्राणोका घात करने वाली है और उन मछलियोको आग मिल जाय तो फिर उन मछलियो के भवितव्यकी बात ही क्या कही जाय ? तुरन्त मछलियाँ अग्निमे मृत्युको प्राप्त हो जाती है। ऐसे ही जिनका चित्त कामवासनासे भरा है वे स्वय व्याकुल है और फिर कामका कोई आश्रय मिले, विषय भोगके साधन मिले और अन्य साधन नोकर्म जुट जाये तो उनके मन, वचन, काय सब कुत्सित हो जाते है किन्तु जिनका चित्त समता रससे सम्पन्न है, जो अपने शुद्ध ज्ञानके अनुभवका आनन्द लूट रहे है वे महीने-महीने तकके लिए भी आहार आदिक का त्याग कर देते है। जो पुरुष अपने आत्मकल्याणके लिए जान-जानकर इन विषयोका परित्याग करते है वे विषय सुखोको कैसे उपादेय मान सकते है ? अहो ! जीवनमे एक बार भी यदि समस्त प्रकारके विकल्प त्यागकर, परम विश्राममे रहकर अपने सहज आनन्द निधिका स्वाद आ जाय तो इस जीवके सर्वसकट मिट जायेगे।

आत्महितके लिये जीवनका निर्णय—यह जगत मायारूप एक गोरखधधा है, भटकाने और भुलाने वाला है। यहाँ यह मोही स्वय भी कायर है और वातावरण भी उसे दुष्ट मिल जाय, ऐसा खोटा मिल जाय कि यह अपने इन्द्रियको काबूमे ही न रख सके ऐसे प्राणियोको तो बडा अनिष्ट ही है। अनादि कालसे भूल भटककर इस मनुष्यभवमे आये, अब सुन्दर अवसर मिला, प्रतिभा मिली, क्षयोपशम अच्छा है। कर्मोका उदय भी है,

आजीविकाके साधन भी सबके ठीक है, ऐसे अवसरमे अब तृष्णाका परित्याग करके आत्म-हितके लिए अपना उद्योग करे। जरा विचारो तो, लखपति हो गए तो करोडपति होनेकी चाह, करोडपति हो गए तो अरबपति होनेकी चाह, यो चाहका कभी अन्त ही नही आता है। चाहका अन्त ज्ञानमे ही आता है। वस्तुके समागमसे चाहका अत नही होता है। जीवन चलानेके लिए तो दो रोटियोका साधन चाहिए और ठंढ गर्मीसे बचनेके लिए दो कपडोका साधन चाहिए।

वस्तुस्वरूपकी समझमें चिन्ताका अनवकाश—भैया! कुछ यह चिन्ता हो सकती है गृहस्थी है इसलिए उसकी सभालके लिए कुछ तो विशेष चाहिए। वे सब तो अपना-अपना भाग्य लेकर आये है, सो सब उदयानुकूल थोडेसे यत्नसे काम हो जाता है और फिर ज्ञान है तो इस बातके लिए तैयार रहना चाहिए कि कैसी भी स्थिति हो, हम उसमे भी अपना हिसाब बना सकते है, पर जीवन हमारा केवल धर्मके लिए ही है। इतना साहस हो तो विनाशीक इस जीवनसे अविनाशी पदका काम पाया जा सकता है। जो मिट जाने वाली वस्तु है उसका ऐसा उपयोग बन जाय कि न मिट जाने वाली चीज मिले तो इससे बढकर और हिकमत क्या हो सकती है? ज्ञानी पुरुष पचेन्द्रियके विषय साधनोको सर्वथा हेय समझते है। ये ज्ञानी योगीश्वर आत्मस्वरूपके सुगम परिज्ञानी है। जरा सी दृष्टि फेकी कि वह कारणसमयसार उनकी दृष्टिमे समक्ष है। जो ऐसे ज्ञानके अनुभवका निरन्तर स्वाद ले रहे है उनको इन विषयोसे क्या प्रयोजन है?

तत्त्वज्ञकी निष्कामता—जैसे रोगसे प्रेरित रोगी पुरुष रोगका इलाज करता हुआ भी रोगको नही चाहता और इलाजको भी नही चाहता। कोई बीमार पुरुष दवा पीता है तो दवा पीते रहनेके लिए नही दवा पीता है, किन्तु दवा न पीना पडे, इसके लिए दवा पीता है। इस रोगीके दिलसे पूछो, रोगी तो प्राय. सभी हुए होगे। तो सभी अपने-अपने दिलसे पूछो, क्या दवा पीते रहनेके लिए दवा पी जाती है? दवा तो दवा न पीना पडे इसके ही लिए पी जाती है। ऐसे ही यहाँ निरखिये ज्ञानियोकी महिमाका कौन वर्णन करे, प्रवृत्ति एकसी है ज्ञानीकी और अज्ञानीकी। इस कारण कोई नही बता सकता है कि इनके चित्तमे वास्तविक उद्देश्य क्या है? लोग तो प्रवृत्ति देखकर यह जानेगे कि यह तो रागी है, विषयोका रुचिया है, किन्तु घरमे रह रहा ज्ञानी, विषय प्रसगमे आ रहा ज्ञानी, उसकी इन व्यवस्थावोको ज्ञानी पुरुष ही जानता है। अज्ञानी नही जान सकता है। चारित्र मोह का एक ऐसा प्रबल उदय है, उससे इसे कषायोंकी पीडा हुई है। अब वह कर्मजन्य कार्यो को कर रहा है किन्तु उन प्रवृत्तियोसे यह पुरुष उदास ही है। जिसे तत्त्व ही रुच रहा है और तत्त्वज्ञानसे सहज आनन्द मिल गया है उसके विषयोमे प्रीति कैसे हो सकती है? भैया!

इसी सहज शुद्ध आनन्दके पानेका अपना यत्न हो और हम अधिकसे अधिक ज्ञानके अभ्यास मे समय दे, यह एक अपना निर्णय बनाएँ।

यथा यथा न रोचन्ते विषया: सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥

विषयोंकी अरुचिमें ज्ञानप्रकाशकी वृद्धि—ज्यो-ज्यो सुलभ भी विषय रुचिकर नही होते है त्यो त्यो यह आत्माका शुद्ध तत्त्व ज्ञानमे विकसित होता रहता है। जब तक इन्द्रिय के भोगोमे रुचि रहती है तब तक इस जीवके ज्ञान नही समा सकता है, क्योकि ये भोग विषय ज्ञानके विपरीत है। जैसे कोई उल्टी दिशामे चले तो इष्ट स्थानमे वह नही पहुच सकता है। मान लो जाना तो है इटावा और रास्ता चला जाय करहलकी ओर तो इटावा कैसे मिल सकता है ? ऐसे ही विषयभोगोकी गैलमे तो चले और चाहे कि मुझे प्रभुदर्शन, आत्मानुभव, उत्तम तत्त्वका प्रकाश हो जाय तो कैसे हो सकता है ? जब तक भोगोकी रुचि न हटे तब तक ज्ञानप्रकाश न होगा। सभी भोग झूठे है, असार है। भोगोसे आत्मा को सतोष होता हो तो बतावो। स्पर्शन इन्द्रियका विषय काम बाधा विषयक प्रसग, इनसे आत्माको क्या लाभ मिलता है ?

भोगोंसे अतृप्ति—कोई गृहस्थ जिसके ज्ञानप्रकाश नही हुआ है, वैराग्य नही हुआ है, क्या वह यह हठ कर सकता है कि मै आज विषय भोगूं, इसके बाद फिर मैं कल्पना भी न रक्खूंगा। ज्यो-ज्यो यह भोगता है त्यो-त्यो इसकी कल्पना बढती है। क्या कोई ऐसा सोच सकता है कि आज मैं बहुत मीठी चीज खा लूं फिर कलसे मै इस चीज की तरफ ध्यान ही न दूंगा, ऐसा कोई कर सकता है क्या ? कोई भोगोको भोगकर चाहे कि मै तृप्त होऊँ तो यह नही हो सकता है। भोगोके त्यागसे ही तृप्ति हो सकती है, भोगोके भोगनेसे कभी तृप्ति नही हो सकती है। जैसे अग्निमे जितना ईंधन डालते जावो उतनी ही अग्नि बढती जायगी, अग्नि कभी ईंधनसे तृप्त न होगी, इसी तरह जितना विषय भोग भोगो उतना ही भोगोसे अतृप्ति बढती जायगी, उनसे कभी सतोष न होगा। जैसे समुद्रमे जितनी नदियाँ मिलती जायेगी उतना ही समुद्रका रूप बढता जायगा। समुद्र कभी यह न कहेगा कि मैं सन्तुष्ट हो गया हूं, मुझे अब नदियाँ न चाहिएँ अथवा ऐसे ही चाहे ईंधनसे अग्नि तृप्त हो जाय, सूर्य पूरबके बजाय पश्चिममे ऊगे, कमल चाहे पत्थर पर पैदा हो जाये, पर भोग भोगनेसे कभी तृप्ति नही हो सकती। जिसे भी सतोष मिलेगा त्यागसे ही मिलेगा।

कल्याणमें तत्त्वज्ञानका विशिष्ट सहयोग—ज्यो-ज्यो सुलभ भी विषय रुचिकर नही होते है त्यो-त्यो ज्ञानप्रकाश बढता है। जो परिश्रम करके विषय साधन जुटाय जाएँ उस

की भी बात नही कह रहे, सुलभ अपने आप सामने हाजिर हो जाएँ भोगके साधन और फिर भी उनमे रुचि न जगे तो वहाँ ज्ञानप्रकाश बना है। जिसने अपने आत्माके ज्ञानानन्द स्वरूप का सम्वेदन किया है, जो अपने ज्ञानामृत रसका रुचिया है वह बाह्य पदार्थोंमे उदासीन रहता है। इन समस्त समागमोको भिन्न और विनाशीक जानता है। यह भी बडी साधना है। तुमसे गृहस्थी छोडते न बने, न छोडो, पर इतना ज्ञान तो बनाए रहो कि ये सब भिन्न है, नियमसे नष्ट होगे, इनका वियोग जरूर होगा, ऐसी बात हो तो मान लो और न हो तो मत मानो। यह निर्णय कर लो कि जितने भी जिसे समागम मिले है वे समागम उसके सगमे जायेगे क्या ? कुछ भी तो न जायगा।

स्वपरभेदविज्ञानका बल—हम आपका कुछ भी यहाँ नही है, शरीर तक तो अपना है नही, फिर धन दौलत और घर मकानकी तो कौन कहे ? शरीरमे यद्यपि यह जीव रह रहा है तो भी शरीरके स्वक्षेत्रमे शरीर है, शरीरके परमाणुवोमे शरीर है, वह आत्माका स्वरूप नही बन जाता है और जीवके स्वरूपमे जीव है वह शरीर नही बन जाता। तो जब शरीरमे भी यह आत्मा नही है अर्थात् शरीररूप नही बन पाता यह तो अन्यरूप तो बनेगा ही क्या ? ये सब पदार्थ समागम भिन्न है कि नही ? यदि समझमे आ गया हो कि वास्तवमे मेरे आत्माको छोडकर, ज्ञानानन्दस्वरूपको तजकर जो कुछ भी यहाँ दिख रहा है और मिल रहा है ये भिन्न है, ऐसा ज्ञान हो गया हो तो आप फिर धर्म कर भी सकते है और यदि ज्ञान ऐसा नही बना है तो पहिले यही ज्ञान बनावो, निर्णय कर लो, थोडासा भी विचार करने पर एकदम स्पष्ट हो जाता है कि ये अत्यन्त भिन्न है। तो बस मान लो ऐसा कि सारे समागम मुझसे अत्यन्त भिन्न है, मेरा उनमे कुछ नही है। क्या ये समागम तुम्हारे साथ अनन्तकाल तक रहेगे या १००, ५० वर्ष तक भी रहेगे, ऐसी कुछ भी उम्मीद है क्या ? कुछ भी तो उम्मीद नही है। तो ये सब समागम बिछुडेगे कि नही ? मनसे उत्तर दो। अगर बिछुडेगे यह बात हृदयमे जम गयी है तो इतना मान लो।

समागमकी भिन्नता व विनश्वरताके परिज्ञानका प्रताप—कोई पुरुष यदि इन दो बातोको हृदयसे मान लेता है कि जो भी समागम है—मकान, परिवार, सम्पदा ये सब भिन्न है और ये कभी न कभी बिछुडेगे, इतनी बात यदि हृदयमे घर कर गयी हो तो वह धर्मात्मा पुरुष है और मानता हो कि ये तो मेरे ही है, न्यारे कहाँ है, अथवा ये तो मेरे ही साथ रहेगे कैसे बिछुड सकते है, ऐसी मिथ्या प्रतीति हो तो अभी धर्म करनेकी योग्यता नही है, यह सब पहिली बात है। जिसे धर्म करना हो उसको सबसे पहिले ये दो निर्णय बनाने चाहिएँ। कोई पुरुष ज्यादा शास्त्र नही जानता है, भाषाएँ नही सीखा है, अथवा उपदेश किए गए विषयोको नही समझ पाता है, न समझ पाये, लेकिन उसे यदि इन दो बातोका पक्का

श्रद्धान है कि मेरा तो यह शरीर भी नही है। मेरा तो मात्र मै एक ज्ञानप्रकाश मात्र आत्मा हू और ये सब भिन्न चीजे है, दूसरी जगह पडी है, मेरेमे मिली हुई तक भी नही है और ये सब विनाशीक है, इतना भी भान हो तो भी शान्तिका मार्ग मिल जायगा।

सकटमोचक सहज अनुभव—एक बार भी तो यह हिम्मत बनालो कि इन भिन्न पदार्थोंके सजानेसे, अपने हृदयमे इन सब पदार्थो को रखनेसे अब तक आकुलता ही पायी है। मै अब इन किन्ही भी पदार्थोंको मनमे नही रखना चाहता हू। अपने उपयोगमे किसी भी बाह्य पदार्थको न ले तो सहज आराम बन जायगा। उस विश्राममे जो शुद्ध ज्ञानप्रकाशका अनुभव होगा यही अनुभव ससारके सकटो से दूर कर देगा। ऐसा होनेके लिए ये दो बातें निर्णयमे होनी चाहिएँ (१) समस्त भोगोके साधन भिन्न है और (२) ये नियमसे बिछुडेगे, इतने ज्ञानपर भी वैराग्य होना सम्भव है और सुलभ विषय भी उसे रुचिकर न होगे। यह बात केवल साधुवोकी नही कही जा रही है, यह तो सज्ञी जीवोकी बात कही जा रही है। जो भी सज्ञी जीव है मन सहित यावन्मात्र मनुष्य अथवा पशु पक्षी तक भी उनके यदि ये विषय रुचिकर नही हो रहे है, श्रद्धामे उनसे हित नही माना है तो उन सबके यह उत्तम तत्त्वज्ञान प्रकाश आनन्दस्वरूप अनुभवमे आ जायगा. और जब यह अपना परमात्मा अपने अनुभवमे आ जाय तो उसके सब कर्म और सकट नष्ट हो जायेगे। इतनी बडी कल्याणकी पदवी पानेकी मनमे इच्छा हो तो व्रत, नियम, सयम कुछ न कुछ अवश्य ही करना चाहिए। उनमे सुलभ विषयोकी भी इच्छा न रहेगी जो तत्त्वज्ञान करेंगे।

भोगोमे अतृप्ति, तृष्णा व बलक्षयका ऐब—इन भोगोके भोगनेमे यह बडा ऐब है कि ये भोग आगामी कालमे तृष्णाको बढाते है, सतोष नही पैदा करते। भोग भोगनेके बाद भोगने लायक नही रहते, इस कारण भोगोका त्याग करना पडता है, मगर तृष्णावान जीव त्याग कहाँ करना चाहते है? जैसे भोजन किया जाता है, कोई आसक्त होकर भी भोजन करे तो उसे भोजन छोड देना पडेगा, भोजन करता ही जाय ऐसा नही हो सकता। उसने जो भोजन छोडा तो क्या ज्ञान और वैराग्यके कारण छोडा? अरे अब पेटमे समाता ही नही है इसलिए छोडना पडा। ऐसी ही समस्त विषयोकी बातें है। किसी भी विषयको यह मोही जीव त्यागता है तो क्या ज्ञान और वैराग्यसे त्यागता है? भोग भोगनेके बाद फिर भोग भोगने लायक नही रहता, यह इस कारण इसे त्यागना पडता है। खूब इत्र फुलेल आदि सुगधित चीजे सूँघते रहनेके बाद वह कुछ समयको छोड देता है क्योकि कहाँ तक सूँघता रहे। भोग भोगनेमे श्रम तो होता ही है। बिना राग, बिना प्रवृत्ति और बिना परिश्रमके कोई सा भी भोग नही भोगा जाता, उसको तो त्यागना ही पडता है।

विषयोमे ऊब—किसी सुन्दर रूपको निहारते रहो, सनीमा, थियेटर अथवा कोई

सुरूप स्त्री, सुरूप पुरुष, किसीको भी निहारते रहो तो कहाँ तक निहारते रहोगे, आखिर पलक बद ही करना पडेगा और अपना अलग रास्ता नापना ही पडेगा। तो उस मोही जीवने जो देखनेका विषय छोडा है वह क्या ज्ञान और वैराग्यके कारण छोडा है ? अरे छोडना पडा है, छोडना नही चाहता है। ऐसे ही मानो रातके १० बजे से खूब सगीत गायन सुना, नाच देखा धीरे धीरे चार बज गए। आखिर उसको छोडकर तो जाना ही पडता है। ऐसा तो है नही कि कोई ५-७ दिन तक लगातार नाच गायनमे बैठा रहे। नाच गायन खूब देखने सुननेके बाद अब उसमे शक्ति नही रही कि ऐसे ही देखता सुनता जाय, इस कारण उसे छोडना पडता है। तो ये भोग अतृप्ति ही पैदा करते है। कोई मनसे इन भोगोकी छोड नही पाता है और जहाँ भोग विषयोमे ऐसी आकाक्षा बन रही है वहाँ यह ज्ञानप्रकाश अपने अनुभवमे नही आ सकता है।

अन्तर्मिलनमे प्रभुमिलन—लोग भगवानके दर्शन करने को हैरान होते है। प्रथम तो इस मोही जीवोको भगवानकी बात ही नही सुहाती, भगवान है भी कोई या नही, उसके स्वरूपका भान नही होता, और कोई भाव करता है तो भगवानके नातेसे नही करता, किन्तु मेरे घरके बच्चे खुश रहे, सुखी रहे, मेरे धन खूब बढता रहे इस स्वार्थके नातेसे भगवानकी सुध लेता है क्योकि सुन रक्खा है ना कि भगवान सबको सब कुछ देता है। भगवानकी सुध लेना ही बडा कठिन है और कदाचित किसीको सुध आए और भगवानसे मिलने की अतरगमे उमग भी करे, लेकिन वह अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरमे कही भगवानको ढूँढ़ा करे तो क्या भगवान मिल जायगा ? आँखें तानकर, आसमानमे देखकर या किसी ओर दृष्टि देकर प्रभुसे कोई मिलना चाहे तो नही मिल सकता है, प्रभुका दर्शन करना चाहे तो नही कर सकता है। हाँ अपने ही आत्मामे जो शाश्वत बिराजमान स्वरूप है, चैतन्यभाव है उस चैतन्यस्वरूप पर दृष्टि दे तो उसके दर्शनमे प्रभुता का दर्शन हो जायगा, किन्तु इतनी कठिन बात उस पुरुष मे कैसे आ सकती है जो व्यसनोका लोभी है, पापोको छोडना नही चाहता, मोहमे पगा है, ऐसे पुरुषको प्रभुका दर्शन नही हो पाता है।

ज्ञानप्रकाशमे विषयोकी अरुचिका विशिष्ट सहयोग—जैसे-जैसे सुलभ विषय भी, भोग साधन भी रुचिकर नही मालूम होते वैसे ही वैसे इस ज्ञानमे यह उत्तम तत्त्व समाता जाता है। इससे पहिले श्लोकमे यह कहा था कि ज्यो-ज्यो ज्ञानस्वरूप ज्ञानमे आता रहता है त्यो त्यो सुलभ भी विषय रुचिकर नही होते। वहाँ यह शका होना स्वाभाविक है कि इसका भी कुछ उपाय है कि ज्ञानमे यह उत्तम अतस्तत्त्व समाता जाय। उसके उत्तरमे दूसरे श्लोक मे यह कहा है कि ये सुलभ विषय भी जब जीवोको रुचिकर न लगे, इन विषयोमे प्रीति न जगे तो वह योग्यता आ सकती है कि ज्ञानमे यह उत्तम तत्त्व प्रकाश पाये। इन्द्रियके विषयो

से वैराग्य होवे तो आत्माका यह विशुद्ध स्वरूप अनुभवमे आने लगता है। भोगनेके बाद तो कुछ विवेक बनता है कि अरे न भोगते भोग तो क्या था, बडा सुरक्षित रहना। जब ज्यादा पेटभर जाता है, कुछ अडचन भी होने लगती है अथवा कोई उदर विकार हो जाता है तो वह सोचता है कि मैने बडी चूक की, अधिक चीज खा ली, अगर न खाते तो कुछ भी नुक्सान न था। यह कष्ट तो न होता जिसके दर्दके मारे यह बेचैनी हो रही है। तो भोग भोगनेके बाद फिर सुध आती है। यह कुछ यद्यपि जघन्य ज्ञानकी बात है, लेकिन भोगनेके बाद भी यदि यथार्थ रूपमे सुध आ जाय तो वह भी भली बात है। मोही प्राणियोको तो केवल विषय भोग, इन्द्रियविषयोके साधन जोडना धन कमाना--ये ही सब रुचिकर लग रहे है। इन विषयोकी प्रीति तो स्वात्माके अनुभवमे बाधक है। यह सभी विषयो की चाह और परिग्रहो की मूर्छा हट जाये तो आत्मा आनन्दका स्वाद लेने लगता है।

व्यर्थके कोलाहलसे अलाभ---हे आत्मन्! व्यर्थके कोलाहलसे क्या लाभ पा लोगे? दूसरे जीवोसे प्रीति बढाना और दूसरोका भार अनुभव करना, दूसरोके लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करना ये सब व्यर्थके कोलाहल है, इनमे मिलता कुछ नही है, आखिर मरना सबको पडता है। मरनेके बाद भी इस जीवको यहाँके कामोसे कुछ लाभ मिले तो बतावो। जो जीव चला गया यहाँसे तो लोग शरीर को तुरन्त जलानेका यत्न करते है। भले ही कभी किसी बूढेके मर जानेपर बहुत बडा विमान सजाया जाय, शख बजाया, पर अब उस आत्माके लिए क्या है? उसने तो अपने जीवनमे जैसा परिणाम बनाया उसके अनुकूल कोई गति पा ली। अब कुछ भी करो तो उस जीवको क्या लाभ है? उसे तो उतना ही लाभ है जितना कि उसने अपनी जिन्दगीमे दया, दान, शील, उपकार, सयम कुछ सदाचार पालन किया, बाकी क्या लाभ हो सकता है?

बहकावेका ज्ञानीपर अप्रभाव---किसीके मरनेपर उसका श्राद्ध करनेसे उस मरे हुए जीवको शान्ति मिलेगी ऐसा बहका कर लोगोने अपनी आजीविका बनायी है। साल भर बाद उसी दिन इतने लोगोको खिलावोगे, इतनी इतनी चीजे गगा यमुनाके किनारे बैठे किसी नियत पुरुषको पूज्य मानकर दे दोगे तो इतनी चीजे उस मरे हुए पुरुषके पास पहुचा देगे---ऐसा भ्रम डाल देते है। यह सब आजीविकाका साधन है दूसरोका। जो मर चुका है उसके पास कैसे क्या पहुच जायगा। तुम जो करोगे सो तुम्हारे साथ रहेगा। उन पुरुषोने जो किया सो उन पुरुषोके साथ जायगा। अपने आपकी सुध लो, अपने आपको सम्हालो, व्यर्थके कोलाहलसे क्या प्रयोजन? जरा कुछ विश्राम लेकर अपने आपमे देखो तो सही इन समस्त समागमोसे भिन्न कोई तेज स्वयमे है अथवा नही। सब प्रकट हो जायगा।

भोगत्यागकी प्राथमिकता---भैया! यदि शान्तिकी चाह है तो आपको त्यागना पडेगा

विपयोको । भोगोके त्यागे बिना ज्ञान प्रकाश मिल जाय, ऐसा कभी नही हो सकता । इस कारण जो आत्मस्वरूपके अनुभवके अनुयायी है उन्हे चाहिए कि विषयोको, ठाठबाटोको, समागमोको भिन्न, असार, हेय जानकर उनकी ओरसे उपेक्षा करे, और एकात स्थानमे बैठकर अपने आपमे अपनेको एकाग्र कर ले । इस विधिसे यदि हमारा ज्ञानप्रकाश बढेगा तो भोग अरुचिकर लगेंगे और यह ज्ञानका अनुभव ही रुचेगा । सब असार है, हेय है, एक अपना आत्मा ही सार है, उसको जानो यही धर्म है । बतावो धर्ममे कहा मजहब है ? यह अमुक धर्म है, यह अमुक धर्म है ऐसा मजहबोका कहा भेद है ? आत्मा जब एकस्वरूप है तो धर्म भी एक स्वरूप है । आत्माका धर्म आत्मामे मिलेगा अन्यत्र न मिलेगा, सो अपने आत्मस्वरूपको सम्हालना यही एक धर्म है और इस धर्मके पालनसे संसारके सकट नियमसे कटेंगे । एक सारभूत बात यहा कही है कि ऐसा ज्ञान बढावो कि आपको भोग विषय भी रुचिकर न लगे ।

निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपम जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९॥

जगत्की इन्द्रजालोपमता—भोगी जन इस समस्त जगतको इन्द्रजालकी तरह समझकर इसे दूर करते है और आत्माकी प्राप्तिके लिए स्पृहा रखते तथा आत्मलाभके सिवाय अन्य किसी भावमे उपयोग कुछ चला जाय तो उसका बडा पछतावा करते है । इस श्लोकमे तीन बातोपर प्रकाश डाला है, प्रथम तो इस समस्त जगतको इन्द्रजालकी तरह निरखना है, इन्द्रजालका क्या अर्थ है ? लोकमे तो ऐसी रूढि है कि जैसे कोई तमाशगीर चीज तो कुछ नही है और लोगोको दिखाये, उसको इन्द्रजाल मानते है, यह भी अर्थ लगा लो तो भी कुछ हानि नही है, क्योकि जो कुछ दीखता है वह परमार्थमे ऐसा है ही नही, और मोही जीवको यही परमार्थ और सत्य नजर आता है, इस कारण यह भी अर्थ ले लो, पर इसका वास्तविक अर्थ यहहै कि जो कुछ यहा दृश्यमान है यह सब इन्द्रका जाल है । इन्द्र मायने आत्मा । उस आत्माकी विकार अवस्था होनेसे जो कुछ परिणमन होता है उससे जो कुछ यह सारा जाल बिछा हुआ है यह इन्द्रजाल है । अलकार न लेना कि यह आमूल इन्द्रजाल ही है यह सब कुछ । यह आत्माका जाल है ।

इन्द्रका जाल—यह प्रभु जो अनादि अनन्त अहेतुक अन्त प्रकाशभाव है, प्रत्येक जीव मे विराजमान है । जीवोका जो स्वभाव है वही तो प्रभु है । वह प्रभु पर्यायमे जकडा है, विकृत होकर जब यह अपनी जाल फैलाता है तो इसका जाल भी बडा विकट है । यह प्रभु इतना समर्थ है कि सुधारका भी बडा विकट चमत्कार दिखाता है और विकारका भी बडा विकट चमत्कार दिखाता है । कोई वैज्ञानिक किसी भी प्रकार ऐसा इन्द्रजाल बना तो दे । उसमे इतनी सामर्थ्य नही है । भले ही वह अजीव पदार्थोको परस्परमे सम्बद्ध करके एक निमित्त-

नैमित्तिक पद्धतिमे कुछ असर दिखा दे किन्तु इन्द्रजाल नही बना सकता हे । तो यह योगी सर्वत्र इन्द्रजाल देखता है, इन्द्रका स्वरूप नही है यह, किन्तु इन्द्रका जाल है, इसी कारण वह किसी भी इन्द्रजालमे रमता नही है ।

विषयसाधनोकी जलबुद्‌बुदसम असारता––भैया ! इस लोकमे रमण करने योग्य क्या है ? जो कुछ है वह सब जलके बुद्‌बुदेकी तरह चचल है, विनाशीक है, कुछ ही क्षण बाद मिट जाने वाला है । जैसे जलका बबूला देर तक ठहरे तो उस पर बच्चे लोग बडे खुश होते हैं, और शानके साथ किसी बबूलेको अपना मानकर हर्षके साथ कहते है देखो मेरा बबूला अब तक ठहरा है । बरषातके दिन है, जब ऊपरसे मकानका पानी गिरता है तो उसमे बबूले पैदा हो जाते है, बच्चे लोग उनमे अपनायत कर लेते है कि यह मेरा बबूला है, कोई लडका कहता है कि यह मेरा बबूला है, अब जिसका बबूला अधिक देर तक टिक जाय वह बच्चा नाच उठता है, मेरा बबूला अब तक बना हुआ है । ऐसे ही यह पर्याय, यह जाल, यह शरीर बबूलेकी तरह है । इन अज्ञानी बच्चोने अपना-अपना बबूला पकड लिया है, यह मेरा बबूला है, यह बबूला कुछ देर तक टिक जाय तो खुश होते है, मेरा बबूला अब तक टिका हुआ है । यो यह योगी पुरुष इन्द्रजालकी तरह समस्त जगतको जान रहा है । यहा किससे प्रीति करे, कौन मेरा सहाय है, किसका शरण गहे, जो कुछ भी है वह सब अपने लिए परिणमता है ।

वस्तुमे अभिन्नषट्‌कारकता––भैया ! यह लोक अपना ही स्वार्थ साधता है, इसमे गाली देनेकी गुन्जायश नही है, किसीको स्वार्थी आदिक कहनेकी आवश्यकता नही है वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि वह स्वयसे सम्प्रदान हो सकता हे । प्रत्येक पदार्थ स्वय कर्ता है । स्वय कर्म है, स्वय करण है और स्वय ही सम्प्रदान अपादान और अधिकरण भी है अर्थात् पदार्थ परिणमता है, यही तो करने वाला हुआ, और जिस रूप परिणमता है वही इसका कर्म हुआ। अपने ही परिणमनके द्वारा परिणमता है इसलिए यही साधन हुआ और परिणाम करके फल क्या पायगा, किस लिए परिणाम रहा है, वह फल भी स्वय है । किससे परिणमता है, किसमे परिणमता है, सो वह अपादान व अधिकरण भी स्वय है ।

पदार्थके परिणमनका सम्प्रदान––पदार्थके परिणमनेका फल क्या है ? वह फल है सत्ता बनी रहना । प्रत्येक पदार्थके परिणमनका प्रयोजन इतना ही मात्र है और फल इतना ही मिलता है कि उसकी सत्ता बनी रहे, इससे आगे उसका कुछ फल नही हे । यह समझदार है जीव इसलिए इसने बेईमानी मचा रक्खी है । जो समझदार नही है वे पदार्थ अब भी अपने ईमान पर टिके हुए है, वे परिणमते है मात्र अपना सत्त्व रखनेके लिए, किंतु ये विकारी, रागी जीव परिणमते है तो न जाने कितने प्रयोजनोको बनाते है । मैं ससारमे यश बढा लूँ, सम्पदा बढा लूँ, अनेक विषय सुखोंके साधन जुटा लूँ, कितने ही प्रयोजन बनाते है । भले ही

ये कल्पनामे कितने ही प्रयोजन बनाएँ किन्तु एक सत पुरुषकी ओरसे तो प्रयोजन वहीका वही रहता है जो अचेतनको मिलता है, इससे अधिक कुछ नही है। यह जीव ज्ञानरूप परिणमता है तो ज्ञानरूप परिणमनेका फल ज्ञान ही रहता है, इससे अतिरिक्त कुछ फल नही है। जो और कुछ फल खोजा जाता है वह सब मोहका माहात्म्य है। वस्तुत अपकी सत्ता कायम रखनेके लिए ही पदार्थ परिणमन करते है। जैसे यह चाकी है, इसको कोई जला दे तो क्या हो गया इसका ? इसका ही यो परिणमन हो गया। न भी कुछ करे तो भी यह जीर्ण होती जा रही है, परिणमती जा रही है। किसी भी रूप परिणमे, इन परिणमनोका प्रयोजन इतना ही मात्र है कि परमाणुवोकी सत्ता बनी रहे, अब कोई भी चीज किसी भी प्रकार परिणमे उसका प्रयोजन यह मोही जीव अपनी कल्पनाके अनुसार बना लेता है।

योगीकी आत्मस्पृहा—यह समस्त जगत इन्द्रजालकी तरह है। इन सबको यह योगी शान्त कर देता है। इस सारे जगतको यह योगी ओझल कर देता है अपने उपयोगसे। और होता क्या है कि अवकाशमे सर्व पदार्थ ओझल हो जाते है। रहो, किसी प्रकार रहो। अब योगीके लिए यहाँ कुछ भी नही है, यो इन्द्रजालकी तरह इन समस्त पदार्थोको यह ज्ञानी अपने उपयोगसे ओझल कर देता है। अब ज्ञानीके केवल आत्माकी ही स्पृहा रहती है और यह अतस्तत्त्व ही उसके प्रोग्राममे, लिस्टमे रह जाता है। ये योगी केवल आत्मलाभकी स्पृहा करते है। मेरा आत्मा मेरेको मिले, ये भिन्न असार पदार्थ, इनका मिलना जुलना सब खतरेसे भरा हुआ है। कोई रुच गया राग तो क्या वह कुछ बढवारीके लिए है ? कोई अनिष्ट जचा, द्वेष किया वह भी बरबादीके लिए है। मेरा शरण, रक्षक यह मेरा आत्मा मेरेको प्रकट हो, और मुझे कुछ न चाहिए।

आत्मलाभकी आकाक्षा—जैसे कोई जबरदस्त मुसाफिर किसी कमजोर मुसाफिरको दबाकर उसकी हानि कर दे और उसका झगडा बढ़ जाय तो वह कमजोर मुसाफिर यही कहता है कि बस मेरी चीज दिला दो, मुझे और कुछ न चाहिए। वह अपनी माग करता है, यो ही यह बना बनाया गरीब एक बडे फद और विडम्बनामे पड गया है। कहाँ तो यह अमूर्त निर्लेप ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व उत्कृष्ट पदार्थ है और कहाँ यह सुख दुःख पर्याय, कल्पना, शरीर इनमे बँधा फिर रहा है और अपने रागकी जिस विषयमे ममता की है उस विषयके पीछे-पीछे भटकता फिरता है। जैसे बछडे वाली गायको हाकना नही पडता है यदि उसके बछडेको कोई गोदमे लेकर चलता जाय आगे, वह गाय उस बछडेके पीछे-पीछे हीडती भागती चली जायगी। अपनी विपदाको भी वह न देखेगी, ऐसे ही यह मूढ़ात्मा अपने रागका जो विषय बनाता है उस विषयके पीछे यह आत्मा दौडता भागता फिरता है। न अपनी विपदाको देखता है, न अपनी बरबादीका ख्याल है। ऐसा यह मोही जीव ससार-भ्रमणमे गोते लगा रहा है,

किन्तु यह ज्ञानी पुरुष एक आत्मलाभकी ही स्पृहा करता है।

मेरा और मै का निर्देश—मुझे तो मेरा मै चाहिए अन्य कुछ न चाहिए, इस ही का नाम है योग धारण। योग मायने जोड। मेरा मै बिछुडा हुआ हू, इसका जोड कर दीजिए। मेरेको मै मिल जाय यही है योग। जिसको मेरा कहा जा रहा है वह तो है उपयोगके रूपमे और जिसे मै कहा जा रहा है यह है परम पारिणामिक भावमय अतस्तत्त्वके रूपमे। यह उपयोग कह रहा है कि मेरा मै मिल जाय। मेरा जो आधारभूत है जिसपर मेरी स्पृहा चलती है, जिसपर मै अपना चमत्कार दिखा पाता हू, अपना जौहर दिखाया करता हू ऐसा मेरा वह नाथ शरण मुझे मिल जाय यही मेरा नाथ है। न अथ। अथ मायने आदि। जिसकी आदि नही है उसे नाथसे कहते है। यह उपयोग यह परिणमन तो सादि है। जिसकी कुछ आदि हो उसकी क्या वखत करूँ। जिसकी आदि नही है उसकी वखत है। नई फर्म खुली हो किसीके नामपर तो उसका कुछ असर नही होता और पुरानी फर्म हो तो लोग वदलते नही है उसे चाहे पोते और सन्तेमे भी बाँट हो। लोग सोचते है कि पुरानी फर्मका नाम न वदले, नही तो फिर ठिकानेकी सम्भावना नही है। जिसका आदि नही है ऐसा मेरा नाथ वही विश्वासके योग्य है। जिसकी आदि है वह मिट जायगा। ऐसे परिणमनोपर इस ज्ञानीका उपयोग नही थमता है। यह तो एक अतस्तत्त्वके लाभके लिए अपनी स्पृहा करता है।

ज्ञानीका परोपयोगमे अनुताप—यह ज्ञानी योगी अपने आत्ममिलनके लिए उद्यत है फिर भी पूर्व वासनावश उससे डिग जाय और किन्ही बाह्य अर्थोमे लग जाय तो उसे ऐसा पछतावा होता है कि इतने क्षण हमने व्यर्थमे विकल्पोमे लगाये। ज्ञानी जन कभी उपवास करते है तो उस उपवासका उनके लक्ष्य क्या है? उस आहारके प्रसगमे जो पौन घटेका समय लग जाता है उस समयमे जो आत्मतत्त्वसे चिगनेका विकल्प बनता है उसका वे पछतावा करते है। निराहार रहने मे वे खुश है, पर आत्मतत्त्वके उपयोगसे चिगनेमे वे खुश नही है, इसलिए उनका आहार छूट जाता है, वे निराहारी हो जाते है।

अज्ञानसे व्यवहारधर्मसे भी कर्तृत्व बुद्धि—इस आहारत्यागमे धर्म लग जायगा, पुण्य बध जायगा, मुझे उपवास करना चाहिए ऐसा सोचना विकल्पमूलक उपवास है। एक झझट से वचे और अपने आत्मलाभमे लगे ऐसी दृष्टि ज्ञानी पुरुषके होती है। अज्ञानी तो उपवासमे क्षोभ बढाता है, एक दिन पहिले क्षोभ किया, जब उपवास किया तब क्षोभ, किया अतमे क्षोभ किया। किसीने कई उपवास किया तो शरीरके कमजोर होते हुए भी यह कहता है कि भाई हमे तो कुछ भी नही कठिनाई मालूम पड रही है, हम तो बडे अच्छे है, ऐसे मायाचार को बढावे, तृष्णाको बढावे, क्रोधको बढावे, घमडको बढावे, इसी सभी चीजे बढानेका ही वास्तवमे उसने कार्य किया, कुछ अपने हितका कार्य नही किया।

ज्ञानीकी अन्तर्दृष्टि—ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिको ज्ञानी ही कूत सकता है, अज्ञानी नही कूत सकता है। गृहस्थ ज्ञानी यदि यथार्थदृष्टि है तो गोदमे बालकको खिलाकर भी सम्वर और निर्जरा उसके बराबर चलती रहती है। कैसी है उसकी दृष्टि ? बच्चेको खिलाता हुआ भी यह ध्यान बना है कि कहाँ इस झझटमे लग गए है, न जाने अभी कितने वर्ष तक इस झझटमे लगना पडेगा, ऐसी भीतरमे धारणा है उस ज्ञानीके। अज्ञानी तो यो देखेगे कि यह कैसा बच्चो से मोह रखता है। अरे वह बच्चेको खिलाये नही तो क्या गड्ढेमे पटक दे। करना तो पडेगा ही सब कुछ जैसे कि लोग करते है, पर उसकी दृष्टि अतरमे इतनी विशुद्ध है कि उन कामोमे रहकर भी उसके सम्वर और निर्जरा बरावर चलती रहती है। आत्मलाभकी इतनी विकट स्पृहा ज्ञानी पुरुषमे ही होती है।

सजग वैराग्य—जिसको वैराग्य ज्ञानसहित मिल गया है उसका वैराग्य आजीवन ठहरता है। ज्ञानके बिना वैराग्य मुद्रा बनाना, यह तो लोकप्रतिष्ठा, बढ़ावा आदिके लिए है। वैराग्य टिक सकेगा या नही—यह तो ज्ञान और अज्ञान पर निर्भर है। ज्ञान बिना वैराग्यमे विडम्वनाएँ बढ जाती है और वह वैराग्यको नही निभा पाता है और लोग भक्त भी ऊब जाते हैं, यह सब उसके एक अज्ञानका फल है। ज्ञानी पुरुष तो आत्मलाभके लिए स्पृहा रखता है अन्यत्र कहीं उपयोग जाय तो पछतावा करता है, ओह इतना समय मेरा व्यर्थ गया ? ज्ञानी का साहस एक विलक्षण साहस है, और साहस भी क्या है ? जो चीज छूट जायगी उसको अभीसे छूटा हुआ मान लेना है, और छूटा हुआ माननेके कारण उपेक्षा बन जाय और कभी थोडी हानि हो जाय, तो उसका खेद न आए तो इसमे कौनसे साहसकी बात है ? इतना ही फेर रहा कि जो १० वर्षके बाद छूटना था उसको अभीसे छूटा हुआ देख रहे है। इतना ही किया इस ज्ञानीने, और क्या किया, पर मोही पुरुपोकी दृष्टिमे यह बडे साहस भरी बात है।

अज्ञानी और ज्ञानीकी दृष्टिमें साहसका रूप—भैया ! साहस तो अनात्मीय चीजको पानेमे करना पडता है। जो चीज अपनी नहीं है उसे कल्पनामे अपनी बनाना और उसे जोडना, धरना, रक्षा करना इसमे साहस करना पडता है। अपने आपकी वस्तुको अपने आपमे उतारना इसमे कौनसे साहसकी बात है ? लेकिन अज्ञानियोको ज्ञानियोकी करतूतमे बडा साहस मालूम होता है और ज्ञानियोको अज्ञानियोकी करतूतमे बडा साहस मालूम होता है। ज्ञानी सोचता है कि ये ससारी सुभट बडे साहसी है। जिन परिजन, मित्रो और जड सम्पदावोसे इन्हे कष्ट मिलता है उनको सहकर उन्हीके प्रति इच्छा, वाञ्छा और यत्न बनाए रहते है, इतनी हिम्मत तो हमसे नहीं हो सकती, ऐसे ही अज्ञानियोको ज्ञानियोकी क्रियावोमे बडा साहस मालूम होता है। ओह ! ये भोगी जन कैसा इस समस्त जगतको इन्द्रजालकी तरह निरखते है, कितनी इन्हे आत्मस्वरूपके प्रति अभिलाषा है।

जालमें विविधरूपता——जालमे विविधता होती है, और जो जाल नही है, एकत्व है उसमे विविधता नही होती है। जैसे मकडी जाल बनाया करती है तो वह जाल एक लाइनसे नही बनता है। गोल मटोल, लम्बा चौडा, मकरा, नाना दशात्रोरूप होता है—व्यञ्जन पर्याय और एक व्यञ्जन पर्यायमे भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रमे विभिन्न परिणमन पर्याय। यह शरीर एक है, पर पैरमे जो परिणमन है वह सिरमे नही है, किन्तु जो जाल नही है, एकत्व है वहा यह बात न होगी कि जो एक जगह परिणमन है वह दूसरी जगह नही होता। एकत्वमे वही परिणमन सर्वत्र है पर जालमे परिणमनकी एकता नही है, विविधता है, इसी तरह गुण पर्याय का भी जाल देखो—ज्ञान गुण कही पैर पसार रहे है तो श्रद्धा गुण कही मुख कर रहा है। ये समस्त गुण अपनी-अपनी ठफली बजा रहे है, यह है इन्द्रजालका दृश्य, किन्तु एकत्व परिणमन हो तो वहा यह कुछ भी विविधता नही रहती है। जहा रत्नत्रयका एकत्व है वहा तो यह भी पहिचान नही हो पाती कि यह ज्ञानका परिणमन है और यह श्रद्धाका परिणमन है या श्रद्धान आदिका है, वहा तो एक एकत्वका ही अनुभवन है।

इन्द्रजालका अवबोध——यदि किसी कारणवश इन्द्रजालकी ओर रच भी निगाह आती है तो ज्ञानियोको सताप हुआ करता है। जब तक आत्माको अपने असली स्वरूपका परिचय नही है तब तक ये बाह्य पदार्थ भले प्रतीत होते है। जब तक कौवाको यह कोयलका बच्चा है यह पता नही रहता है तब तक ध्यान लगाकर उसकी सेवा करता है। परिचय पड जाय तो उससे हट जाता है। भले ही इस अज्ञानी जीवको ये विषय अच्छे लगते है पर जब स्वपर भेदविज्ञान करके ज्ञानी बने तो ये विषय इन्द्रजालके खेलकी तरह असार मालूम होते है। मिस्मरेजम वाले लोगोकी टोपी उठाकर जब झाडते है तो रुपये खनखनाते हुए गिरते नजर आते है। यदि रुपये यो खनखनाकर गिराते है तो वे सबसे क्यो एक-एक आना मागते है? वह तो एक इन्द्रजालका खेल है। है कुछ नही।

ज्ञानियोकी उपेक्षा व उद्यम——ज्ञानी पुरुषको ये इन्द्रियविषय नि सार, विनश्वर मालूम होते है। अब आत्मस्वरूपको त्यागकर अन्य पदार्थोकी ओर उसकी दृष्टि नही जाती है। वह तो आत्मलाभ ही करना चाहता है। जो ज्ञानमे रत पुरुष है वे इन सब इन्द्रजालोको यो निरख रहे है। यह लक्ष्मी कुछ दिनो तक ही ठहरेगी, यह यौवन कुछ दिनो तक ही रहने वाला है, ये भोग बिजलीके समान चचल है, यह शरीर रोगोका मदिर है, ऐसा निरखकर ज्ञानी जीव परपदार्थोसे उपेक्षा करते है और ज्ञानानन्दमय अपने आत्मतत्त्वमे निरत होनेका उद्यम रखते है।

इच्छत्येकान्तसवास निर्जन जनितादरः।
निजकार्यवशात्किचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥४०॥

ज्ञानीकी एकान्तसंवासमे वाञ्छा—जब इस आत्माको अपने झुकावसे और परकी उपेक्षाके साधनसे शुद्ध ज्ञानप्रकाशका अनुभवन हो जाता है उस समयमे जो अद्भुत आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दके फलमे उस आनन्दके लिए यह योगी बडे आदरके साथ एकात मे रहना चाहता है, इच्छा करता है और अपने प्रयोजनवश, धर्मसाधनके प्रयोजनसे कदाचित् कुछ कहना पडे तो कह कर शीघ्र ही भूल जाता है। यह स्वानुभव प्राप्त योगियोकी कहानी बतायी जा रही है। धर्ममय यह आत्मा स्वय है। जो कुछ यह मै हू उसकी ही बात कही जा रही है।

धर्मका आधार—भैया! धर्म मिलेगा तो स्वयमे ही मिलेगा। बाह्यमे जो भी आदर्श है, पूज्य है वे इस आत्मानुभवके मार्गके निर्देशक है, इस कारण उनकी भक्तिसे एक शुद्ध आनन्द मिलता है और अपने आपमे जो स्थिति उत्पन्न करना चाहते है, यह योग जिन्हे प्रकट हुआ है उनमे अपूर्व बहुमान, स्तवन, उपासनाका अपूर्व भाव होता है। जिसे जो आनन्द मिल गया है वह जैसे मिलता है उस ही उपायमे लगता है। जहाँ आनन्द नही है ऐसे साधनोसे हटता है। सब ज्ञानका माहात्म्य है। जब तक इस जीवको अपने आत्माका और परपदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका बोध नही होता है तब तक यह अपनी ओर आये कैसे और परसे हटे कैसे ?

वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनकी विशेषता—जैन शासनमे सबसे बडी विशेषता एक वस्तु-स्वरूपके प्रतिपादनकी है। जीवको मोह ही दुःख उत्पन्न करता है। वह मोह कैसे मिटे, इसका उपाय वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिज्ञान कर लेना है। जगतमे अनन्तानन्ते तो आत्मा है, अनन्ता-नत पुद्गल परमाणु है—एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असख्यात काल द्रव्य है। इनका जो परिणमन है वह कही सूक्ष्म परिणमन है और कही स्थूल परिणमन है, पर इन परिणमनोमे सर्वत्र एक रूप रहने वाले जो मूल पदार्थ है, जो अनेक दशावोमे पहुच कर भी एक स्वभावरूप रहे वही समस्त परिणमनोका मूल कारण है। जैसे कि जो चिदात्मक गुणपर्यायें है उन सृष्टियोका कारण यह चित्स्वरूप है और जितने जो कुछ ये दृश्यमान है इन दृश्यमान समस्त पदार्थोंका मूल कारण अणु है। उस परमाणुमे भी परमाणु अकेला रह जाय तब भी परिणमन चलता है। उस परिणमनसे परिणत अणुको कार्य अणु कहते है और वह परिणमन जिस आधारमे होता है उसे कारण अणु कहते है।

मूल पदार्थका मोहियोको अपरिचय—इन जीवोने इन दृश्यमान पदार्थोंका मूल कारण नही जान पाया और न यह समझ पाया कि ये प्रत्येक पदार्थ अपनेमे ही अपनेको अपने लिए अपने द्वारा रचते रहते है। किसीके विभाव परिणमनमे अन्य द्रव्य निमित्त होते है, किन्तु कोई भी निमित्तभूत परपदार्थ उपादानमे किसी परिणतिको उत्पन्न नही करते है। ऐसी वस्तुस्वरूपकी स्वतत्रता एक सूत्रमे ही कह दी गई है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्। जो भी है

वह निरन्तर नवीन पर्यायसे परिणमता है, पुरातन पर्यायको विलीन करता है और वह स्वय कारण रूपमे ध्रौव्य बना रहता है। यो जब आत्माके स्वरूपका भान होता है तब यह निर्णय होता है कि किसी भी पदार्थका कोई पदार्थ कुछ नही लगता है। सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वतत्र स्वरूपको लिए हुए है, ऐसा भान होनेपर जो परपदार्थसे सहज उपेक्षा होती हे और उस उपेक्षासे जो अपने आपके स्वभावमे झुकाव दृढ हुआ और एकत्वकी दृष्टि बनी उसमे जो आनन्द प्रकट होता है वह अलौकिक आनन्द है। उसका अनुभव कर चुकने वाले योगी को अब किसी भी समागममे रहनेकी चाह नहीं रहती है, वह तो एकान्तसवासका अनुरागी ह।

अज्ञानावस्थाकी वाञ्छाये—अज्ञान अवस्थामे यश और कीर्तिकी चाह हुआ करती है कि मेरा लोकमे बडप्पन रहे, इस अज्ञानीको यह विदित नही है कि जिन लोगोमे मै बडा कहलाना चाहता हू वे लोग स्वय दुखी है, अशरण है, मायास्वरूप है—यह भान नही रहा, इसी कारण इन मायामयी पुरुषोमे ये मायामयी पुरुष यशके लिए होड लगा रहे है। दुख और किस बातका है, धनमे लोग बढना चाहते है वह भी यशके लिए। यशकी चाह अन्तरमे पडी है तो नियमसे जानना चाहिए कि उसके अज्ञानभाव है। जो कारणसमयसार है, जो निज मूल शुद्ध चिदात्मक तत्त्व है उसका परिचय नही हुआ है इस कारण दर दरपर इसे परपदार्थोसे भीख मागनी पडती है।

योगीश्वरोका आदर्श—यह ज्ञानी पुरुष निर्जन स्थानोमे एकातका सवास चाहता है। उसे प्रयोजन नही रहा किसी समागममे रमनेका और आदरपूर्वक चाहता है। ऐसा नही है कि सन्यासी हो गया है इस कारण अलग रहना ही पडेगा। घर बसाकर तो न रहा जायगा ऐसी व्यवस्था नही हे किन्तु आस्थापूर्वक वह एकान्त स्थान चाहता है। यह उन्नतिके पदमे पहुचने वाले योगियोकी कथा है। उन्होने निकट पूर्व कालमे जो मार्ग अपनाया था, ज्ञान किया था वह ज्ञान हम आप सब श्रावकजनोके करने योग्य है, जिस मार्गसे चलकर योगी सत महान् आत्मा हुए है, वे चलकर बताते है कि इस रास्तेसे हम यहा आ पाये है, इसी उत्कृष्ट पथसे चलकर तुम अपने आपके उत्कृष्ट पदको पा लो।

अज्ञान और उद्दण्डता—बेवकूफी और धूर्तता—इन दोने जगतके जीवोको परेशान कर दिया है। बेवकूफी तो यह है कि पदार्थका यथार्थ स्वरूप न विदित हुआ और एकका दुसरे पर अधिकार सम्बन्ध दीखने लगा। यह तो है इसका अज्ञान और इतने पर भी अपनेको महान् मान लेना। कोई छोटी बिरादरीका हो तो वह भी अपने को छोटा स्वीकार नही कर सकता है, कोई निर्धन हो वह भी अपनी दृष्टिमे अपनेको हल्का नही मान सकता हे। एक तो अज्ञान रहा और अज्ञान होने पर भी अपनेमे बडप्पनकी बुद्धि रहे, जिससे अभिमान बने और

भी प्रतिक्रियाये करनेका यत्न होना यह है इस मोही जीवकी धूर्तता । अज्ञान ही होता, सरल रहता तो भी अधिक बिगाड न था, किन्तु अज्ञान होनेपर भी अपने आपमे बडप्पन स्वीकार करना यह और कठिन चोट है, इससे परेशान होकर यह जीव चौरासी लाख योनियोमे भटक रहा है ।

जीवका सर्वत्र एकाकीपना—यह जीव अकेला ही जन्ममरण करता है, सुख दुःख भोगता है, रोग शोक आदिक वेदनाएँ पाता है, स्त्री पुत्रादिक को लक्ष्यमे लेकर यह अपने रागद्वेष और मोहका विस्तार बनाया करता है, यहा कोई भी इस जीवका साथी नही है । वे सब केवल व्यवहारमे स्वार्थ बुद्धिसे रगे हुए इस जन्ममे ही साथी हो सकते है । कोई भी कभी मेरी विपदामे रच साथ नही दे सकता है । ऐसी समझ द्वेपके लिए नही करना कि ये कोई साथी नही है, क्यो द्वेष करना ? क्या तुम हो किसीके साथी ? जब तुम किसीके साथी नही हो तो कोई दूसरा तुम्हारा साथी कैसे हो सकता है ? यह तो वस्तुस्वरूप ही है । यह द्वेपके लिए समझ नही बनाना, किन्तु उपेक्षा परिणाम करनेके लिए ध्यान बनाना है ।

व्यामोहवृत्ति—यह मोही आत्मा अपनी भूलसे ही इन परजीवोको अपनी रक्षाका कारण समझता है । ये मेरी रक्षा करेगे । कहो समय आने पर जिसका विश्वास है वही विपदाका कारण बन जाय । लेकिन मोहमे जो दिमागमे आया, क्यो कि शुद्ध मार्गका तो परिचय नही है सो अपनी कुमतिके अनुसार दूसरोका रक्षक मानता है और उन्हे त्यागनेमे भय मानता है मै इस रक्षकका त्याग कर दूँ तो कही मेरा गुजारा न खतम हो जाय ऐसा भय मानता है और कभी वियोग हो जाय, होता ही है, जिनका सयोग हुआ है उनका वियोग नियमसे होता है । तब यह अज्ञानी बडा क्लेश मानता है ।

अज्ञानकी कष्टरूपता—जो सयोगमे हर्ष मानते है उनको वियोगमे कष्ट मानना ही पडेगा । जो सयोगके समय भी वियोगकी बातका ख्याल रखते है कि जिनका सयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होगा, तो उनके सयोगके समय भी आकुलता नही रहती और वियोगके समय भी आकुलता नही रहती । यह मोही जीव जब अपने अभीष्टका वियोग देखता है तो यह व्याकुल होने लगता है । अज्ञान दशामे कही जाय तो इसे कष्ट है, क्रोधमे रहे तो भी अज्ञानसे कष्ट है । गृहस्थी त्यागकर साधु सन्यासीका भी भेप रख ले तो वहा भी कष्ट है । कष्ट किसी परिस्थितिसे नही होता है किन्तु अपने अज्ञान भावके कारण कष्ट होता है, और शुद्ध ज्ञान होनेपर कष्ट मिट जाता है, यह अपनेमे विवेक जागृत करता है । विवेक क्या है ? विवेचन करनेका नाम विवेक है, अलग कर लेनेका नाम विवेक है । विवेक शब्दका अर्थ ही अलग कर लेना है । अपने आपको समस्त परपदार्थोसे विविक्त देखना, अपने एकत्वस्वरूपको आकना यही वास्तविक विवेक है ।

विवेकवृत्ति---जब यह जीव विवेक उत्पन्न करता है, मैं अकेला ही हू, मेरा कोई दूसरा साथी नही है, मेरा मेरे द्रव्यत्व और अगुरुलघुत्व स्वरूपके कारण मैं अपने आपमे ही निरन्तर परिणमा करता हूं । जो भी परिणति मुझमे होती है, सुख हो अथवा दु ख हो, इन सबका मैं अकेला ही कर्ता और भोक्ता हू । इससे जन मेरी ही भाति अपना मतलब चाहते हैं । इन समागमोका मेरे आत्माके साथ कुछ कालके लिए केवल सयोग सम्बन्ध है । जब यह विवेक जागृत होता है तो उसे समागममे रहना कष्टदायी मालूम होने लगता है । अपने आत्मस्वरूपसे चिगकर किसी बाह्यकी ओर विकल्प करना पडे उसे यह कष्ट मानता है । क्यो विकल्प किया जा रहा है ? कुछ हितकी सिद्धि है क्या इसमे ? ये सब विकल्प मेरे प्राणघातके लिए हैं अर्थात् शुद्ध जो चिदानन्दस्वरूप है उसका आवरण करनेके लिए है । उन विकल्पोसे यह दूर रहना चाहता है ।

अन्तस्तत्त्वके रुचियाका अन्त. आश्रय---विकल्पोमे निवृत्तिके अर्थ ही वह निर्जन स्थान मे रहनेकी अभिलाषा करता है, क्योकि साधन सामने रहे तो वे विकल्पोके निमित्त बन सकते है इसलिए उन समागमोको ही छोडकर किसी निर्जन स्थानमे यह रहनेकी चेष्टा करने लगता है, करता है परन्तु सदा एकातमे रह जाना बडा कठिन है । क्षुधा, तृषाकी वेदनाका कारण-भूत शरीर साथ लगा है, उसकी वेदनाको शान्त करनेके लिए कुछ समागम होना ही पडता है । ये योगी क्षुधाकी शान्तिके लिए नगरमे भिक्षावृत्ति करते है, अथवा कभी किसीसे वचना-लापका प्रसग होता है तो अवसरपर बोल देते है । बोलनेके बाद फिर उन सबका यह विस्म-रण कर देता है । क्या-क्या चीजे स्मरणमे रखखे, किन्ही परपदार्थोको अपने उपयोगमे बसाये रहनेका क्या प्रयोजन है ? कौनसा कर्ज चुकाना है, कौनसी आफत है जिससे वह बाह्यपदार्थो को अपने उपयोगमे रखखे, नही रखना चाहता है ।

वृत्तिकी प्रयोजनानुसारिता---लाख बातकी बात तो याद रहती है और सब प्रयोजनो की बात याद नही रहती है । जैसे गृहस्थजनोको, व्यापारियोको गृहस्थी और व्यापारकी बात बहुत याद रहती है, कैसा थान है, कहा धरा है, कैसा रग है, कैसी क्वालटीका है, सारा नक्शा अब भी खिच सकता है, सब चीजोका भाव ताव याद रहता है । देखनेकी भी जरूरत नही है, शकल देखकर बता देते कि यह इस भावका है । तो उस बाह्यरुचिक गृहस्थोको व्यापारियोको ये सब बाते तो याद रहती है पर धर्मकी बाते या ज्ञान सीखते है तो याद नही रहती है, ठीक है, अतमे यह ज्ञान ही प्रयोजन हो जायगा । अभी तो गृहस्थीके जजालका प्रयोजन है, उसकी सुध बहुत रहती है, धर्म और ज्ञानकी सुध नही रहती है । जब विवेक जगेगा, जब यह उपयोग कुछ मोड खायगा, तब इस जीवको ज्ञानकी सुध बनेगी, अन्य सब बाते भूल जायेगी ।

अप्रायोजनिक विषयका विस्मरण---खानेके लालसावतोको कितना याद रहता है कि

कल क्या खाना है ? जो कल खाना है उसका साधन अभीसे ही जुटाते हैं, ज्ञानीसंत पुरुष भोजन करते हैं, पर उन्हें भोजनकी कुछ याद नहीं रहती है। भोजनके समय तो चूँकि उनके पास विवेक है सो उसकी बात समझनेके लिए याद रखना पड़ता है, पर प्रयोजन एक ज्ञानका है, इस वजहसे भोजन करते हुएसे भी भोजनके स्वादमें वे मौज नहीं मानते हैं क्योंकि उनका उपयोग ज्ञानकी ओर लगा हुआ है। भोजन करते जा रहे हैं पर वे उनके ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं।

लोकदृष्टिकी प्राकृतिकता—जो मन लगाकर खाये उसको भक्तिपूर्वक खिलानेका भाव नहीं होता है, जो मन न लगाकर खाये उसको सभक्ति खिलानेका भाव होता है। यह एक विशेषता है। जो मन लगाकर नहीं खाते हैं उनको ही साधु कहते हैं। उनको आहार दान देनेमें उत्सुकता गृहस्थ जनोंको रहती है, यदि कोई मौज मानकर खाय तो गृहस्थका परिणाम खिलानेमें बढ़ नहीं सकता है, मन हट जायगा, यह प्राकृतिक बात है। जैसे गृहस्थजन भी भोजनके लिए मना करते जाएँ तो खिलाने वाले मनाकर खिलाते हैं, और लाओ-लाओ कहें तो परोसने वालेके उमंग नहीं रहती है। ऐसे ही जो जगतसे उपेक्षा करके अपने स्वरूपकी ओर मोड़ करते हैं उनकी सेवामें जगत दौड़ता है और जो जगतकी ओर मुख किए हुए हैं उनकी ओरसे यह जगत मुड़ता है।

ज्ञानीका तात्त्विक उद्यम—यहाँ यह कहा जा रहा है कि यह योगी ज्ञानी पुरुष चूँकि एक अलौकिक आनन्दका अनुभव ले चुका है। अपने आपके स्वरूपमें, इस कारण उसकी प्राप्तिके लिए ही उसका उद्यम होता है और यह निर्जन स्थानमें पहुँचना चाहता है। इस आत्म-ध्यानके प्रतापसे मोह दूर हो जाता है, और जहाँ सबको मनमें बसाये रहे तो यह मोह कष्ट देता रहता है, छुट्टी नहीं देता है। विविक्त निःशंक शुद्ध ज्ञानप्रकाश जो है वह सर्व संकटोंसे मुक्त है, उसके ध्यानसे ये मोह राग द्वेष बिल्कुल ध्वस्त हो जाते हैं।

आत्मनिधिके रक्षणका पुरुषार्थ—भैया ! सब कुछ न्योछावर करके भी ज्ञानानुभवका आनन्द आ जाय तो उसने सब कुछ पाया है। सब कुछ जोड़कर भी एक इस ज्ञानस्वरूपका परिचय नहीं हो पाया तो उसने कुछ नहीं पाया है। लाखों और करोड़ोंकी सम्पत्ति भी जोड़ लें तो भी एक साथ सब कुछ छोड़कर जाना ही पड़ता है और ज्ञानसंस्कार ज्ञानदृष्टि शुद्ध आनन्दकी प्राप्ति कर लेना ये सब शरीर छोड़नेपर भी साथ जाते हैं। जो ज्ञान और आनन्दकी निधि है वह कभी छूटती नहीं है। जो आत्म की निधि नहीं है वह कभी आत्माके साथ रहती नहीं है। गुरु परम्परामें बताई हुई पद्धतिके अनुसार जो आत्मस्वरूपका अभ्यास करता है यह योगी ध्यानके जो भी साधन और स्वरूप हैं उनका साक्षात्कार करता है अर्थात् जिस समय आत्मस्वरूपके चिन्तनमें यह योगी लीन हो जाता है उस समय उसे संसारका कोई भी पदार्थ, अपने प्रयोजनका कोई भी तत्त्व समक्षित इसे अदृश्य हो जाता है।

ज्ञानस्वरूपके आश्रयका प्रसाद—जो अपने ज्ञानको वाह्य पदार्थोंकी ओर जाननेके लिए लगाए उसके ज्ञानका विकास नही होता है और जो वाह्यपदार्थोंसे हटकर केवल अपने केन्द्रको ही जाननेका यत्न करे तो स्वय ही ज्ञानका ऐसा विकास होता है कि यह लोकालोक समस्त एक साथ स्पष्ट विज्ञान होने लगता है। आनन्दमे बाधा देने वाली दो बाते है—एक तो ज्ञान न होना, दूसरी इच्छा बनाना। जब किसी वस्तुका ज्ञान नही है और इच्छा बनी हुई है तो आकुलता होती है। किसी वस्तुका ज्ञान नही है तो न रहने दो, तुम उसके ज्ञानकी इच्छा और मत करो, फिर आकुलता कुछ नही है। इच्छा न हो ऐसी स्थिति तब बनती है जब कि ज्ञान स्पष्ट हो, इस कारण पदार्थके स्वरूपका परिज्ञान करके केवल ज्ञाताद्रष्टा रहनेका अभ्यास करे और इच्छा न करे तो वह परमात्म स्थिति इसके निकट ही है। स्वय ही तो परमात्मस्वरूप है, इसकी ओर आये तो क्लेश दूर हो। इस प्रकार यह योगी परमार्थ एकात निज आत्मतत्त्व की ही चाह करता है।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥

समाधिनिष्ठ योगीका व्यवहार—जिस पुरुषने आत्मतत्त्वको स्थिर कर लिया है अर्थात् जो समाधिनिष्ठ योगी आत्मस्वरूपका दृढ अभ्यासी हो जाता है वह प्रयोजनवश कदाचित् कुछ बोले भी, तो बोलता हुआ भी अत बोल नही रहा है, कही जाय वह, तो जाता हुआ भी अन्तरङ्गसे जा नही रहा है, कही देखे भी, तो वह देखता हुआ भी देख नही रहा है।

आनन्दधायसे उपयोग—जिसको जहा रसास्वादन हो जाता है उसका उपयोग वहा ही रहता है। जिसे जो बात अत्यन्त अभीष्ट है उस अभीष्टमे ही वह स्थित रहता है। ज्ञानीको ज्ञान अभीष्ट है इसी कारण वह अन्य क्रियाएँ विवश होकर करे तो भी वह अन्य क्रियावो का कर्ता नही है। जैसे फर्मका मुनीम, उसकी केवल अपने परिवारसे सम्बधित आयपर ही दृष्टि है, वहा ही ममत्व है, और जो लाखोका धन आए उसमे ममत्व नही है। तो वह हिसाब किताब रखकर भी सब कुछ सम्हालता हुआ भी कुछ नही सम्हाल कर रहा है, अथवा जैसे धाय बालकको पालती है, पर धायका प्रयोजन तो मात्र इतना ही है कि हमारी आजीविका रहेगी, गुजारा अच्छा चलेगा। इतने प्रयोजनसे ही उसको ममत्व है। तो वह बालकका शृगार करके भी वस्तुत शृगार नही कर रही है। ऐसे ही जिस ज्ञानी पुरुषको अध्यात्मरस का स्वाद आया है वह प्रत्येक प्रसगोमे चाहता है केवल अध्यात्मका रसास्वादन। जब वह कुछ भी वाह्यमे क्रिया करे तो भी उन क्रियावोका वह करने वाला नही है।

योगीश्वरका व्यवहार—शुद्ध आत्मतत्त्वका परम आनन्द पा लेने वाले योगीके एक सिर्फ आत्मदृष्टिके अतिरिक्त अन्य सब बाते, व्यवसाय पदार्थ, नीरस और अरुचिकर मालूम

होते है, किसी भक्त पुरुषको कही उपदेश भी देना पडे तो वह उपदेश देता हुआ भी न देनेकी तरह है। कर्मोके उदयकी बात वीतराग पुरुषोके भी हुआ करती हे। अरहत, तीर्थंकर परमात्मा हो गए, उनको अन्तरङ्गसे कुछ भी बोलनेकी इच्छा नही है, लेकिन कर्मोका उदय इस ही प्रकारका है कि उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, उनके उपदेश दिव्यध्वनि रूपमे होते है। जव वीतराग परमात्माके भी किसी किसी स्थिति तक कर्मोदयवश योग होता है, बोलना पडता है, यद्यपि उनका वह बोल निरीह है और सर्वागनिर्गत है, किन्तु यह अवस्था आत्माके सहज नही होती है। तब जो राग सहित है ऐसे योगीश्वर जिनको वीतराग आत्मतत्त्वसे प्रेम है किन्तु रागाश शेप है उन्हे कोई अनुरोध करता है तो वे उपयोग भी देते है, अथवा कोई समय निश्चित कर दिया लोग जुड जाते है तो बोलना भी पडता है, किन्तु वह योगी बोलकर भी न बोलनेकी ही तरह है।

प्रत्येक प्रसगोमे आत्महितदृष्टि—जो आत्महितका अभिलापी हे वह अन्तरात्मा अपने उपयोगको यहाँ वहाँ न घुमाकर अपना अधिक समय आत्मचिन्तनमे ही लगाते है। उनका बोलना भी इसीके लिए है। उनका बोलना भी इसीके लिए है। वे उपदेश देनेके प्रसगमे भी अपने आपमे ज्ञानको बल भरते है। प्राक्पदवीमे आत्मध्यानके काममे लगनेपर भी वासनावश शिथिलता आ जाती है और उपयोग अन्यत्र चलने लगता है तो वह योगी दूसरोको कुछ सुनाने के रूपसे अपने आपमे अपनी शिथिलताको दूर किया करते है, वे अपनी दृष्टि सुदृढ बनाते है। जो जिसका प्रयोजक है, जिसने जो अपना प्रयोजन सोचा है वह सब प्रसगोमे अपने प्रयोजन की सिद्धि जैसे हो उस पद्धतिसे प्रवृत्ति करता है।

ज्ञानीके क्रियामें आसक्तिका अभाव—भैया! स्व परके उपकार आदि कारणोसे उन्हे वचन भी कुछ कहने पडेगे तो बोलते है, पर न बोलनेकी तरह हैं। शरीरसे कुछ करना पडे तो करते है, पर न करनेकी तरह है। किसी भी क्रियामे ज्ञानीकी आसक्ति नही है, अन्य बाते तो दूर रहो, जो उनके धर्मप्रसगकी बात है, स्तवन, बदन, यात्रा, सामायिक, भक्ति जो जो कुछ भी उनके धार्मिक प्रसगकी बाते है उन बातोको भी वे अन्तरङ्ग रुचिके अर्थ करते है, पर अन्तरङ्ग रुचिसे नही करने है, अर्थात् यही मेरा ध्येय है ऐसी उनकी रुचि नही रहती है किन्तु सहज अत प्रकाशमान जो अतस्तत्त्व है उसकी सिद्धिके लिए व्यवहार धर्मका पालन करते है। इतनी परम विविक्तता इन ज्ञानी सतोके प्रकट होती है, ये कुछ करते हुए भी न करनेकी तरह है। जो पुरुप आत्मध्यानके अतिरिक्त अन्य कियावोमे चिर क्षण तक उपयोग नही देते है वे ज्ञानबलसे ऐसा बलिष्ट बनते है कि वे आत्मस्वरूपसे च्युत नही हो सकते। उनके आत्मशान्तिमे किसी भी निमित्तसे बाधा न हो सकेगी।

सुखदुःखादिकी ज्ञानकलापर निर्भरता—सुख और दुख दोनोका होना ज्ञान और

अज्ञानपर निर्भर है। जो सासारिक सुख है और दु.ख है वे तो अज्ञानपर निर्भर है किन्तु सुखो मे परम सुख अथवा शुद्ध आनन्द वह ज्ञानप्रकाशपर निर्भर है। यही बैठे ही बैठे किसी पर-पदार्थसे थोडा सम्बधकी दृष्टि मान ले तो चाहे वह अनुकूल हो और चाहे प्रतिकूल हो, दोनो ही स्थितियोमे सम्बधबुद्धि वाला पुरुप दु खी होगा। ससारके सभी जीव अपना दु ख लिए हुए भ्रमरा कर रहे है। वे दु खोको त्यागकर विश्रामसे नही बैठ पाते है। ज्ञान विना सारा साज धाज शृ गार बडप्पन, महत्त्व, व्यापार, व्यवसाय, चटकमटक सब व्यर्थ है। किसे क्या दिखाना है, कौन यहाँ हमारा प्रभु है जिसको हम अपना चमत्कार शृ गार साज धाज बताएँ? यह जो हमारा अमूर्त आत्मा है उसे तो कोई जानता नही। जो ये दृश्यमान है, पिड है, ये स्वय अचेतन है। ये मै हू नही, तव फिर किसीको कुछ भी जतानेका अभिप्राय है वह मिथ्या है।

अहंकार व ममकारका दोष—व्यामोही जीवोमे अहकार और ममकार ये दो दोप बडे लगे हुए है। जिस पर्यायमे यह जीव जाता है उस ही पर्यायको अह रूपसे मानने लगता है, मैने किया ऐसा, मे ऐसा कर दू गा, मेरा अब यह कार्य-क्रम है। एक तो पर्यायमे अहबुद्धि लगा ली है, यह अहकारका महादोप इस जीवमे लगा हुआ है। दूसरा दोप ममकारका है। किसी भी परपदार्थको यह मेरा है ऐसा ममत्व परिणाम इस जीवके बना हुआ है। दोनो ही परिणाम मिथ्या है, क्योकि न तो कुछ वाह्य मै हू और न कुछ बाह्य मेरे है। यह ससार इस ही अहकार और ममकारकी प्रेरणासे दु खी हो रहा है। ज्ञानी पुरुपके किसी भी परपदार्थ मे आसक्ति नही होती है। वह किसी भी परको अपना नही मानता, अपनेसे परका कुछ सम्बन्ध नही समझता है।

औपाधिकता—देखो लोकमे विचित्र प्रकृतिके मनुष्य भी देखे जाते है। कोई मनुष्य तो इतनी कृपणता रखते है कि किसी भी स्थितिमे वे रच भी उदारता नही दिखा सकते है, चाहे कितना ही धन लुट जाय या कितनी ही आधि व्याधिया उपस्थित हो जानेसे यो ही हजारोका धन लुट जाय, पर अपने हाथसे किसी भी धर्मप्रसगके लिए कुछ देनेका साहस नही कर पाते है और कितने ही पुरुप अपनी सम्पत्तिसे अत्यन्त उदासीन रहते है, अपनी उदारता किसी भी धार्मिक प्रसगमे बनी रहती है। यह विचित्रता, ये जीवके परिणाम और कर्मोके उदय व क्षयोपशमकी याद दिलाते है। इस जीवकी कितनी विचित्र प्रकृतियाँ हो गयी है? मूलमे जीवमे केवल ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी 'प्रकृति है, पर अपनी उस मूल प्रकृतिको तोडकर, परप्रकृतियोसे उत्पन्न हुई प्रकृतियोमे यह लग गया है और उन प्रकृति परिणामोमे दु खी रहता है, ससार भ्रमरा करता है। जो तत्त्वज्ञानी जीव है वे प्रकृतिके जालको त्यागकर अपनी शुद्ध प्रकृतिमे आते है। मै ज्ञानानन्दस्वरूप हू, चिदानन्दमात्र हू ऐसी उनकी दृष्टि रहती है।

वे कही भी रागी नही होते है।

मोहकी अधेरी—मोहकी अधेरी आना सबसे बडी विपत्ति है और अपने आत्मामे ज्ञान का प्रकाश होना सबसे बडी सम्पदा है। इस बाह्य पृथ्वीकायक सम्पदाको कोई कहाँ तक सम्हालेगा ? किसी भी क्षण यह सम्हाल नही पाता है। चीज जैसी आए, आए पर यह जीव किसी भी सम्पदाको सम्हालता हो ऐसी बात नही है। वह तो अपनी कल्पनावोमे ही गुथा रहता है। इस मायामयी जगतमे अपनी पोजीशनकी धुन बनाना यह महाव्यामोह है। अरे अरहत सिद्धकी तरह निर्मल ज्ञाताद्रष्टा रह सकने योग्य यह आत्मा आज इतने विकट कर्म और शरीरके बन्धनमे पडा है। इसकी पोजीशन तो यही बिगडी हुई है। अब इस भूठमूठ पोजीशनकी क्या सम्हाल करना है। पोजीशनकी सम्हाल करना हो तो वास्तविक पद्धतिसे पोजीशनकी सम्हाल करनेमे लग जाइए, यह स्वार्थमयी दुनिया तुम्हारा हित न कर सकेगी, तुम्हारे हितके करने वाले मात्र तुम ही हो, इससे अपने आपके कल्याणका उद्यम करना श्रेयस्कर है।

ज्ञानीकी दृष्टि—ज्ञानियोके ऐसी शुद्ध दृष्टि जगी है कि वे उस दृष्टिको छोड नही सकते है। नट कितने भी खेल दिखाये और किसी बासपर चढकर गोल-गोल फिरे, रस्सीपर पैरोसे चले, इतने आश्चर्यजनक खेल नट दिखाता है, पर उस नटकी दृष्टि किधर है, कार्य क्या कर रहा है और दृष्टि किधर है ? उसमे भेद है। जो कर रहा है उसपर दृष्टि नही है। मनुष्य भी जब चलता है तो जिस जमीनपर पैर रखता है उस जमीनको देखकर नही चलता है, अगर उतनी जगहको देखकर चले तो चल नही सकता है, गिर पडेगा। उसकी दृष्टि प्रकृत्या चार हाथ आगे रहती है। पैर जिस जगह रखा जा रहा है उस जगहको देखकर कौन पैर रखता है ? क्रिया होती है, दृष्टि उससे आगेकी रहती है। ऐसे ही ज्ञानी भी सारी क्रियाएँ करता है, पर दृष्टि उसकी न क्रियावोसे आगेकी रहती है। केवल क्रियावोपर ही दृष्टि रहे तो उसका मार्ग रुक जायगा, आगे बढ ही नही सकता है। यो यह ज्ञानी प्रत्येक क्रियावोमे अपने अत स्वरूपमे मग्न रहनेका यत्न करता है।

ज्ञानियोकी अलौकिकी वृत्ति—जिसने अपने आत्मतत्त्वको स्थिर किया है उसके ही ऐसी अलौकिक वृत्ति होती है। ज्ञानी और अज्ञानीका प्रवर्तन परस्पर उल्टा है। जिसे ज्ञानी चाहता है उसे अज्ञानी नही चाहता, जिसे अज्ञानी चाहता है उसे ज्ञानी नही चाहता। साधु सत ऐसे ढगका कमण्डल रखते है कि किसी असयमीको चुराने तक का भी भाव न हो सके, और की तो बात जाने दो। यह ज्ञानी अज्ञानियोसे कितना उल्टा चल रहा है ? दुनिया चटक मटकका बर्तन रखती है और वे साधु एक काठका कमडल रखते है, और मौका पड जाय तो कुछ समयके लिए वनमे पडी अस्वामिक मिट्टीका बर्तन या तूमडी आदिका वे प्रयोग कर लेते हैं, असयमी जन पलग गद्दा तकियोपर लेटनेका यत्न करते है, ज्ञानी जन जमीनमे ही लोटते

है। कभी कोई परिस्थिति आए तो वे कुछ तृण सोध बिछाकर लेट रहते है, कितनी परस्परमे उल्टी परिणति है। जो लोक न कर सके वह किया जाय उसका नाम है अलोककी वृत्ति। ऐसे अलौकिक निज परमार्थ कार्योमे दृष्टि होनेपर भी कितनी ही परिस्थितियाँ ऐसी होती है कि वे अन्य विषयक कार्य भी करते है किन्तु वे कार्य करते हुए भी न करते हुए की तरह है।

वर्तमान सगमे ज्ञानीकी अनास्थापर एक दृष्टान्त—एक अमीर पुरुष रोगी हो जाय तो उसके आरामके कितने साधन जुटाए जाते है, अच्छा हवादार और मन प्रिय कमरेमे आसन विछाना, कोमल पलग गद्दे रोज-रोज कपडे धुलकर बिछाए जाएँ, दो चार मित्र जन उसका दिल बहलानेके लिए उपस्थित रहा करे, समय समयपर डाक्टर वैद्य लोग आकर उसकी सेवा किया करे, एक दो नौकर और बढा दिए जाये, कितने साधन है, इतने आरामके साधन होने पर भी क्या रोगी यह चाहता है कि ऐसा ही पलग मेरे पडनेको रात दिन मिला करे, ऐसा ही आराम रोज-रोज मुझे मिलता रहे ? जब कोई पुरुष बीमार हो जाता है तो उसकी खबर लेने वाले लोग अधिक हो जाते है, हट्टे कट्टे मे कोई ज्यादा प्रिय बाते नही बोलते। बीमार हो जानेपर रिश्तेदार, मित्रजन कुटुम्बीजन बहुत प्रेमपूर्वक व्यवहार करते है। इतना आराम होनेपर भी रोगी पुरुष तो यह चाहता है कि मैं कब इस खटियाको छोडकर दो मील पैदल चलने लगूँ। यो ही ज्ञानी वर्तमान सगमे आस्था नही रखता है।

ज्ञानीकी प्रवृत्तिके प्रयोजनपर एक दृष्टान्त—यह रोगी दवाई भी सेवन करता है और दवाई समयपर न मिले तो दवाई देने वालेपर झुँझला भी जाता है, दवा क्यो देरसे लाये ? बडा प्रेम वह दवाईसे दिखाता है, उस औषधिको वह मेरी दवा, मेरी दवा—ऐसा भी कहता जाता है, उसको अच्छी तरहसे सेवता है, फिर भी क्या वह अतरङ्गमे यह चाहता है कि ऐसी औषधि मुझे जीवनभर खानेको मिलती रहे ? वह औषधिको औषधि न खाना पडे इसलिए खाता है, औषधि खाते रहनेके लिए औषधि नही खाता। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष अपने-अपने पद के योग्य विषयसाधन भी करे, पूजन करे, अन्य-अन्य भी विषयोके साधन बनाएँ तो वहाँपर ये ज्ञानी विषयोके लिए विषयोका सेवन नही करते, किन्तु इन विषयोसे शीघ्र मुझे छुट्टी मिले इसके लिए विषयोका सेवन करते है। ज्ञानीकी इस लीलाको अज्ञानी जन नही जान सकते। ज्ञानीकी होडके लिए अज्ञानी भी यदि ऐसा कहे तो उसका यह कोरी बकवाद है।

कर्मबन्धका कारण—कर्मबध आशयसे होता है। डाक्टर लोग रोगीकी चिकित्सा करते है, आपरेशन भी करते है और उस प्रसंगमे कोई रोगी कदाचित् गुजर जाय तो उसे कोई हत्यारा नही कहता है, और न सरकार ही हत्यारा करार कर देती है, आशय उसका हत्याराका नही था, और एक शिकारी शस्त्र बदूक लिए हुए वनमे किसी पशु पक्षीकी हत्या करने जाय, और न भी वह हत्या कर सके तो भी उस सशस्त्र पुरुषको लोग हत्यारा कहते है, सर-

कार भी से हत्यारा करार कर देती है। आशयसे कर्मबंध है, ज्ञानी जीवको अपने किसी भी परिणमनमे आसक्ति नही है, अहंकार नही है। पर्यायबुद्धि सबसे बडा अपराध है। जो अपने किसी भी वर्तमान परिणमनमे 'यह मै हू' ऐसा भाव रखता है उस पुरुषके कर्मबंध होता है और जो विरक्त रहा करता है उसके कर्मबंध नही होता है।

सारभूत शिक्षा—पूज्य श्री कुन्दकुन्द प्रभुने समयसारमे बताया है और अनेक ग्रध्यात्म योगियोने अपने ग्रन्थोमे बताया है। जो जीव रागी होता है वह कर्मोंसे बँधता है, जो जीव रागी नही होता है वह कर्मोंसे छूटता है, इतना जिनागमके सारका संक्षेप है। जिन्हे संसार संकटोंसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है उन्हे चाहिए कि प्रत्येक पदार्थको भिन्न और मायामय जानकर उनमे रागको त्याग दे। उनमे रुचि करनेका फल केवल क्लेश ही है। और विनाशीक चीजमे ममता बना लेना यह बालको जैसा करतब है। किसी पानी भरी थालीमे रातके समय चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड रहा हो तो बालक उस प्रतिबिम्बको उठाकर अपनी जेबमे रखना चाहता है, पर ऐसा होता कहाँ है। तब वह दुःखी होता है।

परकी हठका क्लेश—एक बालकने ऐसा हठ किया कि हमे तो हाथी चाहिए। तो बापने पासके किसी बडे घरके पुरुषसे निवेदन करके हाथी घरके सामने बुला लिया। अब लडकेके सामने हाथी तो आ गया पर वह यह हठ कर गया कि मुझे तो यह हाथी खरीद दो। तो उसके घरके बाडेमे वह हाथी खडा करवा दिया और कहा, लो बेटा यह हाथी तुम्हे खरीद दिया है, इतनेपर भी वह राजी न हुआ, बोला कि इस हाथीको हमारी जेबमे धर दो। अब बतावो हाथीको कौन जेबमे धर देगा ? जो बात हो नही सकती उस बातपर हठ की जाय तो उसका फल केवल क्लेश ही है। जो बात हो सकती है, जो बात होने योग्य हो, जिस बात के होनेमे अपनी भलाई हो उस घटनासे प्रीति करना यह तो हितकर बात है, पर अनहोनीको होनी बनानेकी हठ सुखदायी नही होती है। ज्ञानी पुरुष तो अपने आपको जैसा चाहे बना सकते है, इस निर्णयके कारण अपनेपर ही प्रयोग करते है, किसी परवस्तुमे किसी प्रकारकी हठ नहीं करते है। इस कारण ये अध्यात्मयोगी सदा अतः प्रसन्न रहा करते है।

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४२॥

एकान्त अन्तस्तत्त्वकी उपलब्धि—कुछ पूर्वके श्लोकोमे यह दर्शाया था कि जो लोक मे उत्तम तत्त्व है, सारभूत वस्तु है वह निज एकान्तमे ही प्रकट होती है। निज एकान्तका अर्थ है जिस चित्तमे रागद्वेषका क्षोभ नही है ऐसे सर्व विविक्त एक उस धर्मी आत्मामे ही उस तत्त्वका उद्भव होता है। जो लोकमे सर्वोत्तम और शरणभूत है, अपने आपमे ही वह तत्त्व है जिसके दर्शन होनेपर संसारके समस्त संकट टल जाते है। एक उस अन्तस्तत्त्वके मिले बिना

चाहे कितनी ही सम्पदाका सचय हो जाय किन्तु ससारके सकट दूर नही हो सकते है। जिसको बाह्य पदार्थोकी चाह है उसपर ही सकट है और जिसे किसी प्रकारकी वान्छा है वहाँ कोई सकट नही है।

ज्ञानीके अन्तरङ्गमे साहस——ज्ञानी पुरुषमे इतना महान साहस होता है कि कैसी भी परिस्थिति आए सर्व परिस्थितियोमे मेरा कही भी रच बिगाड नही है। अरे लोक विभूतिके कम होनेसे अथवा न होनेसे इन मायामय पुरुषोने तो कुछ सम्मान न किया, अथवा कुछ निन्दा भरी बात कह दी तो इसमे मेरा क्या नुकसान हो गया ? मै तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप तत्त्व हू, ऐसा निर्णय करके ज्ञानीके अत' महान् साहस होता है। जिस तत्त्वके दर्शनमे यह साहस और सकटोका विनाश हो जाता है, उस तत्त्वके दर्शनके लिए उस तत्त्वके अभ्यासके लिए अनुरोध किया गया था।

विषयोकी अरुचि व स्वसवेदन——ज्यो-ज्यो यह ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मतत्त्व अपने उपयोगमे समाता जाता है त्यो त्यो क्या स्थिति होती है कि ये सुलभ भी विषय उसको रुचिकर नही होते है, और विषयोका अरुचिकर होना और ज्ञानप्रकाशका बढना——इन दोनोमे होड लग जाती है। यह वैराग्य भी इस ज्ञानसे आगे-आगे बढता है और यह ज्ञान वैराग्यके आगे-आगे बढता है। इस अभीष्ट होडके कारण इस योगीके उपयोगमे यह सारा जगत इन्द्रजालकी तरह शात हो जाता है। ये केवल एक आत्मलाभकी ही इच्छा रहती है, अन्यत्र उसे पछतावा होता है, ऐसी लगन जिसे लगी हो मोक्षमार्ग उसे मिलता है। केवल बातोसे गपोडोसे शान्ति तो नही मिल सकती है। कोई एक बाबू साहब मानो बम्बई जा रहे थे। तो पडौसकी सेठानी, बहुवे आकर आ आकर बाबू जीसे कहती है कि हमारे मुन्नाको एक खेलनेका जहाज ला देना, कोई कहती है कि हमारे मुन्नाको खेलनेकी रेलगाडी ला देना। बहुतोने बहुत बाते कही। एक गरीब बुढिया आयी दो पैसे लेकर। बाबू जी को पैसे देकर बोली कि दो पैसाका मेरे मुन्नेको खेलनेका मिट्टीका खिलोना ला देना। तो बाबू जी कहते है कि बुढिया माँ मुन्ना तेरा ही खिलौना खेलेगा, और तो सब गप्पे करके चली गयी। तो ऐसे ही जो शान्तिका मार्ग है उस मार्गमे गुप्त रहकर कुछ बढता जाय तो उसको ही शान्ति प्राप्ति होगी, केवल बातोसे तो नही। चित्तमे कीर्ति और यशकी वान्छा हो, बडा धनी होनेकी वान्छा हो, अचेतन असार तत्त्वोमे उपयोग रम रहा हो वहाँ शान्तिका दर्शन नही हो सकता है।

अन्तस्तत्त्वके लाभकी स्पृहा——यह योगी केवल एक आत्मलाभमे ही स्पृहा रखता है, यह एकात आत्मतत्त्वको चाहता है और बाह्यमे एकात स्थानको चाहता है। यहाँ कुछ भी बाह्य प्रयोग क्रियाकाण्ड बोलचाल आना जाना कुछ भी नही चाहता है। उसने अपने उपयोग मे आत्मतत्त्वको स्थिर किया है, ऐसे योगीकी कहानी आज इस श्लोकमे कही जा रही है कि

वे योगी अतरङ्गमे क्या किया करते है ?

ज्ञानीकी कृतिकी जिज्ञासा——यहाँ जीवोको करने करनेकी आदत पडी है इसलिए यह ज्ञानीमे भी करनेका ज्ञान करना चाहता है कि ये योगी क्या किया करते है ? इसका समाधान करनेसे पहिले थोडा यह बताये कि यह अध्यात्मयोगी सत जो इस तत्त्वके अभ्यासमे उद्यत हुआ है इस योगाभासमे प्राक पदवीमे क्या-क्या निर्णय अपने समयमे बनाया था ? जिस आत्मतत्त्वकी उसे लगन लगी है वह आत्मतत्त्व क्या है ? वह आत्मतत्त्व रागद्वेष आदिक वासनावोसे रहित केवल जाननहार रहनेरूप जो ज्ञानप्रकाश है यह आत्मतत्त्व है । यह ज्ञान प्रकाशरूप आत्मतत्त्व निर्विकल्प निराकुल निर्बाध है जिसमे कोई प्रकारका सकट नही है ऐसा शुद्ध प्रकाश है । यह प्रकाश इस आत्मामे ही अभिन्न रूपसे प्रकट हुआ है । इसका स्वामी कोई दूसरा नही है और न इसका प्रकाश किसी दूसरेके आधीन है । यह तत्त्व इस आत्मामे ही प्रकट हुआ है, ऐसे उस ज्ञानामृतका बहुत-बहुत उपयोग लगाकर योगी पान किया करता था । इसके फलमे अब पूर्ण अभ्यस्त हुआ है । अब यह योगी क्या किया करता है उसके सबध मे जिज्ञासुका प्रश्न है ।

कर्तृत्वबुद्धिका रोग———करना, करना, यही तो एक ससारका रोग है । यह जिज्ञासु रोगकी बात पूछ रहा है कि इस ज्ञानीके इस समय कौनसा रोग है, अर्थात् यह क्या करता है, जगतके जीव करनेके रोगमे दुःखी है । सब बीमार है, कौनसी बीमारी लगी है ? सबको निरखो, किसी भी गाँव नगर शहरमे नम्बर १ के घरसे लेकर अतके नम्बरके घर तक देख आवो, सभी कुछ न कुछ बीमार हो रहे है, कुछ न कुछ करनेका सकल्प बना हुआ है । ये करनेके आशयकी बीमारीका दु ख भोगते जा रहे है । क्या उस ही रोगकी बातको यह जिज्ञासु पूछ रहा है ? कोई एक रुई धुनने वाला था । वह विदेश किसी कारण गया था । वहासे पानीके जहाजसे आ रहा था । तो उस जहाजमे मुसाफिर एक ही कोई था और एक यह स्वय, किन्तु सारे जहाजमे रुई लदी हुई थी । हजारो मन रुई देखकर उस धुनियाके दिलमे बडी चोट पहुची । हाय यह सारी रुई हमको ही धुननी पडेगी । बस उसके सिर दर्द शुरू हो गया, घर पहुचते-पहुचते तेज बुखार हो गया, कराहने लगा । डाक्टर आए, पर वहा कोई बीमारो हो तो वह ठीक हो । वह तो मानसिक कल्पनाका रोग था । एक चतुर वैद्य आया, उसने पूछा—बाबा जी कहासे तुम बीमार हुए ? बोला हम विदेशसे पानीके जहाजसे आ रहे थे, बस वही रास्तेमे बीमार हो गए । अच्छा उसमे कौन-कौन था ? था तो कोई नही (बडी गहरी सास लेकर कहा) बोला—एक ही मुसाफिर था, मगर उसमे हजारो मन रुई लदी हुई थी । उसकी आह भरी आवाजको सुनकर वह सब जान गया । बोला—अरे तुम उस जहाजसे आए, वह तो आगे किसी बदरगाहपर पहुचकर आग लग जानेसे जलकर भस्म

हो गया। जहाज और रुई सब कुछ खतम हो गया। इतनी बात सुनते ही वह चगा हो गया। तो सब करनेके रोगके बीमार है।

कर्तृत्वबुद्धिके रोगकी चिकित्साकी चर्चा—भैया ! कर्तृत्वबुद्धिके रोगसे पैर एक जगह नही थम पाते है, चित्त एक जगह नही लग पाता है, जगतके जीवोमे पक्षपात मच गया है यह मेरा है, यह गैर है, ये कितनी प्रकारकी बीमारियां उत्पन्न हो गई हैं। इन सबका कारण कर्तृत्वका आशय है। मैं करता हूं तो यह होता है, मैं न करूँ तो कैसे होगा ? यह नही विदित है कि यदि हम न करेंगे तो ये पदार्थ अपने परिणमते रहनेमे द्रव्यत्वको त्याग देंगे क्या ? खैर जिज्ञासुको अधिकार है कैसा भी प्रश्न पूछे। उस प्रश्नका उत्तर यहाँ दिया जा रहा है कि यह योगी तो अपने योगमे परायण हो रहा है, समरसीभावका अनुभव कर रहा है, अपने स्वभावमे अपने उपयोगको जोड रहा है और कुछ नही कर रहा है। तो जिज्ञासु मानो पुन पूछता है कि क्या वह योगी अपने बारेमे सुनसान, है कुछ अपने आपका चिन्तन और भान ही नही कर रहा है क्या ? उत्तर इसीका दिया गया है पूर्व पादमे कि यह अनुभवमे आने वाला तत्त्व क्या है, कैसा है किसका है, कहाँसे आया, कहाँपर है, इस प्रकारका कोई भी विकल्प वहाँ नही मच रहा है, और इसी कारण वह अपने देहको भी नही जान रहा है।

अनात्मतत्त्वके परिज्ञानकी अनपेक्षा—जिस पुरुषको भेदविज्ञानका उपयोग हो रहा है वह जिससे अपनेको भिन्न करता है उस हेय तत्त्वको फिर भी जानता तो है। भेदविज्ञान अध्यात्ममार्गमे पहुचनेकी सीढी है। जो लोकव्यवहारमे चतुर होते है वे यह कहते है कि अपने खिलाफ यदि किसीने कुछ कह दिया या कुछ छपा दिया उसका यदि कुछ प्रत्युत्तर दे कोई तो इसका अर्थ यह है कि उसने उस निन्दा करनेका महत्व आका और लोग यह समझेंगे कि कोई बात है तब तो इसे उत्तर देना पडा। बुद्धिमान पुरुष उसकी ओर दृष्टि भी नही करते है। यह मैं शरीरसे न्यारा हू, ऐसा सोचते हुए यदि शरीर तक ज्ञानमे आए, अथवा कोई पर-द्रव्य ज्ञानमे आए तो यह उन्नतिकी चीज नही है। मैं शरीरसे न्यारा हू। जिससे न्यारा तुम अपनेको सोचते हो उनकी वखत तो हमने पहिले कर ली है। यह अध्यात्म मार्गमे चलने वाले के प्राक् पदवीकी बात कही जा रही है। होता सबके ऐसा है जो शान्तिके मार्गमे बढते है। भेदविज्ञान उनके अनिवार्य है, लेकिन भेदविज्ञान ही करते रहना, जपते रहना इतना ही कर्तव्य है क्या ? नही। इससे आगे अभेद उपासनाका कर्तव्य है जहाँ यह ही प्रतीत न हो रहा हो, विकल्प ही न मचता हो कि यह देह है, ये कर्म है, ये विभाव है, इनसे मुझे न्यारा होना चाहिए।

उपयोगमे परवस्तुका अमूल्य—कोई धर्मात्मा श्रावक और श्राविका थे। दोनो किसी गाँवको जा रहे थे। आगे पुरुष था, पीछे स्त्री थी। पुरुष आध फर्लांग आगे चल रहा था, उसे

रास्तेमे धूल भरी सडकपर अशर्फियोका एक ढेर दिखा, किसीकी गिर गई होगी। उसे देखकर वह पुरुष यो सोचता है कि इसे धूलसे ढक दे। यदि स्त्रीको यह दिख जायगा तो, कही लालच न आ जाय, सो उस अशर्फियोके ढेरको धूलसे ढाकने लगा। इतनेमे स्त्री आ गयी, बोली यह क्या कर रहे हो ? तो पुरुष बोला कि मै इन अशर्फियोको धूलसे ढाक रहा हू। क्यो ? इसलिए कि कही तुम्हारे चित्तमे इनको देखकर लालच न आ जाय ? स्त्री बोली—अरे तुम भी बडी मूढताका काम कर रहे हो, इस धूलपर धूल क्यो डाल रहे हो। उस स्त्रीके चित्तमे वह धन धूल था, उस पुरुषके उपयोगमे वे अशर्फी है और स्त्रीके चित्तमे धूल है तो इसमे तो स्त्री का वैराग्य बडा हुआ।

विकल्पसे अभीष्टकी हानि—भेदविज्ञानमे, जिससे अपने आपको पृथक् करनेकी बात कही जा रही है, वहाँ दो चीजे सामने है, किन्तु अध्यात्मयोगीको यह गरज नही है कि मेरी निगाहमे किसी भी रूपमे विरोधी तत्त्व याने परतत्त्व बना रहे। इस योगीके देहकी बात तो दूर जाने दो, जिस ज्ञानमय तत्त्वका अनुभव कर रहा है उस तत्त्वके सम्बधमे भी यह क्या है, कैसा है, कहाँसे आया है, इतना भी विकल्प नहीं कर रहा है। विकल्प करनेसे आनन्दमे कमी आ जाती है। जैसे आपने कोई बढिया मिठाई खायी, मान लो हलुवा खाया तो उसके सम्बध मे यदि यह ख्याल आए कि यह ऐसे बना है, इतना घी पडा है, इतना मैदा पडा है, ऐसी बातोका ख्याल भी करता जाय और खाता भी जाय तो उसके खानेमे आनन्दमे कमी हो जायगी। बडी मेहनतसे बनाया है तो चुपचाप एक तान होकर उसका स्वाद ले, बाते मत करे, बाते करनेसे उसके आनन्दमे कमी हो जायगी। बडे योगाभ्याससे, जीवनभरके ज्ञानार्जन की साधनासे, पुरुषोकी निष्कपट सेवासे यह तत्त्वज्ञान इसने पाया है और आज यह निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्व अनुभवमे आ रहा है, आने दो, अब उसके सम्बधमे कुछ विकल्प भी न करो, विकल्प करोगे तो आता हुआ यह अनुभव हट जायगा।

विकल्पोंका उत्तरोत्तर शमन—यह योगी अपने अध्यात्मयोगमे परायण होता हुआ, किसी भी प्रकारका विकल्प न करता हुआ, अपने देहको भी नही जान रहा है। इस जीवके कल्याणमार्गमे पहिले तो औपचारिक व्यवहारका आलम्बन होता है। जब बचपन था तो यह मा के साथ मदिरमे आकर जैसे माँ सिर झुका दे वैसे ही सिर झुका देता था, उसे तब कुछ भी बोध न था। जब कुछ बडा हुआ, अक्षराभ्यास किया, सत्सग किया, ज्ञानकी बात सुननेमे आयी, अब कुछ कुछ ज्ञानतत्त्वकी ओर बढने लगा। अब इसे वस्तुस्वरूपका प्रतिबोध हुआ, भेदविज्ञान जगा। इसके पश्चात् जब इस ध्याता योगीके अपने आपमे अभेद ज्ञानानुभूति होती है तब उसके विकल्प समाप्त होते है। इससे पहिले विकल्प हुआ करते थे, जैसे-जैसे उसकी उन्नति होती गई विकल्पोका रूपक भी बदलता गया, पर समस्त विकल्प शान्त हुए तो इस

ज्ञानतत्त्वमे शान्त हुए ।

ज्ञानभावकी अभिरसमयता व परभावभिन्नता—जानने वाला यह ज्ञान इस ही जानने वाले ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान करने लगे तब दूसरे वस्तुके छोडनेका अवकाश कहाँ रहा ? ज्ञान ही जानने वाला और ज्ञान ही जाननेमे आ रहा है तब वहाँ तीसरेकी चर्चा कहाँ रही ? ऐसी ज्ञानानुभूतिमे किसी भी प्रकारका विकल्प उदित नही होता हे, वह तो निज शुद्ध आनन्द रसका पान किया करता है । वहाँ ऐसे स्वभावका अनुभव हो रहा है जिसको कहाँसे शुरू करके बताएँ ? शुरू बात किसी भी तत्त्वकी होगी बतानेमे, तो परका नाम लेकर ही हो सकेगा । जिस ज्ञानतत्त्वके अनुभवमे सम्यग्दर्शन प्रकट होता है वह तत्त्व परभावोसे भिन्न है, पर-पदार्थोसे और परपदार्थोके निमित्तसे जापमान रागादिक भावोसे भिन्न है ।

आत्मतत्त्वकी परिपूर्णता—भैया ! यहाँ उस अनुभवमे आए हुए ज्ञान तत्त्वकी बात कही जा रही है, परसे भिन्न पर-भावोसे भिन्न है, इसमे यह न समझना कि जितना जो कुछ हम टूटा फूटा ज्ञान किया करते है उन ज्ञानोका तो मना नही किया, परपदार्थको मना किया और रागादिक भावोको मना किया । अरे वह आत्मतत्त्व परिपूर्ण है जिसका अनुभव किया जाना है । यह हमारा ज्ञान तो अधूरा है, यह नही है वह तत्त्व, जिसका अध्यात्मयोगीके अनु-भव हो रहा है ।

आत्मतत्त्वकी आद्यन्तविमुक्तता—यह अन्तस्तत्त्व परभावभिन्न है व आपूर्ण है, इतने पर यह निर्णय मत कर बैठना कि जो पर नही है, परभाव नही है और पूरा है वह मेरा स्वरूप है । यो तो केवल ज्ञानादिक शुद्ध विकास भी मेरा स्वरूप बन जायेंगे । वे यद्यपि स्व-रूपमे एक तान हो जाते है और मेरे स्वरूपके शुद्ध विकास है, परन्तु केवलज्ञान आदिक विकास सादि है, क्या उनके पहिले मै न था ? स्वरूपका निर्णय तो यथार्थ होना चाहिए, सो यह भी साथमे जानना कि वह आदि अन्तरहित तत्त्व है जिसका आलम्बन लिया जा रहा है शुद्धनयमे ।

आत्मतत्त्वका एकत्व व निर्विकल्पत्व—गुरुने शिष्यसे पूछा—क्यो ठीक समझमे आ गया, यह शिष्य बोला—हाँ, वह परसे भिन्न है, परभावसे भिन्न है, परिपूर्ण है और शाश्वत है । ये ही तो है ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द आदिक गुण । योगी समझता है कि नही-नही, अभी तुम अनुभवके मार्गसे बिछुडे जा रहे हो, वह इन नाना शक्तियोके रूपमे नही है, वह तो एक स्वरूप है । शिष्य कहता है कि अब पहिचाना है कि ब्रह्म एक है । तो गुरु कहता है कि ब्रह्म एक है ऐसा ध्यान तू बनाएगा तो तूने अपना आश्रय छोड दिया है । तू कही परक्षेत्रमे ही यह एक है ऐसा विकल्प मचायेगा, वहाँ भी इस ज्ञानतत्त्वका अनुभव नही है । समस्त विकल्पजालोको छोडकर इस तत्त्वका तू अनुभव मात्र कर । इसके बारेमे तू जीभ

मत हिला। जहाँ तूने कुछ भी जीभ हिलायी, प्रतिपादन करनेको चला कि तेरा यह आनन्द रस ज्ञानानुभव सब विघट ,जायगा।

नयपक्षातीत स्वरूपानुभव—यह योगी योगमे परायण होता हुआ अपने देह तकको भी नही जान रहा है। वह तो परम एकाग्रतासे अपने आकिञ्चन्य शुद्ध स्वरूपका ही अवलोकन कर रहा है। जो अपनी इच्छासे ही उछल रहे, जो अनेक विकल्पजाल तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमे भी हो रहे है, जिससे नय पक्षकी कक्षा बढ रही है उनका ही उल्लघन करके निज सहजस्वरूपको देखता है, जो सर्वत्र समतारससे भरा हुआ है उसे जो प्राप्त करता है वह योगी है, धर्ममय है। अपनी समस्त शक्तिको इधर उधर न फैलाकर अपने आपके सहज स्वभावमे केन्द्रित करके अपने उपयोगको एक चिन्मात्र स्वभावमे स्थिर कर देता है वहाँ हेय और उपादेयका कोई भी विकल्प उत्पन्न नही होता है।

उपयोगकी अन्तर्मुखता एवं आनन्द—जैसे यह उपयोग बाहरमे जाया करता है वैसे ही इसको क्या अपने आपमे लाया नही जा सकता है? जो उपयोग बाह्य पदार्थोके जाननेमे सुभट बन रहा है वह क्या अपने आपके स्वरूपको जाननेमे समर्थ नही हो सकता है? परपदार्थोमे हित बुद्धिको छोडकर अपने आपमे विश्राम लेकर अपनेको जाने तो वहाँ वीतराग भावका रसास्वादन हो सकेगा। योगी इसी परमतत्त्वका निरन्तर आनन्द भोगता रहता है।

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिं।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥४३॥

उपयोगानुसारिणी वासना—जो जीव जहाँ रहता है उसकी वही प्रीति हो जाती है और जहाँ प्रीति हो जाती है वहाँ ही वह रमता है, फिर वह अपने रम्यपदसे अतिरिक्त अन्यत्र कही नही जाता है। आत्मामे एक चारित्रगुण है। वस्तुत आत्मामे गुण भेद है नही, किन्तु आत्मा यथार्थ जैसा है उसका प्रतिबोध करनेके लिए जो कुछ विशेषताएँ कही जाती है उनको ही भेद कहा करते है। वैसे तो किसी पदार्थका नाम तक भी नही है। किसीका नाम लेकर बतावो, जो नाम लोगे वह किसी विशेषताका प्रतिपादन करने वाला होगा।

वस्तुके यथार्थ परिपूर्ण स्वरूपकी अवक्तव्यता—भैया! शुद्ध नाम किसीका है ही नही। व्यवहारिक चीजोका नाम लेकर बतावो आप कहेगे चौकी। चौकी नाम है ही नही। जिसमे चार कोने होते है उसे चोकी कहते है। यो इसकी विशेषता बतायी है, चोकी नाम नही है। घडा जो यत्रमे मशीनमे घडा जाय उसका नाम घडा है। शुद्ध नाम नही है। शुद्ध नामके मायने यह हैकि उसमे विशेषका वर्णन करने वाला मर्म न हो। चटाई—चट आई सो चटाई। यह भी उसके गुणका नाम है, उसका नाम नही है। सब विशेषतावोंके शब्द है। दरी—देरसे आए तो दरी यह भी उसके गुणका नाम है उसका नाम नही है। किवार—किसी

को वारे अर्थात् रोक दे उसका नाम किवार । यह भी शुद्ध नाम नही है । क्षत—जिसको खूब पीटा जाय उसका नाम क्षत है, यह भी शुद्ध नाम नहीं है । जीव—जो प्राणोंसे जीवे सो जीव । यह भी शुद्ध नाम कहाँ रहा ? आत्मा—जो निरन्तर जानता रहे उसका नाम है आत्मा । कहाँ रहा उसका नाम विशेपता बतायी है । ब्रह्म—जो अपने गुणोको बढानेकी ओर रहा करे उसका नाम ब्रह्म है ।

वस्तुकी अभेदरूपता—वस्तुका गुणभेद नही है । प्रत्येक पदार्थ जिस स्वरूपका है उस ही स्वरूप है, लेकिन प्रतिबोध किया कराया तो जा सकता है । उसका प्रतिबोध व्यवहारसे, भेदवादसे ही किया जा सकना है । व्यवहारका ही अर्थ भेद है । जो किसी चीजका भेद कर दे उसका नाम व्यवहार है । तो आत्मा एकस्वभावी है, पर उसकी विशेपताएँ जब बतायी जाती है तो कहा जाता है कि यह जानता है' इसमे ज्ञानगुण है । यह कही न कही रमता है, यह चारित्रगुण है । जीवमे यह प्रकृति पडी है कि वह किसी न किसी ओर रमा करे । सिद्ध हो, परमात्मा हो, योगी हो, श्रावक हो, कीडा मकोडा हो, जो भी चेतन है उसमे यह परिणति है कि कहीं न कही रमा करे । अब जहाँ औपाधिकता लगी है वहाँ परभावमे लगेगा । जहाँ निरुपाधिता प्रकट होती है वहाँ शुद्ध स्वभावमे रमेगा, पर रमनेकी इसमे प्रकृति पडी है ।

बहिर्मुखताका संकट—यह जीव अपने उपयोगसे जहाँ रहता हुआ ठहरता है उसका उस ही मे प्रेम हो जाता है । इस जीवपर सबसे बडी विपदा है बहिर्मुखताकी । यह जीव अपने आनन्दधाम निज स्वरूपमे विश्राम न लेकर बाह्य परतत्त्वोमे, परपदार्थोमे जो रुचि रखता है, परपदार्थोंसे मेरा हित है, बडप्पन है ऐसी जो प्रतीति रखता है उसके जीवनपर महासकट है, परन्तु मोही प्राणी मोहमे इस सकटको ही शृगार समझते है । पागलपन इसीको ही तो कहते है कि दुनिया तो हँसे और यह उस ही मे राजी रहे । ज्ञानी जन तो हँसे, जो पागल नही है वे तो मजाक करे अर्थात् उन्हे हेय आचरणसे देखे और यह पागल उस धुनमे ही मस्त रहे । यहाँ जितने भी मोहमत्त जीव है वे सब उन्मत्त ही तो है । जो ज्ञानी पुरुष है, विवेकी है वे इसकी मोह बुद्धिपर हास्य करते है । कहाँ रम गया है, कहाँ भूल पड गयी है, और यह मोही पुरुष उन ही विषयोमे रमता है । क्या करे यह मोही प्राणी जब उस निर्मोहताका आनन्द ही नही मिल सका, अपने आपमे ज्ञानका पुरुषार्थ ही नही कर पा रहा है तो यह कही न कही तो रमेगा ही । रमेगा विषयोमे तो वह विषयोमे ही प्रीति रखेगा । और उन विषयो के सिवाय अन्य जगह जायगा नही । इसे ज्ञान ध्यान तप आदि शुभ प्रसग भी नही सूझेंगे ।

धर्मपालनकी निष्पक्ष पद्धति—आत्माका हित, आत्माका धर्म, जिसको पालन करनेसे नियमसे शान्ति प्राप्त होगी वह धर्म कही बाहर न मिलेगा । कोई निष्पक्ष बुद्धिसे एक शान्ति का ही उद्देश्य ले ले और विशुद्ध धर्मपालन करनेकी ठान ले तो वह सब कुछ अपने ज्ञान-

स्वरूपका निर्णय कर सकता है। कभी यह धोखा हो कि सभी लोग अपने-अपने मजहबकी गाते है, कहाँ जाकर हम धर्मकी बात सीखे ? जिस कुलमे जो उत्पन्न हुआ है वह उस ही धर्म की गाता है। जो जिस कुलमे, धर्ममे उत्पन्न हुआ वह रूढिवश उसी धर्म और कुलकी गाता है। पर कहाँ है धर्म, कैसा है धर्म, किस उपायसे शान्तिका मार्ग मिल सकेगा ? सदेह हो गया हो और सदेह लायक बात भी है। अपने-अपने पक्षकी ही सब गाते है, सदेह होना किसी हद तक उचित ही है। ऐसी स्थितिमे एक काम करे। जिस कुलमे, जिस धर्ममे आप उत्पन्न हुए है उसकी भी बात कुछ मत सोचे, जो कोई दूसरे धर्मोकी बात सुनाता हो उनको भी मत सुने। पर इतनी ईमानदारी अवश्य रक्खे, इतना निर्णय कर ले कि इस लोकमे जो भी समागम मिले है धन वैभव, स्वजन, मित्रजन, ये सब भिन्न है और असार है. इतना निर्णय तो पूर्ण कर ले। इसमे किसी मजहबकी बात नही आयी, यह तो एक देखी और अनुभव की हुई बात है।

उदासीनतामे अन्तस्तत्त्वका सुगम दर्शन—धन, कुटुम्ब, घर, इज्जत, ये सब चीजे चद दिनोकी बाते है, मायामयी है। सदा रहना नही है, मरने पर ये साथ निभाते नही है और जीवनके भी ऐसे अनुभव है कि जो कुछ मिला है वह सिद्धि करने वाला नही है। इन सब अनुभवोके आधारपर इतना निर्णय करले कि समस्त परपदार्थ मेरे हितरूप नही है, न्यारे है, उनका परिणमन मुझमे हो ही नही पाता। ऐसा निर्णय करनेके बाद किसी भी धर्म, किसी भी पक्ष मजहबकी बात न सुनकर बस आरामसे कुछ क्षणके लिए बैठ जाएँ। कुछ नही किसीकी सुनना है, सब अपनी अपनी गाते है। हम कहाँ सच्चाई ढूँढनेके लिए दिमाग लगाएँ ? इस कारण समस्त परको उपयोगसे हटाकर विश्राम पाये तो परमतत्त्व स्वय दृष्ट हो जायेगा।

दुर्लभ अल्प जीवनका सदुपयोग—भैया! जीवन थोडा है, कुछ वर्षोकी जिन्दगी है। हम बडे-बडे शास्त्रसिद्धान्तोको जाने तो १०–५ वर्ष तो भाषा सीखनेमे ही लगेगे, और फिर एकसे एक बडे धुरन्धर शब्द शास्त्रके विद्वान पडे है। उनमे भी कोई कुछ अर्थ लगाते है, कोई कुछ। तो हमे किसीकी नही सुनना है, किसीकी नही मानना है, परम विश्रामसे बैठे, ईमानदारीमे रच भी बाधा मत डाले। समस्त परद्रव्य भिन्न है, कोई मेरा हित नही कर सकते। इस निर्णयको रच भी न भूले।। यदि किसी परपदार्थमे हितबुद्धि की तो अपने आपके बल से धर्मका पता लगानेका कोरा ढोग ही है। इतना निर्णय हो तब अपने आप स्वयके विश्रामसे स्वयमे वह ज्ञानज्योति प्रकट होगी जो निष्पक्ष सब समाधानोको हल कर देगी।

ज्ञानमयकी अनुभूतिमे आनन्दविकास—न होता 'यह मै' ज्ञानमय तो जान कहाँसे लेता ? जो पदार्थ ज्ञानमय नही है वह कदाचित् जान ही नही सकता है। ऐसा कोई भी उदा-

हरण दो कि अमुक पदार्थ है तो ज्ञानरहित, पर जान रहा है । नही उदाहरण दे सकते । जो ज्ञानमय है, ज्ञानघन है वही जाननहार बन सकता है । यह मै आत्मा ज्ञानमय हू और मुझे ज्ञान करना है यथार्थ धर्मका । तो जिसके जाननेका स्वभाव है वह जानेगा ही, वही बात जो यथार्थ है, हॉ रागद्वेष मोहका पुट होगा, श्रद्धा विपरीत होगी तो यह ज्ञानकला विफल हो जायगी, पर श्रद्धा यथार्थ हो, परपदार्थसे अलगाव हो तो यह ज्ञान सही काम करेगा, तब अपने आपके ज्ञान द्वारा ही यह ज्ञानस्वरूपका अभ्यास करने लगेगा, और उस स्थितिमे अद्भुत आनन्द प्रकट होगा ।

मनोविनयसे आनन्दका उद्यम—जो आनन्द ज्ञानानुभूतिमे होता है वह आनन्द भोजन पानकी समृद्धिमे नही मिलता, क्योकि उस प्रसगमे विकल्पजाल निरतर बने रहते है । एक ग्रास मुँहमे से नीचे गया, झट दूसरे ग्रासकी कल्पना हो उठती है, यह कल्पनावोकी मशीन बहुत तेजीसे चलती रहती है । एक क्षणमे ही कितनी ही कल्पनाएँ कर डालते है और यह उपयोग कितनी जगह दोड आता है, बडी तीव्र गति है इस मनकी । इस मनका नाम किसीने अश्व रक्खा है । अश्व उसे कहते है जो आशु गमन करे, जो शीघ्र गमन करे । नाम किसीका कही नही है । इस मनका नाम अश्व है । किसी जमानेमे लोगोने अलकारमे मनोविजयका नाम अश्वमेध यज्ञ रख दिया होगा, इस मनको वशमे करके जहाँ एक आध क्षण विश्राम लिया जाता है तो उसे बडा अद्भुत आनन्द प्रकट होता है । बस उसमे सब निर्णय हो जाता है कि हमको क्या करना है ? शान्तिके लिए बस ज्ञाताद्रष्टा रहना, रागद्वेष रहित बनना, यही एक धर्मका पालन है ।

ज्ञानियोका आराध्य—भैया ! अब सुनिये व्यवहारकी बात । हम किसे पूजे, किसे माने ? अरे जो अपूर्व ज्ञानप्रकाश और शुद्ध आनन्दका अनुभव किया था यह तो करना है ना, यही तो धर्म है ना, यह बात जहॉ सातिशय प्रकट हो वही इसका आराध्य हुआ, कहॉ झझट रहा, नामपर दृष्टि मत दो, स्वरूपपर दृष्टि दो । नामके लिए चाहे जिन कहो, चाहे शिव कहो, ईश्वर कहो, ब्रह्मा कहो, विष्णु, बुद्ध, हरि, हर इत्यादि कुछ भी कहो, ये सब स्वरूपके नाम है । स्वरूप जहॉ सातिशय ज्ञान और सातिशय आनन्दको पाये वही हमारा आदर्श है । हमे क्या चाहिए ? वही जो अभी अनुभवमे लाया था । परपदार्थमे दृष्टि हटाकर क्षणिक विश्राम लेकर जो हमने अनुभव किया था वही मुझे चाहिए । इतनी अध्यात्मदृष्टि न रहेगी तो बाहर मे यह अनुभवी पुरुष उस ही स्वरूपकी शरण जायगा जहॉ यह शुद्ध ज्ञान पूर्ण प्रकट हुआ है और शुद्ध आनन्द पूर्ण विकसित हुआ है । बस नामकी दृष्टि तो छोड दो और स्वरूपको ग्रहण करलो ।

व्यवहारभक्तिमे आश्रयका प्रयोजन—व्यवहारमे नामका आश्रय इसलिए लिया

जाता है कि हम कुछ जाने तो सही कि ऐसा भी कोई हो सका है क्या, या हम ही कोरी कल्पना बना रहे हैं, उसके निर्णयके लिए नाम लिया जाता है, ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, रामचद्र महावीर, हनुमान, लेते जावो नाम, जो जो भी निर्वाण पदको प्राप्त हुए उनका नाम किस लिए लेते हैं, यह मर्म देखनेके लिए कि हम ऐसा बन सकते हैं या कोरी गप्प तो नही है। ये-ये लोग निर्वाणको प्राप्त हुए हैं—ऐसा अपनेमे निर्णय बनानेके लिए नाम लिया जाता है, पर नाममे स्वरूप नही है, स्वरूप तो स्वरूपके आधारमे है। जो पुरुष इस स्वरूपमे बसता है, अपने उपयोगको टिकाता है वह इस स्वरूपमे ही प्रेम करेगा, वही वही सर्वत्र उसे दिखेगा। कामी पुरुषको सर्वत्र कामिनी और रूप और ऐसे ही विषय दिखते है क्योकि उसका उपयोग उसीमे बस रहा है। तो योगियोको दर्शन सर्वत्र उस योग-योगका ही होता है।

आशयके अनुसार दर्शन—जो पुरुष ईमानदार है, सत्य बर्ताव और सत्य आशय रखता है उसे दूसरे जीवके प्रति यह छली है अथवा किसीको पीडा करने वाले विचारका है, इस प्रकार विश्वास नही होता है। सहज तो नही होता है। कोई घटना आ जाय ऐसी तब वह ख्याल करता है, ओह! यह ठीक कह रहा था, यह ऐसा ही है। जो धूर्त है, झूठा है, दगाबाज है उसे और लोगो पर ये सच्चे है ऐसा विश्वास नही होता है। सहज नही होता। बहुत दिन रम जाय, रह जाय, घटनाए घटे तो यह विश्वास करता है। जो जिस भावमे रहता हुआ ठहरता है वह उस भावमे ही प्रीति करता है। विषयोमे रमने वाले व्यामोही पुरुषकी विषयोमे ही प्रीति रहती है और विषयोसे अतिरिक्त कोई धार्मिक प्रसग मिल जाय तो वहाँ घबडाहट पैदा होती है। कभी-कभी पूजा करनेमे, दर्शन करनेमे कितने उद्वेग रहते है? झट बोले, जल्दी करे, क्योकि उपयोग दूसरी जगह रम रहा है। यहाँ मन नही लगता है। और ज्ञानी जीवको व्यवसाय, दुकान, व्यवहार इनमे मन नही लगता है। यह जल्दी समय निकल जाय, दर्शनका, प्रवचनका, वाचन का, जल्दी छुट्टी मिले इसके लिए अज्ञानी अपनी तरस बनाता है। जो जहाँ रहता है उसको उसहीमे प्रीति होती है। यही देखो—जो मनुष्य जिस नगरमे, जिस शहरमे, जिस गाँवमे रहता है उसका प्रेम वहाँके मकान आदिसे हो जाता है। जिस टूटे फूटे मकानमे रह रहे है, उसकी एक-एक इच भूमि और भीत ये सब कितने प्रिय लग रहे है, और पास ही मे किसी की अट्टालिका खडी है तो उससे प्रीति नही रहती। यह सब उपयोगमे बसनेकी बातका प्रभाव है।

आत्मीयकी प्रियता—किसी सेठने एक नई नोकरानी रखी, सेठानीका लडका एक स्कूलमे पढ़ता था, उस नौकरानीका लडका भी उसी स्कूलमे पढता था। सेठानी रोज दोपहरको खानेको एक डिब्बेमे कुछ सामान रखकर अपने लडकेको दे देती थी, पर एक दिन देना भूल गयी। सो सेठानीने नोकरानीसे खानेका सामान लडकेको दे आनेके लिए कहा। वह बोली कि

मैं अभी तुम्हारे लडकेको नही पहिचानती तो सेठानी अभिमानमे आकर बोली कि हमारे लडके को क्या पहिचानना है ? जो लडका सब लडकोंमे सुन्दर हो वही हमारा लडका है । सम्भव है कि ऐसा ही रहा हो । वह नौकरानी वह सामान लेकर स्कूल पहुची तो वहाँ उसे अपने लडके से सुन्दर कोई लडका न दिखा । सो उसने अपने ही बच्चेको सारी मिठाई खिला दी और घर वापिस आ गई । शामको जब वह लडका घर आया तो माँसे बोला कि आज तुमने हमे खाने को कुछ भी नही भेजा, सो मा कहती है कि मैने नौकरानीके हाथ भेजा तो था । नौकरानीको बुलाकर पूछा कि हमारे बच्चेको खानेको सामान नही दिया था क्या ? तो नौकरानी बोली कि दिया तो था । तुमने ही तो कहा था कि स्कूलमे जो सबसे अच्छा बच्चा हो, वही हमारा बच्चा है, सो मुझे तो सबसे अच्छा बच्चा मेरा ही दिखा तो उसीको मिठाई देकर मैं चली आयी । यही है सब मोहियोकी दशा । जो जिस परिवारमे, समागममे रह रहा है उसकी उसमे ही प्रीति हो जाती है ।

बाधकसे मधुर भाषरा बाधकताके विलयका कारण— अरे तुम ही हमारी शरण हो, तुम ही सबसे प्यारे हो, ऐसे दो चार शब्द ही तो बोल देना है, फिर तो जी जान लगाकर वह आपकी सेवा करेगा । कितनी मोहकी विचित्र लीला है ? इतनेपर भी इतना नही किया जा सकता है कि मधुर शब्द बोल दें । मधुर वचन बोलनेमे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द मिलेगा, सकट न रहेगे, लेकिन जिसपर मोह है उसके प्रति तो मधुर वचन बोले जा सकते है और जहाँ मोह नही है वहाँ मधुर वचन बोलना कुछ कठिन हो जाता है और जिन्हे अपने विषय-साधनोमे बाधक मान लिया उनके प्रति तो मधुर बोल बोल ही नही सकते । यदि उनसे भी मधुर वचन बोल ले तो बाधक बाधकताको त्यागकर साधक बन सकते है, पर इतना इस मोही पुरुषसे नही हो पाता है ।

अध्यात्मरमणका कारण—प्रकरणमे यह कहा जा रहा है कि जो जहाँ ठहरता है वह उस ही मे प्रीति करता है, और उनमे ही सुखकी कल्पना करके बार बार भक्तिका यत्न करता है और आनन्दधाम जो निजस्वरूप है उसकी ओर झाककर भी नही देखता है । लेकिन जब दृष्टि बदल जाती है, अध्यात्ममे श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तब बाह्य पदार्थोंसे हटकर एक निज शुद्ध स्वरूपकी ओर ही रति हो जाती है । तब चिन्तन और मननके अभ्यासके बाद सहज शुद्ध आनन्दका अनुभव होने लगता है । अब उसे बाह्यपदार्थ रच भी रुचिकर नही रहते है । क्या वजह है कि यह योगी अपनेमे ही रम रहा है और बाहरमे नही रमना चाहता ? इस प्रश्नका उत्तर इस श्लोकमे दिया है । जिसे अपने स्वरूपमे ही रति है वह वही रहकर आनन्द पाया करता है ।

अगच्छंस्तद्विशेषेण मनभिज्ञश्च जायते ।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयते न विमुच्यते ।।४४।।

विशेषोंके अनुपयोगसे बन्धनका अभाव—जिस मनुष्यका उपयोग जिस विषयमे चिरकाल तक रहता है उसकी उस विषयमे ही प्रीति हो जाती है, फिर वह पुरुष उस ही मे रमता है । उस विषयके सिवाय अन्य किसी भी जगह उसका चित्त नही जाता है । जब उसका चित्त किसी अन्य विषयमे नही जाता है तो उन विषयोकी विशेषतावोका भी वह अनभिज्ञ रहता है । विशेषताएँ क्या है । यह वस्तु सुन्दर है, यह असुन्दर है, इष्ट है, अनिष्ट है, मेरा है, तेरा है आदिक जो विशेषतावोकी तरगे है वे कहाँसे उठे ? जब उस विषयके सम्बन्धमे उपयोग दिया ही नही जा रहा है तो वे विशेष कहाँसे उत्पन्न होगे । जब वे विशेष उत्पन्न नही हुए अर्थात् परपदार्थके सम्बधमे इष्ट अनिष्ट भावना न हुई तो यह जीव बँधता नही है बल्कि आत्मसयम होनेके कारण मुक्त हो जाता है ।

स्नेहका गुप्त, विलक्षण, दृढ बन्धन—लोकमे भी देख लो, जिसको इष्ट माना उसीका बन्धन लग गया । आप सब यहाँ बैठे हैं, प्रदेशोमे न घर बँधा है, न स्वजन परिजन बँधे है, सब पदार्थ अपने अपने स्थानमे है, लेकिन चित्त उनमे है, उनका स्नेह है तो आप घर छोडकर नही जा सकते । यह बन्धन कहाँसे लग गया ? न कोई रस्सीका बन्धन है, न साकलका बन्धन है, न कोई पकडे हुए है । यह ही खुद स्नेह परिणमनसे परिणमकर बँध जाता है । इस पदार्थ का विशेष ज्ञान न हो तो स्नेह क्यो होगा ? चारुदत्त सेठ जब लोकव्यवहारकी बातोसे परे रहता था, उसकी निष्काम प्रवृत्ति थी, विवाह हो जानेपर भी वह अपनी केवल धर्मसाधनामे ही रहता था । तब परिवारने चिता की कि यह तो घरमे रहते हुए भी विभक्त है, ऐसे कसे घर चलेगा तो उपाय रचा । वह उपाय क्या था, किसीसे स्नेहका परिणमन तो आ जाय । न घरमे सही, पर एक वह प्रगति तो बन जाय कि यह स्नेह करने लगे । उपाय ऐसा ही किया । वेश्याकी गलीमे से उसका चाचा चारुदत्तको साथ लेकर गया । पहिलेसे ही प्रोग्राम था । सामनेसे कोई हाथी छुडवाया गया । उससे कैसे बचे सो एक वेश्याके घर वे दोनो चले गए । जान तो बचाना था । वहाँ जाकर शतरज आदि खिलवाया और जो जो कुछ खटपट है उनमे भुलाया । यह चतुर था, यह भी खेलमे शामिल हो गया । बस स्नेहका बधन बँध गया । सबसे बडा बन्धन है स्नेहके बन्धनसे जकड देना ।

स्नेह बन्धनमे विडम्बनायें—एक दोहामे कहते है—(हाले फूले वे फिरें होत हमारी व्याव । तुलसी गाय बजायके देत काठमे पाव ।।) केवल एक विवाहकी बात नही है । किसीसे किस ही प्रकार स्नेहका बन्धन हो जाय तो वह जीवनमे शल्यकी तरह दुःख देता है । परिचय हो गया ना अब । बोलचाल रहनसहन सब होनेसे स्नेह बन गया । अब इस मोहीकी दृष्टिमे

जगतके अन्य जीव कुछ नही लगते और ये एक दो जीव उसके लिए सर्व कुछ है । घरका आदमी जिससे स्नेह बन्धन है, बीमार पड जाय तो कर्जा लेकर भी उसका उपचार करना है । घरको तो सब लगा ही देगा और कदाचित कोई पडोसी बीमार हो जाय तो कुछ भी लगा सके ऐसी हिम्मत भी नही कर पाता । कोई धर्मात्मा बीमार हो जाय तो उसके लिए कुछ भी नही है । यदि कुछ थोडा बहुत लगाया जाता तो लोकलाजसे, पर जैसे भीतरसे एक रुचि उत्पन्न होकर घरवाले की सेवा की जाती है इस प्रकार अतरगसे रुचि उत्पन्न होकर किसी धर्मात्माजनोकी सेवा की जा सके, ऐसा नही हो पाता है । ये सब मोहके नचाये हुए कहाँ-कहा क्या-क्या नाच नचते हैं ? रहना कुछ नहीं है साथमे । चद दिनोकी चाँदनी है, छोडना सब कुछ पडता है, पर उन ही चद दिनोमे ऐसी वासना बना लेते है कि भव-भवमे क्लेश भोगने पडते है ।

आत्मगुणानुरागमे बाह्यका अनुपयोग—जो मनुष्य जिन पदार्थोंके चिन्तनमे तन्मय हो जाता है उसे तो उसमे गुण दिखते है और उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थके गुण नहीं दीखते, न दोष दीखते, हित अहित किसी भी प्रकारसे ज्ञान नहीं रहता, इसी कारण अन्यसे सम्बन्ध नहीं रहता है । ज्ञानी पुरुषको ऐसे ज्ञानप्रकाशका अनुभव होता है कि उसका चित्त अब किसी भी बाह्य विषय प्रसगमे नहीं लगता । जैसे मोही जीव विवश है ज्ञान और वैराग्यमे मन लगानेको, इसी प्रकार ज्ञानी जीव विवश है विषय प्रसगोमे चित्त लगानेको ।

गुणोको आत्मवास देनेकी प्रभुता—एक काव्यमे मानतुग स्वामी ने कहा है कि हे भगवन ! आपमे सब गुण समा गये । सारे गुणोने आपका ही आश्रय लिया । सो हमे इसमे तो कुछ आश्चर्य नहो लगता है । उन गुणोन हम सब जीवोके पास वास करने के लिए आ आकर कहा कि हमे जरा स्थान दे दो, तो हम सबने उन गुणोको ललकारा । हटो जावो यहाँ से । वे सारे गुण क्या करे, झक मार कर आपके पास आ गए । हमे इसमे कोई अचरज नही होता । इसका प्रमाण यह है कि दोषोने हम लोगोके पास आ आकर थोडी भी मिन्नत की कि थोडे दिनोको हमको भी स्थान दे दो । तो हम सबने स्थान देनेके लिए होड मचा दी । आवो सब दोष, तुम्हारा ही तो घर है । खूब आरामसे रहो, तुमसे ही तो हम मौजसे रहते है । तुम्हारी ही वजहसे तो हमारी बनती है । जब सब दोषोको हम लोगो ने स्थान दिया तो एक भी दोष आपके पास आ सके क्या ? आपमे एक भी दोष नहो आ सके क्योकि सब दोषोको हम लोगोने बडा स्थान दिया । उससे शिक्षा यह लेनी है कि स्थान तो हमारे दोष और गुणोको विराजनेके योग्य है । अब हम ऐसा विवेक करे कि जिसको स्थान देनेसे शान्ति सतोष हो सकता हो उन्हे स्थान दे ।

दोषवादसे लाभका अभाव—भैया ! लोगोमे प्रकृति दूसरोकी निन्दा करनेकी हो जाती

है, उनके प्रति देखो—दूसरोकी निन्दा कर करके वे कुछ मोटे हो गए या चारित्रवान हो गए, या कर्म काट लिए, बल्कि बात उल्टी हुई, दोषमय हो गये वे, क्योकि दोषोमे उपयोग लगाये बिना दोषोका कोई बखान कर नही सकता। जब दोषोमे उपयोग लगाया तो उपयोग देने वाला सदोष हो गया। जब यह सदोष हो गया तो उससे उन्नतिकी कहाँ आशा की जा सकती है। कुछ अपनी प्रगति बनाएँ, जिन जीवोके दोष बखाननेकी रुचि है उनके तो कषायोसे बढ-कर भी मोहका पाप समाया हुआ है। किसीका दोष खुद अपनी दृष्टि बुरी बनाए बिना बखान किया नही जा सकता है। यदि अपनी रक्षा रखनेके लिए अथवा अपने परमस्नेही किसी बन्धु की रक्षा करनेके लिए किसीके दोष बताने पडे और उसे कठिन अवसर समझा जाय कि बताय बिना काम न चलेगा, नही तो हमारे ये मित्र जो हमारी धर्मसाधनामे सहायक है इनको धोखा हो जायगा। वे अपनी व धर्ममित्रकी सुरक्षाके लिए दोष बता सकते है, अमुकमे ऐसा दोष है, उसके सगसे लाभ न होगा, पर जिसकी प्रकृति ऐसी है कि कोई अवसर नही है, कोई बात नही फसी है कि कहना ही पडे, और एकको नही अनेकको, जिस चाहेको, जो मिले उसीको दोष बखाननेकी प्रवृत्ति हो, यह कषायोके अभिप्राय बिना नही हो सकता। इससे उसको लाभ क्या मिला ? कुछ नही। जिसमे लाभ मिले वह काम करने योग्य है। कुछ आत्माका लाभ मिल जाता हो तो दोष ही बखानते रहे, पर लाभ दोष बखाननेसे नही मिलता, किन्तु अपने को गुणरत करनेसे मिलता है।

भली प्रतिक्रिया—यदि किसीके प्रति कुछ ईर्ष्या भी हो गई हो तो उसका बदला दोष बखानना नही है, किन्तु स्वय गुणी हो जाय और धर्मात्मा बन जाय तो उससे बढकर यह स्वय हो जायगा, यही भली प्रतिक्रिया है। किसी भी परवस्तुमे दोष देखनेकी आदत अपने भलेके लिए नही होती है, गुण देखनेकी आदत अपने भलेके लिए होती है। जगतमे सभी जीव है, सबमे दोष है, सबमे गुण है, पर उन दोष और गुणोमे से गुणोपर दृष्टि न जाय, दोषो पर ही दृष्टि जाय तो ऐसी वृत्ति और भी अनेक छोटे मोटे कीडे मकोडोमे भी होती है। जोक गायके स्तनमे लग जाय तो दूधको ग्रहण नही करती है, खूनको ही ग्रहण करती है और उसमे भी अच्छे खूनका ग्रहण नही करती किन्तु खोटे गदे खूनका ही ग्रहण करती है। हम ऐसी आदत क्यो व्यर्थमे बनाए, हमको क्या पडी है इसकी ?

स्नेह बन्धन—जब यह चित्त नही भ्रमता बाह्य पदार्थोमे, विशेषतावोका विस्तार नही बनाता तब यह जीव बँधता नही है। स्नेह ही विकट बन्धन है। मोहमय जगतमे मोह-मय स्नेहकी तारीफ की जाती है, किन्तु अध्यात्म जगतमे स्नेहको बन्धन बताया गया है। आत्मज्ञ योगी जिस समय ज्ञानमात्र निज अतस्तत्त्वमे रत होता है उसकी प्रवृत्ति शरीरादिक बाह्य पदार्थोमे नही होती है। उन्हे बाह्यमे अच्छे बुरेका ज्ञान भी नही रहता। इष्ट अनिष्ट

संकल्प विकल्प न होनेसे रागद्वेष रूप परिणति नही होती। हम यह न सोचे कि यह साधु सतोके करने योग्य बात गृहस्थावस्थामे क्यो जानी जाय ? यहाँ यह भावो का सौदा इस ही प्रकारका है। ऊँचा भाव बन गया, ऊँची दृष्टि बन गयी तो छोटे मोटे व्रत आगामीसे पल सकेंगे। यहाँ ऐसा माप तौल न चल सकेगा कि हम जितने व्रत करे उतनी भर दृष्टि रखे, उससे आगे हम क्यो चले ? दृष्टिबल होनेपर थोडा बहुत आचरण बना भी सकते है, ऐसे ज्ञानके रुचिया अध्यात्मयोगीके शुभ अशुभ पुण्य पाप आदिका बन्धन नही होता है, प्रत्युत छुटकारा मिल जाता है।

ज्ञानीकी विशेषोंकी उपेक्षा—यह ज्ञानी पुरुष ज्ञानमय स्वरूपके अनुभवनसे एक अनुपम आनन्दके स्वादको पा चुका है। अब यह दो भिन्न वस्तुवोके मिलापसे होने वाले जो विषय के क्षणिक सुख है उसका स्वाद लेनेमे असमर्थ हो गया है, वह तो अपने वस्तुस्वरूपको ही अनुभव रहा है, यह अपने ज्ञानानुभवके प्रसादसे विवश हो गया है विषयोमे नही लग सकता अब। अब अन्य बातोकी तो कथा छोडो, अपने आपमे उदित ज्ञानके विशेषोको भी गौण कर रहा है। जैसे दौडता हुआ पुरुष जिस जमीन परसे दौड रहा है उस जमीनको नही निरखता है, उस जमीनसे गुजर रहा है, निरख रहा है किसी अन्य लक्ष्य को। ऐसे ही यह ज्ञानी इस ज्ञानके ज्ञानसे गुजर रहा है, पर जो ज्ञान विशेष है, ज्ञेयाकार है उस ज्ञेयाकारको नही ग्रहण कर रहा है, एक निर्विकल्प ज्ञानस्वरूपको ग्रहण कर रहा है। उसके ज्ञानकी एकता होनेसे जो एक विशुद्ध आनन्द जगता है उसके आगे सब रस फीके हो जाते है।

औपाधिक भाव परिणत वस्तुमे भी सहजस्वरूपका भान—भैया ! दर्पणमे दर्पणकी स्वच्छता भी है, और दुनियाके जो भी सामने पदार्थ है उनका प्रतिबिम्ब भी है। जो विवेकी होगा वह तो प्रतिबिम्बित दर्पणमे भी स्वच्छताका भान कर सकता है। न होती स्वच्छता तो यह प्रतिबिम्ब भी कहाँसे होता, किन्तु विवेकी पुरुष जिस दर्पणमे पूरा ही प्रतिबिम्ब पडा हुआ है, किसी कोनेमे भी स्वच्छता नजर नही आती है, इस तकको तो वह दर्पणका स्वरूप नही मानता। ऐसे ही यह ज्ञानी ज्ञेयाकारकी निरन्तरा होनेपर भी ज्ञानकी स्वच्छता निहारता है। इस ज्ञानमे स्वच्छता शक्ति है और यह ज्ञान कभी भी ज्ञेयोको जाने बिना नही रहता है। अब उन ज्ञेयाकारोमे, विकल्पोसे, आकार ग्रहणसे परिणत हुए उस ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानकी स्वच्छता जो निहार सके उसे ही तो ज्ञानी कहते है। न होती वह शाश्वत स्वच्छता तो यह ज्ञेय विकल्प ही कहाँसे बन पाता ? जब उन ज्ञेय विकल्पोको ग्रहण नही किया, केवल ज्ञानको ग्रहण किया तो इसीका अर्थ यह है कि ऐसा सामान्य आकार बना कि वह ज्ञान गुणमे समा गया है, पृथक् नही मालूम होता।

ज्ञानीका ज्ञानकी ओर झुकाव—जैसे मानो जब दर्पणके सामने कोई वस्तु न रखी

हो तो दर्पण अपने आपमें इस आकारको अपने आपमें समा लेता है, वहाँपर भी स्वच्छता खाली नहीं रह सकती। वह कुछ न कुछ काम करता है। अपने ही आकारको अपनी ही स्वच्छतामें झलकाकर बना रहता है, पर स्वच्छताका कार्य न हो तो स्वच्छताका अभाव हो जायगा। ऐसे ही अध्यात्मयोगी संत ज्ञानी पुरुष ज्ञानाकारको ज्ञान द्वारा ग्रहण करके एवमेक समाकर विश्रांत और शान्त रहते हैं, उस समयका जो आनन्द है उसको जो प्राप्त कर लेता है। उसे कोई व्यवहारमें घरका उत्तरदायी होनेके कारण अथवा किन्हीं परिस्थितियोंमें बाह्य कामोंमें लगना पडे तो उसे बडा अनुताप होता है, वह खेद मानता है। इस प्रकार यहाँ तबके दर्शनसे हमें यह शिक्षा लेना है कि हम केवल घर गृहस्थी विषय धन सम्पदा सुख लौकिक बाने इनके लिए अपना जीवन न माँगें, ये सब नष्ट हो जाने वाली चीजें हैं, दुर्लभ मनुष्य जीवनसे जीकर कोई अलौकिक तत्त्वज्ञानका आनन्द प्राप्त कर लिया जाय तो वह ही परम विवेक है। यहाँ क्या है, धन कम पाया या ज्यादा पाया, तो उसमें क्या हो गया? आनन्द शान्ति तो ज्ञानके अनुरूप होती है, बाह्य धन सम्पदाके अनुरूप नहीं होती है।

सम्बन्धका धर्मसम्बन्धमें परिवर्तन—भैया! ज्ञानार्जनका मनमें आशय रखें। इस ज्ञानकी साधनाके लिए अपना तन, मन, वचन, धन सर्वस्व न्योछावर करके भी यदि कुछ ज्ञानप्रकाश पा लिया तो जीवन सफल मानें और घरके जिन लोगोंसे सम्बन्ध है उनको यह समझावो, इस सम्बन्धको सम्बन्ध भी बना रहने दो और मोक्षमार्गमें हम भी बढें, तुम भी बढो, ऐसा सत्संग भी बना लो, इस सम्बंधको वैषयिक विषयोंमें न ढालकर इस मित्रताको मोक्षमार्गकी पद्धतिमें बसा लो। मित्रता यह भी कहलायी और मित्रता वहाँ भी कहलायी। इस सम्बंध और मित्रताको मोक्षमार्गकी पद्धतिमें बदल दो। ऐसा सम्बंध बन सका तो यह असम्बंधका उत्साह देने वाला सम्बंध रहा। ये सब बातें हमें किस प्रकार मिलेंगी, सो पूजन करके रोज पढ लेते हैं। ७ चीजें रोज माँगते हो। शास्त्रोंका अभ्यास चले, सर्वज्ञ वीतराग परमात्माकी भक्ति रहे, सदा सज्जन पुरुषोंके साथ संगति रहे, गुणी पुरुषोंके गुण कहनेमें समय जाय, दूसरोंके दोष कहनेके लिए गूँगा बन जायें, और वचन कुछ भी कभी बोलने पडें तो सबको प्रिय हो और हितकारी हो। निरन्तर यह ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व ही हितरूप है ऐसी भावना रक्खें। तो इन कर्तव्योंके प्रसादसे नियमसे अलौकिक तत्त्व और आनन्द प्रकट होगा।

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥४५॥

दुःख और सुखका हेतु—परपदार्थ पर ही है, इस कारण उससे दुःख होता है और आत्मा-आत्मा ही है अर्थात् अपना अपना ही है, इस कारण उससे सुख होता है। लोकमें भी

व्यामोही जन कहते है कि अपना सो अपना ही हे, उसका ही भरोसा है, उसका ही विश्वास है और जो पराया है सो पराया ही है, न उसका भरोसा ह, न उससे हितकी आशा ही ह। आत्महितके पथमे यह कहा जा रहा है कि आत्माका जो आत्मीय तत्त्व हे, जो इसके निजी सत्ताकी बात है वह तो स्वय है, उससे तो सुख हो सकता है, और सहज स्वभावको त्यागकर अपने स्वरूपका विस्मरण करके जो अन्य परमे अपने आपको बसाया जाता हे और जो परभाव उत्पन्न होते है वे पर है, उनसे हितकी आशा नही है।

अपनी स्थितिका विचार—भैया! हम आप सब जीव कबसे है, इसका अनुमान तो करो। लोकमे जो भी पदार्थ है उनमे ऐसा कुछ नही है कि वे पहिले कुछ न थे और बादमे हो गए हो। ऐसा कुछ भी उदाहरण न मिलेगा जो पहिले कुछ भी न रहा हो और बादमे हो गया हो। यो ही अपने बारेमे विचारो, जिसमे मै मै की अन्तर्ध्वनि होती है, जिसको मै कहा जा रहा है ऐसा कोई यह पदार्थ चूँकि समझ रहा है, ज्ञान कर रहा है इसलिए ज्ञानमय ही होगा। यह ज्ञानमात्र मै तत्त्व स्वयसे बना हू। युक्ति यह निर्णय करती है कि यह मैं ज्ञान-मात्र आत्मतत्त्व सहज स्वत सिद्ध हू, मै किसीके द्वारा रचा नही गया हू। मै कबसे हू? आदिसे हू, न स्वत सिद्ध हू, तो उसका अर्थ ही यह निकला कि सदैवसे हूँ, अनादिसे हू, ऐसे अनादिसे हम और आप है, इन दृश्यमान पर्यायोसे मै विविक्त हू। खुद भी समझ रहे है कि ४०-५० वर्षसे यह पर्याय है, पर इसके पहले मै था या न था—इसपर विचार कीजिए। ऐसा तो नही हो सकता कि इस मनुष्य भवसे पहिले मै शून्य था या अविकारी था, क्योकि शुद्ध होता तो कोई कारण नही है कि यह आज अशुद्ध रहता। था शुद्ध अनादिसे तो शुद्ध रूप ही तो होऊँगा, फिर कैसे आज अशुद्ध हो गया?

आखो देखा निर्णय—जैसे हम मनुष्योको और मनुष्यको छोडकर अन्य जीवोको देखते है और इस ही प्रकारके अन्य भी अनेक जीव जो आखो दिखनेमे नही आए किन्तु परोक्षसे आज भी किसी परको जान लेते है, ये सब अनादिकालसे ऐसी ही चतुर्गति योनियोमे भ्रमण करते आए है, अनन्त भव धारण किए, छोडा, फिर धारण किया। किसी भी भवका समागम आज नही है और यह भी निर्णय है कि इस भवका समागम भी आपके पास न रहेगा। आँखो दिखी भी बात है। जो भी मरण करेगे तो आज जो कुछ उनके पास समागम है क्या वह साथ देगा? अथवा यहाँ कुछ सर्वस्व है क्या अपना? कितना बडा अज्ञान अधकार छाया है कि इन समागमोका यथार्थस्वरूप नही जान सकते है। गृहस्थ है, व्यवस्था करनी पडती है, ठीक है, पर सच्चा ज्ञान तो ज्ञान साध्य बात है। कुछ भी समागम न मेरे साथ आया है और न आगे जायगा, और जब तक भी यह साथ है तब तक भी मेरेसे न्यारा है, पर है, इन सबका मुझमे अत्यन्ताभाव है। ये पर है, जो पर है, पराया है उससे हमारा क्या हित हो सकता है?

वह तो दुःखका ही निमित्त बनेगा ।

उत्तम समागमका उपयोग—आज हम आपने बहुत अच्छी स्थिति पायी है मनुष्य हुए, श्रावक कुल मिला, जहाँ अहिंसामय धर्मका सदाचारका ही उपदेश है, वातावरण है। जितने भी हम आपके इस शासनमे जो भी पर्व आते है, जो भी विधि-विधान होते है वे अहिंसापूर्ण और बडी पवित्रताको रखते हुए होते है । परम्परा भी कितनी विशुद्ध है ? शास्त्र स्वाध्यायकी भी शुद्ध परम्परा है । ग्रन्थ भी कितने निर्दोष है, जिनमे रागद्वेष मोहके त्यागका ही उपदेश भरा है, और वह मोहका त्याग एक वस्तुस्वरूपके यथार्थ ज्ञानपर अवलम्बित है, ऐसा स्वरूपका निर्णय भी इस स्याद्वाद शैलीमे किया हुआ मिलता है । कितनी उत्कृष्ट बाते हम आपको प्राप्त है । इतनी अच्छी स्थितिमे आकर भी परपदार्थोंके मोहके रागके ही स्वप्न देखा करे तो अपने हृदयसे पूछ लो कि मनुष्य बनकर कौनसी ऐसी अलौकिक चीज पायी, जिससे हम यह कह सके कि हमने मनुष्य जन्मको सफल किया । सफलता तो उसे कहते है जिसके बाद ऊँची स्थिति मिले । मनुष्य होनेके बाद कीडा मकोडा हो गए, वृक्ष पतिगे बन गए तो मनुष्य जन्म पानेकी सफलता कैसे कही जा सकती है ?

निजहितके बिना परहित कैसा—भैया ! अपने स्वार्थकी सिद्धि प्रत्येक जीव चाहता है । स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ अपना ही अर्थ कर सकता है । जिसमे अपने आत्माका हित हो, जो भविष्यमे सदा काम आए, ऐसी कोई बात सिद्ध कर ले उससे ही जीवनमे सफलता है । यदि हम परमार्थ पद्धतिसे अपना प्रयोजन साध ले तो अनेकोका उपकार आपके निमित्तसे स्वतः बनता रहेगा और जब तक हम अपने आपके सदाचार सम्यग्ज्ञान स्वावलम्बन को तजकर केवल एक बडप्पनके लिए परके उपकारकी हम एक डीग मारे तो समझ लीजिए कि वहाँ परका उपकार भी असम्भव है और अपना भी उपकार असम्भव है । कोई पुरुष यह माने कि मै धर्मकी प्रभावना करूँ, लोगोकी दृष्टिमे यह बात बैठ जाय कि इसका धर्म बड़ा पवित्र है । मै उपदेश करूँ, उपदेश कराऊँ, और-और विधिविधानसे प्रभावना करूँ और स्वयके लिए कुछ नही, वही मोह, वही रागद्वेष, वही अतः अवगुण, वे सब बने रहे, किन्तु दूसरोमे धर्मकी प्रभावना हो, ऐसे ही दूसरे तीसरे सोच ले । १०० हो तो १०० भी सोच ले, तो प्रत्येक पुरुष ने ९९को धर्मप्रभावना करनेके लिये धर्म बतानेके लिए अथक परिश्रम किया, किन्तु वे १०० के १०० ही रच भी नही बढ सके धर्मकी ओर, न प्रभावना हुई । यदि उनमे ५ भी सत्पुरुष ऐसे निकले कि अपना उपकार और सम्यग्ज्ञानमे भाव बनाऐं तो पाचका तो उपकार हुआ, और उन पाचके अन्तरगकी बात दूसरोके अतरगमे पहुचती है ऐसी व्यवहारनीति कहती है । तो वास्तविक मायनेमे कुछ औरोका भी उपकार सम्भव है ।

समागमकी विनश्वरताका ध्यान—भैया ! अपन सबको मुख्य दृष्टि यह रखना

चाहिए कि मुझे तो अपना भला करना है। ये सब समागम किसी न किसी दिन बिछुड़ेंगे। यहाँ मेरा कुछ नही है। अपनी साधना निर्विघ्न बनी रहे, उसके लिए कमजोर अवस्थामे गृहस्थी स्वीकार करनी पडी है और कर रहे है, गृहस्थकी पदवीमे करना चाहिए, किन्तु यथार्थ ज्ञानसे यदि अपन हट गए तो मनुष्य जन्मकी सफलता न समझिए। देहादिक परपदार्थ पर ही है, इनकी प्रीतिमे आसक्तिसे केवल क्लेश ही है। इस शरीरकी सेवा करनी पडती है। शरीर स्वस्थ रहे तो हम धार्मिक व्यवहार करनेमे समर्थ रहेगे और हम अपनी ज्ञानदृष्टि रख सकेगे। ज्ञान हमने अपना शुद्ध रख पाया तो व्रत सयम बनेगा और उससे आत्महित होगा। ज्ञानी पुरुष समस्त क्रियावोको करके भी उसमे किसी न किसी ढगसे आत्महितका ही प्रयोजन रखता है। हम प्रभुकी भक्ति तो करे, पूजन वदन करे और चित्तमे उनका आदर न समझ पाये, अपने अतरगस यह ध्वनि न बन सके कि हे प्रभो ! करने लायक बात तो यही है जो आपने की। मुझे भी यही स्थिति मिले तो सकट छूट सकेगे। यदि ऐसी अन्तर्ध्वनि न निकल सके तो वदन पूजन मोक्षमार्गके सदर्भमे क्या लाभ पाया ?

निज स्वरूपकी प्रतीति—निर्णय रखिये पक्का कि जो परपदार्थ है वे पर ही है, उनके आकर्षणस, उनकी प्रीतिमे क्लेश ही होगा। जो भीतरमे चित्त रग गया है, मोह और लोभके उस रगको धोनेकी बात कही जा रही है। गृहस्थीमे रह रहे है, ठीक है, पर परपदार्थ मे जो मोहका रग रँगा हुआ है, अतरमे जो यह श्रद्धा बनी है कि मेरे तो सर्वस्व ये ही सब है, इनसे ही हित है, बडप्पन है, ये ही मेरी जान है, ऐसा जो मोहका रग चढा हुआ है जो कि बिल्कुल व्यर्थ है, उसे मेटिये। कुछ दिनकी बात है, छोडकर सब जाना ही पडेगा। परसे उपेक्षा करके आत्मरुचि बढा लो। यह तो अपने हितकी बात है किसी दूसरेको सुनाना नही है, घर कुटुम्बके लोगोसे कुछ कहनेकी जरूरत नही है कि तुम सब पर हो, नरक निगोदकी खान हो, तुम्हारी प्रीतिसे दुर्गति ही होगी, ये तो लडाईके उपाय है। किसीसे कुछ कहनेकी बात नही कही जा रही है किन्तु अपने चित्तमे सही ज्ञान तो जगावो। बात जो हो उसे मान लो, बडा आनन्द होगा, आपका बोझ दूर हो जायगा।

निर्भारके अवलम्बनमे भारका हटाव—भैया ! मोहका जो बोझ लदा है, जिससे शान्तिका मार्ग नजर नही आता है उस बोझके हटानेमे कुछ कठिनाई मालूम हो रही है क्या ? आज एक कुटीमे इन अनन्त जीवोमे से कोई दो चार जीव आ गए। ये दो चार जीव न आते, कोई और ही आते तो उन्हे भी अपना माननेकी आदत थी। जिसे अपना माना है कोई हिसाबसे नही माना है। जो आया सामने उसे ही अपना माना है। मोहकी आदत इसमे पडी है ना, सो जो भी जीव सामने सगमे प्रसगमे आ गया उसे ही अपना मान लेते है, ऐसी अट-पट बात है यह। जैसे अनन्त जीव भिन्न है, इस ही प्रकार ये जीव भी भिन्न है ऐसा यहाँ

निर्णय अपने अतःकरणमे लीजिये। कुछ कहने सुननेसे आनन्द नही आता है। भीतरमे ज्ञानका और इस प्रकारके श्रद्धानका आनन्द आया करता है।

स्निह्यके वियोगमे क्लेशकी अनिवार्यता—भैया! सभीको सुख प्रिय है, अशान्ति दूर हो, शान्ति उत्पन्न हो, इसके लिए ही सबका प्रयत्न है। वह शान्ति परमार्थसे वास्तवमे जिस भी उपायमे मिलती हो उसको मना तो नही करना चाहिए। खूब परख लो, किसी भी विषय साधनके सञ्चयमे, किसी भी परपदार्थके उपयोगमे आसक्तिमे, कभी क्या शान्ति मिल सकती है ? इस उपयोगने जिन परपदार्थोको विषय किया है वे तो नियमतः विनाशीक है, वे मिटेगे, तो यह उपयोग फिर इनकी कल्पनामे निराश्रित होगा ना, तब क्लेश ही तो होगा। इस उपयोगसे जिस परपदार्थका विषय आता है वह पर स्वयकी अपनी परिणतिमे परिणमता है, परपदार्थका परिणमन उसके ही कषायके अनुरूप होगा। परपदार्थका उपयोग और प्रेम केवल क्लेशका ही कारण होता है। चलते, जाते, फिरते, सफर करते हुएमे भी कही एक आध दिन टिक जाय, कुछ वार्तालापके प्रसगमे कुछ स्नेह भाव बढ जाय तो उनके वियोगके समय भी कुछ विषादकी रेखा खिच जाती है। यद्यपि जिसमे वार्तालाप होता है वह अन्य देश, अन्य नगर, अन्य जातिका है, सर्व प्रकारसे अन्य-अन्य है, कुछ प्रयोजन नही है, केवल कभी जीवन मे मिल गया है। दो एक घटेको रेलमे सफर करते हुए, उससे कुछ वार्तालाप होनेका स्नेह जग गया, अब वह अपने निर्दिष्ट स्टेशनपर उतरेगा ही, तो वहाँपर उस स्नेह करने वालेके एक विषादकी रेखा खिच जायगी। ऐसा ही यह जगतके जीवोका प्रसग है। इस अनन्तकाल मे कुछ समयके लिए यहाँ कुछ लोग मिल गए है। जिन पुत्र, मित्र, स्त्री आदिकसे स्नेह बढ गया है उनका जब विछोह होगा तो इसे क्लेश होगा। बिछुडना तो पडेगा ही।

भेदविज्ञानके निर्णयकी प्रथम आवश्यकता—एक ही निर्णय है कि अपने आत्मस्वरूप को छोडकर अन्य किसी भी परपदार्थमे स्नेह किया, ममता की, चाहे कुटुम्ब परिजनके लोग हो, चाहे जड सम्पदा हो, किसी भी परपदार्थमे ममता जगी तो उसका फल नियमसे क्लेश है। हम जिस प्रभुकी आराधना करते है वह पुरुष तो केवल है ना। उनके भी घर गृहस्थी परिग्रहका प्रसग है क्या ? वे तो केवल ज्ञानपुज रह गये है, हम ऐसे ज्ञानपुजकी तो उपासना करे और चित्तमे यह माने कि सुख और बडप्पन तो घर गृहस्थी सम्पदाके कारण होता है। तो हमने क्या माना, क्या पूजन किया, क्या भक्ति की ? चित्तमे एक निर्णय रख लीजिए और इस ही बातके निर्णयमे यदि बुद्धि नही आती है तो इसका निर्णय प्रथम कीजिए। भेद-विज्ञान जगे बिना धर्मपालनकी पात्रता न आ सकेगी। स्वयके हितका उपाय बना लेना सर्वो-त्तम व्यवसाय व पुरुषार्थ है, उससे आँखे नही मीचना है।

परसे आनन्दप्राप्ति असंभव—ये सब समागम तो एक पुण्य पापके ठाठ है, भिन्न है,

सदा रहनेके नही है, इनके समागमके समय भी हित नहीं है और वियोगके समय क्लेशके निमित्तभूत हो सकते है। इन जड पदार्थोंसे क्या हित है ? जिन पदार्थोंमे स्वय सुख नही है वहाँसे सुख निकलकर मुझमे कहाँ आयगा ? जो चेतन भी पदार्थ है, परिजन, मित्रजन उनमे सुख गुण तो है, किन्तु वह सुख गुण उनमे ही परिणमन करनेके लिए है या उनका कुछ अश मुझमे भी आ सकता है ? उनमे ही परिणमन करनेके लिए उनका सुख गुण है। जब इतना अत्यन्त भेद है फिर उनमे आत्मीयताकी कल्पना क्यो की जाय ? जो उन्हे अपना मानेगे उनके वियोगमे अवश्य दुःखी होगा। गृहस्थ जनोका यह सामान्य कर्तव्य है कि यह निर्णय बनाए रहे, सयोगके कालमे भी जो जो कुछ यहाँ मिला है नियमसे अलग होगा, ऐसी श्रद्धा होगी तो सयोगके कालमे यह जीव हर्षमग्न न होगा। सयोगके कालमे जो हर्षमग्न न हो वह वियोगके कालमे भी दु ख न मानेगा।

आत्मलाभका उपाय—भैया ! किसी भी परसे आत्माको सुख नही, केवल जो आत्म-पदार्थ है, ज्ञायकस्वरूप है वह ही अपना सर्वस्व है। उसे अपनानेसे, उसमे ही यह मात्र मै हू, ऐसी प्रतीति करनेसे सुख मिलेगा। बडे-बडे महापुरुष तीर्थंकरोने भी यही मार्ग अपनाया था, जिसके फलमे आज उनमे अनन्त प्रभुता प्रकट हुई है। हम आप उनके उपासक होकर उस स्वरूपकी दृष्टि न करे तो कैसे हित हो ? अपना जीवन सफल करना चाहते है तो यही बडा तप करने योग्य है कि उस अपने ज्ञायकस्वरूपको आत्मा मानकर, अपना मानकर उसमे ही उपयोग लीन बनाए रहे, इसे चैतन्यप्रतपन कहते है। यही प्रतपन है और इस प्रतपनका प्रताप अनन्त आनन्दको देने वाला है। अपना यही एक निर्णय रखिए कि ये देहादिक समस्त पर-पदार्थ है, इनकी प्रीतिमे हित नहीं है, किन्तु ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आत्माको 'यह मै हू' ऐसा अनुभव करे तो इसमे ही हित है।

अविद्वान् पुद्गलद्रव्य योऽभिनन्दनि तस्य तत्।
न जातु जन्तो सामीप्य चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥४६॥

मोहोकी मान्यता—जो अविद्वान् व्यवहारी पुरुष पुद्गल द्रव्यको, यह मेरा है, यह इनका है—इस प्रकारसे अभिनन्दन करते है अर्थात् मानते है उन जतुवोका इस बहिर्मुखतामे भ्रमण नही छूटता और चारो गतियोमे ये पुद्गल द्रव्य उसके निकट रहते है। लोकमे ६ जातिके पदार्थ होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमे जीव तो अनन्तानन्त है, पुद्गल जीवोसे भी अनन्तगुणे है। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाश द्रव्य एक है और कालद्रव्य असख्यात है, ये सभी स्वतत्र है, किन्तु मोही जीव स्वतत्र नही समझ पाता।

जीवकी अनन्तानन्त गणना—जीव कैसे अनन्तानन्त है, यह बात अनुभवसे भी जान

रहे है । आपका अनुभवन, परिणमन केवल आपके आत्मामे हो रहा है, उसका अनुभव मुझमे नही होता । मेरे आत्माका जो परिणमन जो अनुभवन हो रहा है वह मुझमे हो रहा है, आप सब किसीमे भी नही हो रहा है । यह वस्तुस्वरूपकी बात कही जा रही है । ध्यानपूर्वक सुननेसे सब सरल हो जाता है । अपनी बात अपनी समझमे न आए, यह कैसे हो सकता है ? जब इतना क्षयोपशम पाया है कि हजारो लाखोका हिसाब किताब और अनेक जगहोके प्रबध जब कर लिए जा सकते है इस ज्ञानके द्वारा तो यह ज्ञान अपने आपमे बसे हुए स्वरूपको ही न जान सके, यह कैसे हो सकता है, किन्तु व्यामोहको शिथिल करके जगतकी असारता सामान्यरूपसे निगाहमे रखकर कुछ **अतःउपयोग** लगाये तो बात समझमे आ जाती है । हाँ जीव अनन्तानन्त कैसे है—इस बातको कहा जा रहा है । हमारा परिणमन, हमारा अनुभवन हम ही मे है, आपका आप ही मे है । इससे यह सिद्ध है कि हम आप सब एक एक स्वतत्र स्वतत्र जीव है । यदि इस जगतमे सर्वत्र एक ही जीव होता तो हमारा विचार हमारा अनुभवन सबमे एक साथ, एक समान अथवा वहीका वही होता । यो ऐसे ऐसे एक एक करिके समस्त जीव अनन्तानन्त विदित कर लेना चाहिये ।

एक द्रव्यका परिमाण—एक पदार्थ उतना होता है जिसमे प्रत्येक परिणमन उस पूरेमे होना ही पडे । कोई परिणमन यदि पूरेमे नही हो रहा है तो समझो कि वह एक चीज नही है । अनन्तानन्त वस्तु है, जैसे कोई कपडा एक ओरसे जल रहा है तो वह एक चीज नही जल रही है । उसमे जितने भी ततु है वे सब एक एक है और उन ततुवोमे जितने खड हो सकते है वे एक-एक चीजे है । और उस एक-एक खडमे जो एक-एक अणु है, जिसका कोई दूसरा खड हो ही नही सकता ऐसा अणु एक-एक द्रव्य है । यह अनेक द्रव्योका पिड है इस कारण एक परिणमन उस पूरेमे एक साथ नही हो रहा है । जिसको कल्पनामे एक माना है, इस तरह हम आप सब अनन्त जीव है ।

जीवोसे अनन्तगुणे पुद्गलोका निरूपण—जीवसे अनन्तगुणे पुद्गल है । यह कैसे माना जाय ? यो देखिए—इन ससारी जीवोमे एक जीवको ले लीजिए—एक जीवके साथ जो शरीर लगा है उस शरीरमे अनन्त परमाणु है और उस शरीरके भी अनन्तगुणे परमाणु इस जीवके साथ लगे हुए तैजस शरीरमे है और उससे भी अनन्तगुणे परमाणु जीवके साथ लगे हुए कार्माण शरीरमे है । एक जीवके साथ अनन्त पुद्गल लगे हुए है और जीव है अनन्तानत तो पुद्गल समझ जाइए कितने है । यद्यपि सिद्ध भगवान स्वतत्र एक एक है और वे भी अनन्त है, किन्तु सिद्धसे अनन्तानन्त **गुणे** ये ससारी प्राणी है, इसलिए उससे भी हिसाबमे बाधा नही आती है । अब आपके ये अणु-अणु एक-एक है, हम आप सभी जीव एक-एक अलग-अलग है । तो यह निर्णय कर लो कि मेरा करना जो कुछ हो सकता है वह मुझमे ही

हो सकता है, मै किसी दूसरेमे कुछ करनेमे समर्थ नही हू । केवल कल्पना करके मै अपनेको विकल्पग्रस्त बनाये रहता हू किसी दूसरेका कुछ करता नही हू । सुख दु ख जीवन मरण सब कुछ इस जीवके अकेले ही अकेले चलते है । कोई किसीका शरण अथवा साथी नही है । जब वस्तुमे इतनी स्वतत्रता पडी हुई है फिर भी कोई व्यामोही पुरुष माने कि शरीर मेरा है, यह मेरा है, इस प्रकारका भिन्न द्रव्य स्वामित्व माने तो उसके साथ यह शरीर सदा लगा रहेगा अर्थात् वह ससारमे भ्रमण करता रहेगा । जीवके प्रतिबोधके लिए प्रत्येक मिथ्या वासनाएँ हट जानी चाहिएँ ।

क्लेशमूल तीन अवगुण—एक तो परपदार्थमे अपना स्वामित्व मानना और दूसरे परपदार्थोका आपको कर्ता समझना, अपने आपको परपदार्थोको भोगने वाला समझना । देखिये ये तीनो ऐब ससारी प्राणीमे भरे पडे हुए है । इन तीनोमे से एक भी कम हो तो वे तीनो ही कम हो जायेगे । मोहमे परजीवोके प्रति कितना तीव्र स्वामित्वका भाव लगा है, ये ही मेरे है । जो कुछ कमाना है, जो कुछ श्रम करना है केवल इनके खातिर करना है । बाकी जगतके अन्य जीवोके प्रति कुछ भी सोच विचार नही है । कर्तृत्व बुद्धि भी ऐसी लगी है कि इन बच्चोको मैने ही पाला, मैने ही अमुक काम किया, ऐसी कर्तृत्वबुद्धि भी लगी है, पर परमार्थत कोई जीव दूसरे पदार्थका कुछ कर सकने वाला नही है । यह मिथ्या भ्रम है कि कोई अन्य किसीको कुछ कर सके, अथवा किसीकी गल्तीसे किसी दूसरेको नुक्सान सहना पडता है । जो भी जीव दु खी होते है वे अपनी कल्पनासे दु खी होते है, किसीको दुःखी करने की सामर्थ्य किसीमे भी नही है ।

कर्तृत्वके भ्रमपर एक दृष्टान्त—एक सेठ था, उसके चार लडके थे । बडा लडका कमाऊ था, उससे छोटा जुवारी था, उससे छोटा अधा और सबसे छोटा पुजारी था । बडे लडकेकी स्त्री रोज-रोज हैरान करे कि देखो तुम सारी कमाई करते हो, दूकान चलाते हो और ये सब खाते है । तुम न्यारे हो जावो तो जितना कमाते हो सब अपने घरमे रहेगा । बहुत दिनो तक कहासुनी चलती रही । एक बार सेठसे बोला बडा लडका कि पिताजी अब हम न्यारे होना चाहते है । तो सेठ बोला कि कुछ हर्ज नही बेटा, न्यारे हो जाना, पर एक बार सब लोग मिलकर तीर्थयात्रा कर लो । न्यारे हो जानेपर न जाने किसका कैसा भाग्य है ? सो चले सब यात्राके लिए । रास्तेमे एक नगरके बगीचेमे अपना डेरा डाल दिया और चार पाच दिनके लिए बस गए । पहिले दिन सेठने बडे लडकेको १० रु० देकर कहा कि जावो सबके खानेके लिए सामान ले आवो । वह सोचता है कि १० रु० मे हम तीस, बत्तीस आद-मियोके खानेको क्या लाएँ, सो उसने किसी बाजारसे कोई चीज खरीदी और पासके बाजारमे जाकर बेच दी तो १) मुनाफा मिला । अब ११) का सामान लेकर वह आया और सबको

भोजन कराया । दूसरे दिन दूसरे, जुवारी लडकेको १०) देकर भेजा, कहा बाजारसे १०) की भोजन सामग्री ले आवो । वह चला १०) लेकर । सोचता है कि इतनेका क्या लाएँ ? तीस बत्तीस आदमियोके खानेके लिए, सो वह जुवारियोके पास पहुचा और एक दावमे १०) लगा दिए, समयकी बात कि वह जीत गया, अब २०) हो गए, सो २०) की भोजन सामग्री लेकर सबको खिलाया । तीसरे दिन अधा लडका १०) लेकर भोजन सामग्री लेनेके लिए चला । उसे रास्तेमे एक पत्थरमे ठोकर लग गयी । सो सोचा कि इसे निकाल फेंके, नही तो किसी दूसरेके लग जायगा । सो निकालने लगा । वह पत्थर काफी गहरा गडा था सो उसके खोदनेमे विलब लग गया । जब वह पत्थर खोद डाला तो उसमे एक अशर्फियोका हडा मिला । उन अशर्फियो से उसने भोजन सामग्री खरीदी और सब अशर्फियोको लेकर घर पहुचा ।

चौथे दिन उस सेठने अपने लडके पुजारीको १०) देकर भोजन सामग्री लानेके लिए भेजा । उसे नगरमे मिला एक मन्दिर । उसने क्या किया कि एक चाँदीका कटोरा खरीदा, घी खरीदा और रुईकी वाती बनायी । आरती धरकर मदिरमे जाकर भजन करने लगा । भजन करते-करते जब शामके चार बज गए तो मदिरका अधिष्ठाता देव सोचता है कि इसके घरके भूखे पडे है, इसमे तो धर्मकी अप्रभावना होगी, सो उस लडकेका रूप बनाकर बहुत-सी भोजनसामग्री गाडियोमे लादकर सेठके यहाँ ले गया । सबने खूब भोजन किया और सारे नगरके लोगोको खिलाया । अब रातके ७-८ बजे वह लडका सोचता है कि अब घर चलना चाहिए । पहुचा घर रोनीसी सूरत लेकर, कहा पिता जी मैने १०) की सामग्री लेकर मदिरमै चढा दिया । पिताजी हमसे अपराध हुआ, आज तो सब लोग भूखे रह गए होगे । तो पिता पिता जी बोले—बेटा यह तुम क्या कह रहे हो ? तुम तो इतना सामान लाए कि सारे नगर के लोगोको खिलाया और खुद खाया । तो पुजारीने अपना सारा वृत्तान्त सुनाया । मै तो मदिरमे आरती कर रहा था । तो फिर मैने सोचा कि इस कटोरेको भी कौन ले जाय सो उसे भी छोडकर चला आया । चार-पाच दिन व्यतीत होनेपर एकात स्थानमे बडे लडकेको बुलाकर सेठ पूछता है—कहो भाई यह तो बतावो कि तुम्हारी तकदीर कितनी है ? तो वह बोला कि मेरी तकदीर एक रुपयेकी है, और जुवारीकी तकदीर है उससे दस गुना, और अंधे की तकदीर हजार गुना और पुजारीके गुनोका तो कोई हिसाव ही नही है । जिसकी देवता तक भी मदद करे उसकी तकदीरका क्या गुना निकाला जा सकता है ? अब उस बडे लडके की समझमे आया, और बोला—पिता जी मै व्यर्थ ही कर्तृत्व बुद्धिका अहकार कर रहा था । मै नही समझता था कि सबका भाग्य अपने-अपने साथ है । अब मै अलग न होऊँगा ।

परकी अपनायतमे विडम्बना—यह जीव भ्रमवश कर्तृत्व बुद्धिका अहकार करता है । इस जीवका तो अकर्ता स्वरूप है, केवल ज्ञाताद्रष्टा ज्ञानानन्दका पुञ्ज चित्स्वभाव मात्र

अपने आपका विश्वास बनावो । भ्रमवश यह जिस भवमे गया उस ही पर्यायरूप यह अपनेको मान रहा है । पशु हुआ तो पशु माना, पक्षी हुआ तो पक्षी माना । जैसे कि आजकल हम आप मनुष्य है तो ऐसी श्रद्धा बैठाए है कि हम मनुष्य है, इसान है । बहुत बडी उदारता दिखायी तो जातिका भेद मिटा दो, कुलका भेद मिटावो, एक मनुष्य-मनुष्य मान लो सबको । इतना तक ही बिचार पहुचता है अथवा इतनी भी उदारताका भाव चित्तमे नही आता । अरे इससे अधिक उदारता यह है कि यह मान लो कि हम मनुष्य ही नही है । मै तो एक चैतन्य तत्त्व हू । आज मनुष्य देहमे फस गया हूँ, कभी किसी देहमे था । मै कहाँ मनुष्य हू, मनुष्य भवसे गुजर रहा हू । अपने आपको विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप इस जीवने नही माना । इसके फलमे परिणाम यह निकला कि इस जीवके साथ सारी विडम्बनाएँ साथ-साथ चल रही है, जन्म मरणकी संतति बनती चली जा रही है ।

ज्ञानामृत—भेदविज्ञान ही एक अमृत है । उस अमृतको कैसे पकडोगे, अमृत कोई पानी जैसा नही होता, अमृत कोई फल जैसा नही होता । अमृत क्या चीज है जिसका पान करनेसे यह आत्मा अमर हो जाता है ? जरा बुद्धिमे तो लावो । अमृतका अर्थ क्या है ? अ मायने नही, मृत मायने मरे, जो मरे नही सो अमृत है । जो स्वय कभी मरे नही अर्थात् नष्ट न हो उसे अमृत कहते है । जो कभी नष्ट न हो ऐसी वस्तु मेरे लिए है ज्ञान । ज्ञान-स्वभाव कभी नष्ट नही होता । इस अविनाशी ज्ञानस्वभावको जो लक्ष्यमे लेता है अर्थात् इस ज्ञानामृतका पान करता है वह आत्मा अमर हो जाता है । अमर तो है ही यह, पर कल्पनामे जो यह आया कि मै मनुष्य हूँ, अब तक जीवित हूँ, अब मर रहा हू, ऐसी जो बुद्धि आयी उसके कारण ससारमे रुलना पड रहा है । मोहका माहात्म्य तो देखो—यह जीव विषय-विषरसको तो दौड दौडकर भटक भटककर पीता है और इस ज्ञानामृतका इसने निरादर कर दिया है, उसकी ओर तो यह देखता भी नही है । जो जन्तु पुद्गलद्रव्यको अपना मानते है उनके साथ ये पुद्गलके सम्बन्धकी विडम्बनाए चारो गतियोमे साथ नही छोडती है ।

पुद्गलोका मुझमे अत्यन्ताभाव—इन पुद्गलोका मुझमे अत्यन्ताभाव है । मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किसी भी अणुमे नही पहुच सकता है । किसी अणुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमे नही आ सकता है । जैसे घरमे बसने वाले १० पुरुषोमे परस्परमे एक दूसरेसे मन न मिलता हो तो लोग कहते है कि एक घरमे रहते हुए भी वे बिल्कुल न्यारे-न्यारे रहते हैं । वहाँ तो फिर भी क्षेत्र जुदा है, किन्तु यहाँ तो जहाँ शरीर है वहाँ ही जीव है, एक क्षेत्रावगाह सम्बध है, फिर भी जीवका कोई अश इस शरीरमे नही जाता, शरीरका कोई अश इस जीवमे नही आता । एक क्षेत्रावगाही होकर भी शरीर-शरीरमे परिणम रहा है और जीव-जीवमे परिणम रहा है । यो सर्वथा भिन्न है ये वाह्य समागम, ये आत्माके न कभी हुए और

न कभी कभी हो सकते है, किन्तु मिथ्या आशय जब पडा हुआ है, अपने आपके सुख स्वरूपका परिचय नही पाया है तो भेदविज्ञानका विवेक नहीं हो पाता है । इस जगतमे रहकर मौज माननेका काम नही है । कितनी विडम्बना हम आपके साथ लगी है उस पर दृष्टिपात करे, उन विपत्तियोसे छूटनेका यथार्थ उपाय बनाये ।

मायाकी वाञ्छा अनर्थका मूल—इस मायामय जगतमे मायामय लोगोको निरखकर मायामय यशकी मायामय चाह करना यह अनर्थका मूल है । एक आनन्दधाम अपने आपके परमार्थ ब्रह्मस्वरूपका दर्शन करे, आनन्द वहीसे निकलकर आ रहा है, विषय सुख भी जब भोगा जाता है वहाँ भी आनन्द विषयोसे नही आ रहा है किन्तु आनन्दका धाम यह स्वय आत्मा है और उस विकृत अवस्थामे भी इस ही से सुखके रूपमे वह आनन्द प्रकट हो रहा है । जो बात जहाँ नही है वहाँसे कैसे प्रकट हो सकती है ? जैसे यह कहना मिथ्या है कि मै तुमपर प्रेम करता हू । अरे मुझमे प्रेम पर्याय उत्पन्न होती है वह मेरेमे ही होती है, मेरेसे बाहर किसी दूसरे जीवपर वह प्रेमपर्याय नही उतर सकती है । जैसे यह कहना मिथ्या है ऐसे ही यह कहना भी मिथ्या है कि मैने भोग भोगा, मैने अमुक पदार्थका सेवन किया । यह मै न किसी परको कर सकता हू और न कोई भोग भोग सकता हूँ, किन्तु केवल अपने आपमे अपने ज्ञानादिक गुणोका परिणमन ही कर सकता हू । चाहे मिथ्याविपरीत परिणमन करूँ और चाहे स्वभावके अनुरूप परिणमन करूँ, पर मै अपने आपको करने और भोगनेके सिवाय और कुछ नही करता हू और न भोगता हू । यह वस्तुकी स्वतत्रता जब ज्ञानमे उतर जाती है तो मोह दूर हो जाता है ।

मोहविनाशका उपाय भेदविज्ञान—भैया ! प्रभुकी भक्तिसे, प्रभुसे भिक्षा मागनेसे या अन्य प्रकारके तप करनेसे मोह नही गलता । मोह गलनेका मूल मत्र तो भेदविज्ञान है । ये भक्ति, तप, व्रत सयम कहाँ तक काम देते है, इसको भी सुनिये । यह जीव अनादिसे विषय वासनावोमे जुटा हुआ है । इसका उपयोग विषयवासनामे न रहे और उसमे इतनी पात्रता आए कि यह ज्ञानस्वरूपका दर्शन कर सकेगा, उसके लिए पूजन, भक्ति, तप, सयम, व्रत ये सब व्यवहार धर्म है, पर मोहके विनाशकी समस्या तो केवल भेदविज्ञान से ही सुलझती है, क्योकि किसी पदार्थमे कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी बुद्धि माननेसे ही तो अज्ञानरूप यह मोह हुआ । परपदार्थकी भिन्नता न जान सके और उसे एक दूसरेका स्वामी मान ले, इसी माननेका ही तो नाम मोह है । जैसे कोई पुरुष अपने परिजनोमे मोह करता है तो उसका अर्थ ही यह है कि इन परिजनोको आपा माना है, आत्मा समझा है । यह आत्मीयताका जो भ्रम है इसके मिट जानेका ही नाम मोहका विनाश है । यह ज्ञानसे ही मिटेगा । भगवानकी पूजा करते हुएमे भी हम अपने ज्ञानपर बल दे तो मोह मिटेगा, पर अन्य उपायोसे यह मोह नही मिट सकता है ।

सद्विवेक—जब विवेक बनेगा तभी तो यह समझेगा कि यह हेय है और यह उपादेय है। जब तक विवेक नही जगता, तब तक मोह रागद्वेपकी सतति चलती ही रहती है और उससे नरक तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इन चारो गतियोमें जन्म मरण करना ही पडता है। वैसे कहाँ दुःख है, शारीरिक मानसिक कहाँ क्लेश है ? इससे तो थोडे ही खोटे मनुष्य, पशु पक्षी कीडा मकोडा इनको देखकर जाना जा सकता है कि ससारमे कैसे क्लेश होते है, इन सव क्लेशोको सहता हुआ भी यह मोही जीव परद्रव्योके मोहको नही त्यागना चाहता और उनसे विरक्त होकर अपने आपमे वह नही आना चाहता है, यह दशा इस व्यामोही जीवकी हो रही है। कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध करे और इस मोहपरिणामको मिटा दे, जिससे इस ही समय क्लेशोका बोझ हट जाय, यही एक उपाय है इस मनुष्यजन्मको सफल करनेका कि हम सच्चा बोध पाये और सकटोसे छूटनेका मार्ग प्राप्त करे।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहि स्थिते ।
जायते परमानन्द कश्चिद्योगेन योगिन ॥४७॥

इष्टका उपदेश—इस ग्रन्थका नाम इष्टोपदेश है। जो इष्ट है उसका इसमे उपदेश किया है। कोई रोगमे अनिष्ट चीजको भी इष्ट मान ले तो वह तो वास्तवमे इष्ट नही है, ऐसे ही मोह रागद्वेपके रोगी विपय कपायोके ज्वरसे पीडित ये प्राणी किसी भी वस्तुको इष्ट मान ले तो वे वास्तवमे इष्ट तो न हो जायेगे। जो जीव वास्तवमे भला करे उसे इष्ट कहते है। इष्टका इसमे उपदेश किया गया है।

आत्मनिर्णय—हम आप सब आत्मा है अर्थात् जानन देखनहार एक तत्त्व है। हमे जो कुछ निर्णय करना है वह आत्मतत्त्वके नाते निर्णय करना है। हम अपनेको किसी जाति का, किसी कुलका न समझे यह तो दूरकी बात है, हम अपनेको मनुष्य भी न समझे किन्तु एक मनुष्य देहमे आज बध गया हू, मनुष्य देहमे बँधने वाला यह पदार्थ एक जाननहार चैतन्यस्वरूप है। उस आत्माके नाते निर्णय करे हितका। जहाँ अपने स्वरूपका नाता जोडा, फिर बाहरमे ये मायामय स्कध नजर आते। जव खुदमे लगनेका खुद विपय नही रहा तो बाह्य पदार्थोमे यह लगता है और उन्हे अपनाता है।

कल्याणकामुककी धर्मविषयक एक मुसीबत—कभी इस मोही जीवको कुछ धर्मबुद्धि जगे, कुछ कल्याणके करनेकी कामनाकी हिलोर आए, भावना जगे तो उसके मुसीबत इसके प्रसगमे एक बहुत कठिन आती है। वह मुसीबत है नाना पथोकी उलझनमे पड जाना। यह मुसीबत आ रही है नाना रूप कल्पनाएँ करनेके कारण। मै अमुक हू, मेरा धर्म यह है, मेरा देव यह है, मेरी गोष्ठी वातावरण यह है, इस प्रकारका बाह्यमे एक आत्माका बोध होता है और उस आशयसे यह कल्याणसे वचित होता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि जो भी पुरुष अपना कल्याण कर सके है वे पुरुष जिस गोष्ठीमे रहे हुए होते है, जिस जाति कुल अथवा

प्रवृत्ति रूप धर्मको धारण करके मुक्त होते है वह व्यवहार धर्म पालन करनेके योग्य है । ठीक है किन्तु दृष्टिमे मुख्यता व्यवहारधर्मकी जिसके रहे उसको मार्ग नही मिलता है । ये समस्त आचरण एक अवलम्बन मात्र है, करना क्या है, वह अपने अतरगमे अपने आप सहज अनुभव की जाने वाली चीज है ।

परसे दुःख और निजसे सुख—अभी कुछ पूर्वमे यह बताया गया था कि परपदार्थ तो पर ही है, उनसे दुःख होता है और अपना आप आप ही है उससे सुख होता है, क्योकि जो परपदार्थ है वे सदा मेरे निकट नही रह सकते है । जो परपदार्थ है वे अपनी ही परिणमनशीलताके कारण अपनी योग्यतानुसार परिणमेगे, मेरी कल्पनासे नही । ये दो मुख्य प्रतिकूलताएँ आती है इस कारण किसी परमे स्नेह करनेमें सुख नही रहता ? लोकमे भी कहते है कि अपना है सो अपना ही है, अर्थात् जो खुदका घर है उसे कौन छूटा लेगा । उसमे रहना भला है । जो खुदके परिजन है वे कहाँ भाग जायेंगे, उनका विश्वास किया जा सकता है, किन्तु जो गैर है, जो पराधीन मकान है, दूसरेका है, उसपर स्नेह करना भला नही है । जरा और अपने हितमार्गमे अतः टटोलकर निरखो । जो पर है, याने परिजन, धन सम्पदा आदि पर है, अपने आत्मतत्त्वको छोडकर जितने भी अनात्मपदार्थ है वे सब पर है, ये भिन्न है, इनका वियोग होगा, ये मेरी इच्छाके अनुकूल नही परिणम सकते है । देह इसमे जब बुढापा आता है तब यह जीव क्या चाहता है कि मै बूढा हो जाऊँ ? नही चाहता, पर बुढापा आता है, तो सभी परपदार्थ भिन्न है और मेरी इच्छाके अनुकूल नही परिणमते है, इस कारण उनके स्नेह मे सदा क्लेश रहता है और अपने आपका आत्मतत्त्व अर्थात् ज्ञानस्वरूप जिस ज्ञानको हम जान रहे है उस ही ज्ञानका स्वरूप वह मुझमे कहाँ अलग होगा, वह अन्य भी नही है, माया रूप भी नही है, वह शाश्वत शक्ति है, परमार्थ है, मुझसे तन्मय है, उसका आश्रय लेनेसे नियमसे आनन्द होगा क्योकि यह मै स्वय आनन्दमय हू और शाश्वत हू ।

आत्मपरिचयके मार्गमे—मै मेरेको ही पहिचानूँ तो उससे आनन्द मिलता है । इस कारण जो महात्मा जन होते है अर्थात् विवेकी ज्ञानी पुरुप होते है वे आत्मलाभके लिए ही उद्यम किया करते है । इस आत्मलाभमे कौनसा अभीष्ट चमत्कार होता है ? उसका वर्णन इस श्लोकमे किया जा रहा है । आत्मामे किस उपायसे भोग किया जायगा, किस तरह अनुष्ठान बनेगा, कैसे अध्यात्मवृत्ति बनेगी, उसके लिए प्रथम उपाय यह जीव करता है प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप व्यवहारका । कोई पुरुप जन्मते ही शुद्ध निश्चय अध्यात्मका परिज्ञान और प्रयोग करता हुआ नही आया । यह बात जब बने तब बने, किन्तु उससे पहिले क्या स्थितिया गुजरी, कितना व्यवहार किया, सत्सग, देवदर्शन, सदाचार, अध्ययन और कुछ मनन ध्यान का उद्योग आदि ये बहुत-बहुत प्रकारकी प्रवृत्तिया चलती रही । किसी दिन किसी क्षण जो

कि एक नया दिन है समझना, आत्माके लिए मिला। अपने सहज चित्स्वरूपकी दृष्टि जगे तो आत्माका परिचय मिले। लेकिन प्रथम तो प्रवृत्ति और निवृत्तिका व्यवहार ही चला करता है। अब जब आनन्दमय निज अंत तत्त्वका आश्रय हो तब उसके व्यवहारकी स्थिति नही रही। अब वह न कही प्रवृत्ति करता है और न कही निवृत्ति करता है। लोग अध्यात्म योगके अर्थ की गई विभिन्न परिस्थितियोमे साधनाओके मर्मको न जानकर वितने ही सदेह करने लगते है और कुछ नही करना चाहते। न पूजन, न ध्यान, न सत्सग। वे यह कहने की उलायत मचाते है कि ये पूजनादिक सब तो व्यवहार बताये गए है, इनसे भी अलग होकर धर्म मिलता है। ठीक है यह, किन्तु समर्थ स्थितिमे ही प्रवृत्तिनिवृत्तिका व्यवहार छूटता है। अपने भीतरके तत्त्वको न जान पाये और बाहरी प्रवृत्तियोके ही कोई मार्ग निरखे तो उससे केवल धोखा ही होगा।

परिस्थितिकी विभिन्नतापर एक कथानक—एक उपन्यास है जिसका नाम गधा है। गधाकी कहानी है पहिले बहुत चलती थी, विद्यार्थी जीवनमे हमने सुनी थी। एक घटना है, धोबीके यहाँ एक गधा था और कुतिया भी थी। कुतियाके बच्चे हुए। एक दिन वह धोबी कुतियाके बच्चोको खिला रहा था। वे बच्चे मुखसे भी काटें और पञ्जोसे भी मारे, पर धोबी प्रसन्न होकर उन्हे खिला रहा था। गधा सोचने लगा कि कितना तो मै इसके काम आता, इसके घरके सब लोगोका हमारे ही कारण गुजारा चलता है फिर भी हमसे प्यार नही करता और ये कुतियाके बच्चे इसके कुछ काम भी नही आते, फिर भी यह कितना प्यार करता है? ओह मुझे मालूम पडता है कि ये पैरोसे भी मारते और दाँतोसे भी काटते, इसीसे यह उनसे प्रेम करता है। सो एक बार हम भी ऐसा ही प्रयोग करके देखे तो हमसे भी यह प्रेम करने लगेगा। तो अपना गिरवाँ तोडकर मालिकको खुश करनेके लिए उसके पास पहुचा और दुलतियाँ जडने लगा व थोडा काटा भी। उस धोबीने डडा उठाया और खूब पीटा। गधा अपनी खूँटीके पास फिर आ गया और सोचता है कि जो काम इन बच्चोने किया वही काम तो मैने किया, गल्ती कहाँ खायी? मै क्यो पिटा? अरे सबकी परिस्थिति एक सी नही होती है। उन पिल्लोकी बात निरखकर गधा भी नकल करने लगे तो उसे तो डडे ही मिलेंगे।

विवेककी दिशा—भैया! किसी ज्ञानी की बाहरी वृत्तिको निरखकर ज्ञानमर्मसे अनभिज्ञ पुरुप बाह्य प्रवृत्तिको करके कहो सतोपका मार्ग न पा लेगा। मुक्तिका मार्ग, शान्तिका मार्ग तो अतरङ्ग ज्ञानप्रकाशमे है। और उसको थोडे ही शब्दोमे कहना चाहे तो यह कहले कि समस्त परसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र यह मै आत्मतत्त्व हू। जो ज्ञान और आनन्द रससे परिपूर्ण है ऐसा ज्ञान करे, श्रद्धान करे और ऐसा ही अपना सकल्प बना ले कि मुझे अब इस आनन्दधामसे हटकर कही बाहरमे नही लगना है। कदाचित् लगना भी पडे तो उसकी

स्थिति सेठके मुनीम जैसी बने। जैसे मुनीम सारे कामोमे लग रहा है। रोकड सम्हाले, बैकका हिसाब रक्खे, और कोई ग्राहक आए उसे हिसाब बताना पडे तो यह भी कह देता है कि मेरा तुमपर इतना गया, तुम्हारा हम पर इतना आया, इतने सब व्यवहार करके भी मुनीमकी श्रद्धामे दोष नही है। वह जान रहा है कि मेरा यह वर्तमान परिस्थितिमे करनेका काम है। कर रहे है किन्तु मेरा कुछ नही है। तो कुछ करना भी पडे और अपनी ही ओर झुकाव रहे तो अपनी रक्षा है। कोई किसी की रक्षा न कर सकेगा।

मोह राग द्वेषमे अकल्याण—भैया! किसीमे मोह रागद्वेष करनेका परिणाम भला नही है। किसमे मोह करते हो? कौन तुम्हारा कुछ सुधार कर देगा? यदि कोई शाश्वत आनन्द पहुचा दे तो मोह करो, किन्तु कौन ऐसा कर सकता है? आनन्दमय करनेकी बात तो दूर रहो, यह दृश्यमान समागम तो केवल क्लेशका ही कारण है। यह परिजनोका जो समागम हुआ है वह प्रकट भिन्न और असार है, किसमे राग करना? कोई पुरुष मेरा विरोधी नही है ऐसा निर्णय करके यह भी भावना बनाओ कि मुझे किसीमे द्वेष भी नही करना है। जो भी पुरुष जो भी चेष्टा करता है उसके भी दिल है, उसमे भी अपने प्रयोजनकी चाह है, उसके भी कषायोकी वेदना है, वह अपने कषायकी वेदनाको शान्त करनेका उद्यम कर रहा है, वह अपने अभीष्ट स्वार्थको सिद्ध करनेका उद्योग कर रहा है। इसके लगा हो अपना स्वार्थ और वहाँ जचे बाधा, तो इसने कल्पना करली कि उसने मुझे कष्ट दिया, इसने नुकसान पहुचाया। उस बेचारेने अपने आपमे अपना काम करनेके अतिरिक्त कुछ भी तो नही किया, किसे द्वेषी माना जाय? इस जगतमे कोई मेरा विरोधी नही है, इस दृष्टिसे जरा निहार तो लो। किसीको विरोधी मान-मानकर कोई काम बना पाता हो तो बतलावो। अरे विरोधको मिटाना है तो उसका मिटाना अत्यन्त सुगम है। विरोधीको विरोधी न मानकर उसे सद्व्यवहारी मान लो, विरोध एकदम खतम हो जायगा, अर्थात् जब विरोध भाव नही रहा तो जिसका विरोधी नाम रखा था वह मित्र बन जायगा।

वस्तुस्वरूपका दृढतम दुर्ग—यह वस्तुस्वरूपका दुर्ग बडा मजबूत है। किसी वस्तुमे किसी अन्य वस्तुका न द्रव्य, न स्वभाव, न गुण, न पर्याय कुछ प्रवेश नही करता है। बडे-बडे रासायनिक, वैज्ञानिक प्रयोग भी कर ले तो वहाँ भी आप मूल बात पायेगे कि जो मूल सत् है वह पदार्थ न किसी दूसरे रूप होता है और न उसका कभी अभाव होता है। यह बात अवश्य चलती है कि किसी पदार्थके सयोगका निमित्त पाकर दूसरे पदार्थ भी दूसरेके अनुरूप परिणमते है। इस ही को व्यवहारमे लोक कहते है। देखो ना यह भी बन गया। जो यह है वह यह ही रहेगा। जो वह है वह वह ही रहेगा। केवल निमित्तनैमित्तिक प्रसगमे निमित्तके सद्भावके अनुरूप पर्याय बन जाती है। जगतमे जितने भी सत् है उनमे से न कोई एक कम

हो सकता है और न कोई असत् सत् बन सकता है, केवल एक पर्याय ही बदलती रहती है। जितने भी पदार्थ है वे सब परिवर्तनशील होते है, पर मूल सत्त्वको कोई पदार्थ नही छोडता है। यह मै आत्मा स्वय सत् हू और किसी भी पररूप नही हू।

योगीका ज्ञान, समाधिबल व आनन्दविकास—ये सकल पदार्थ अपना सत्त्व तभी रख सकते है जब त्रिकाल भी कोई किसी दूसरे रूप न परिणमन जाये। ये दो अगुली है एक छोटी और एक बडी। ये अपना सत्त्व तभी रख सकती है जब एक किसी दूसरे रूप न परिणम जाये। अगुलीका दृष्टान्त बिल्कुल मोटा है क्योकि यह परमार्थ पदार्थ नही है। यह भी मायारूप है, किन्तु जो परमार्थ सत् है वह कभी किसी दूसरे रूप हो ही नही सकता है। जब ऐसा समस्त पदार्थोंका स्वरूप है तब मै किसके लिए मोह करूँ, किसके लिए राग और द्वेष करूँ ? परोपयोगके व्यर्थ अनर्थ श्रमसे विश्राम लेकर जो अपने आत्माने ठहरता है, सहज विश्राम लेता है ऐसे योगी पुरुषके इस समाधिबलसे कोई विचित्र अलौकिक अनुपम आनन्द प्रकट होता है।

विषयविपदा—भैया ! ये विषयोके सुख कोई आनन्द है क्या ? इनमे तो दुःख ही भरा हुआ है। जितने काल कोई भोजन कर रहा है उतने काल भी वह शान्त नही है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखो—इन विषयोके सुखमे जो भी कल्पना उठती है वह शान्तिकी प्रेरणाको पाकर नही उठती है, किन्तु अशान्तिकी प्रेरणाको पाकर उठती है। कोई भी विषयभोग, किसी भी इन्द्रियका साधन न पहिले शान्ति करता है, न भोगते समय शान्ति देता है और न भोगनेपर शान्ति देता है। जिन भोगोके पूर्व वर्तमान और भविष्य अवस्था क्लेशरूप है उन ही भोगोके लिए अज्ञानी पुरुष अपना सब कुछ न्यौछावर किए जा रहे है। आनद यहाँ कही न मिलेगा। अरे एक दिन ये सब कुछ छोडकर चले जाना है। जिस समय है उस समय भी ये तेरे कुछ नही है। तू सबसे विविक्त प्रत्यक्ष ज्योतिस्वरूप अपने अतस्तत्त्वका अनुभव कर। यही धर्मपालन है।

अध्यात्मयोग—जो पुरुष प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप व्यवहारसे मुक्त होकर आत्माके अनुष्ठानमे निष्ठ होते है अर्थात् अध्यात्ममे अपने उपयोगको जोडते है उनके उससे अलौकिक आनन्द होता है। योगीका अर्थ है जोडने वाला। यहाँ हिसाबमे भी तो योग शब्द बोलते है। कितना योग हुआ अर्थात् दो को मिलाकर एक रस कर दे इसीके मायने तो योग है। चार और चार मिलाकर कितना योग हुआ ? आठ। अब इस आठमे पृथक्-पृथक् चार नही रहे। वह सब एक रस बनकर एक अष्टक बन गया है। इस प्रकार ज्ञान करने वाला यह उपयोग और जिसका ज्ञान किया जा रहा है ऐसे उपयोगका ही आधारभूत शाश्वत शक्ति इस शक्तिमे इस व्यक्तिका योग कर दो। अर्थात् न तो व्यक्तिको अलग बता सके और न शक्तिको अलग

बता सके, किन्तु एक रस बन जाय उस ही को कहते है अध्यात्मयोग ।

निजमे ही निजके योगकी संभवता—भैया ! गलत योग नही कर लेना, परपदार्थमे अपने उपयोगको जोडकर एकमेक करनेका गलत हिसाब नही लगाना है । गलत हिसाब लग भी नही सकता है । किसी भी परपदार्थमे अपने उपयोगको जोडे तो कितना ही कुछ कर डाले, जुड ही नही सकता है । भले ही कल्पनासे मान लो गलत हिसाबको कि मैने सही किया, पर वहाँ जुड ही नही सकता । परके प्रदेश भिन्न है, परमे है, अपने प्रदेश भिन्न है, अपनेमे है । इस शक्तिका और इस उपयोगका योग जुड सकता है, क्योकि यह भी एक चैतन्यमय है और यह अतस्तत्त्व भी चैतन्यस्वरूप है । जैसे समुद्र और समुद्रकी लहरका समुद्रमे योग हो सकता है क्योकि लहर भी समुद्ररूप है और समुद्र तो समुद्र ही है, इस ही प्रकार इस उपयोगका इस परमब्रह्ममे योग हो सकता है, ऐसा योग जिनके होता है उन योगी पुरुषोके कोई अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है ।

आत्मकर्तव्य—जब तक दृश्यमान बाह्यपदार्थोमे किञ्चित् मात्र भी ममता रहती है तब तक स्वरूपमे लीनता नही हो सकती है, किन्तु, जब अध्यात्मयोगीकी किसी भी बाह्य तत्त्वमे कोई ममता नही रहती तो वह स्वरूपमे लीन होता है । यही स्वरूपलीनता परम तत्त्व की प्राप्तिका कारण है । यह चीज होगी— रागद्वेषके अभावसे । रागद्वेष मिटेगे वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानसे । इस कारण वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानका अभ्यास करना चाहिए । जो अनुभवमे उतरे, जो यथार्थ ज्ञान है उस ज्ञानका अर्जन करे । वह गुरु कृपा बिना नही हो सकता । यदि साक्षात् गुरु न मिले कभी तो ये ग्रन्थ भी गुरु ही है, क्योकि वे जो बोलते थे वह सब यहाँ अक्षरो रूपमे है । इस प्रकार स्वाध्याय और सत्सग करके अपने ज्ञानार्जनका उद्यम करे, यह ही अपने कल्याणका उपाय है ।

आनन्दो निर्दहत्युद्ध कर्मेन्धनमनारतम् ।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

आत्मोत्थ शुद्ध आनन्दका परिणाम—पूर्व श्लोकमे यह कहा गया था कि जो योगी न तो प्रवृत्तिरूप व्यवहार कर रहा है और न निवृत्तिरूप भी व्यवहार कर रहा है इन दोनो व्यवहारोसे ऊपर स्वरक्षित होकर जब आत्माके उपयोगमे उपयुक्त होता है उस समय इस अपूर्व योगके प्रसादसे उस योगीके अपूर्व आनन्द प्रकट होता है । अब इस श्लोकमे, यह कहा जा रहा है कि उस आनन्दका फल क्या मिलता है ? यह आनन्द भव-भवके बाँधे हुए प्रबल कर्मरूपी ईधनको जला डालता है । जैसे ईधन कितने ही दिनोसे ढेर करके सचित किया जाय, उस समस्त ईधनको जलानेमे अग्नि समर्थ है इस ही प्रकार विकल्पोसे जितने भी कर्म बधन सचित किये है उन कर्मोको नष्ट करनेमे यह योगीका आनन्द समर्थ है ।

अध्यात्मयोगकी आनन्दमग्नतासे कर्मप्रक्षय— भैया ! बाहरमे साधुजनोंकी तपस्या कायक्लेशरूप दिखती है लोगोंको कि ये बहुत उपवास करते हैं, एक बार भोजन पान करते हैं आदि कितनी कठिन विपत्तियाँ सहते हैं ? लोगोंको दिखता है कि ये कष्ट सह रहे हैं पर वे कष्ट सह रहे हों तो उनके कर्म नष्ट नहीं हो सकते । ये तो किसी अपूर्व आनन्दमे मग्न हो रहे हैं जिस आनन्दके द्वारा वे कर्म नष्ट हो जाते हैं, जो हम आपके आत्मामे चिरकालसे बधे हैं । कर्म शब्दके अर्थपर दृष्टि डालो । कम शब्दके दो अर्थ हैं एक तो जो आत्माके द्वारा किया जाय उसका नाम कर्म है । दूसरे उस कर्मके निमित्तसे जो कार्माणवर्गणा कर्मरूप होती वह कर्म है ।

भावकर्म और द्रव्यकर्म— यह जीव जो कुछ भी करता है, उसका नाम कर्म है । जैसे रागद्वेष विकल्प सकल्प मोह ये सब कर्म कहलाते है, इनका नाम भावकर्म है । भावकर्म तो जिस समय किया उस ही समय रहा, बादमे नही रहते । क्योंकि भावकर्म जीवके एक समय की परिणति है, और उपयोगमे आनेकी दृष्टिमे अन्तर्मुहूर्तकी परिणति है । वह परिणति दूसरे क्षण नहीं रहती । दूसरे क्षण अन्य रागद्वेष मोह उत्पन्न हो जाते हैं । प्रत्येक जीवके जिस समय रागद्वेष होता है वैसा परिणमन दूसरे क्षण नहीं रहता । इस कारण भावकर्म तो अगले क्षण नही रहते, नये-नये क्षणमे नये-नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं, किन्तु उस नवीन क्षणिक भावके कारण जो कर्म बनते हैं, ज्ञानावरणादिक कर्म बनते है उनमे कितने ही कर्म अनगिनते अरबो, खरबो वर्ष तक उसके साथ रहते हैं, और वे इतने वर्षो तक जीवको सतानेके कारण बन रहे हैं । एक क्षणकी गल्तीसे अरबो खरबो वर्ष तक जीवको कष्ट सहना पडता है ।

कर्मस्थितिका समर्थन—जैसे कोई पुरुष रसना इन्द्रियके स्वादमे आकर किसी हानि-कारक चीजको खा जाय तो खानेमे भोगनेमे कितना समय लगा ? दो तीन मिनटका, किन्तु उससे जो दर्द बनेगा, रोग बनेगा वह भोगना पडेगा घटो । ऐसे ही रागद्वेष करना तो आसान है, स्वच्छन्दता है, जो मनमे आए सो कर लो, पुण्यका उदय है । जिस चाहेको सताकर अपने मनको खुश कर लो, जिस स्त्री या पुरुषके प्रति कामवासना उत्पन्न हो, और-और भी पाप कार्य कर लो, केवल एक दो मिनट ही तो वह पाप कार्य करता है किन्तु उन पापोके करनेके कारण जो द्रव्यकर्म बधे है वे जीवके साथ अनगिनते वर्ष तक रहेगे ।

क्षणिक गलतीसे असख्याते वर्षो तक क्लेश भोग—आगममे बताया गया है कि कोई मन वाला पुरुष जिसके विशेष समझ उत्पन्न हुई है वह मोह करेगा, गडबडी करेगा तो उस तीव्रमोहमे ७० कोडाकोडी सागर तकके लिए कर्म बँध जाते है । अभी बतावेगे कि कोडा-कोडी सागर क्या चीज होती है । कर्म इसे लोकमे बहुत सूक्ष्म कार्माण मैटर है । वह कार्माण स्कधके नामसे प्रसिद्ध है । वह सब जगह भरा है, और इस मोही मलिन जीवके साथ तो

बहुतसा सूक्ष्म मैटर साथ लगा रहता है जो इसके लिए सदा तैयार है। यह जीव कुछ मलिन परिणाम तो करे कि कर्म रूप बन जायेंगे, जिसे विस्रसोपचय कहते हैं। ये कर्म रूप बनेंगे तो ७० कोडाकोडी सागर तकके लिए भी बँध जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ वर्षोंके बाद वे कर्म जब उदयमे आते है तो अनगिनते वर्षों तक उदयमे आ आकर इस जीवको क्लेश के कारण बनते है।

सागरका प्रमाण—सागरका समय बहुत लम्बा समय है। यह गिनतीमे नही बताया जा सकता है। जिस चीजको गिनतीमे बताया ही न जा सके उसको किसी उपमा द्वारा बताया जायगा। कल्पना करो कि २ हजार कोशका कोई लम्बा चौडा गड्ढा है। सब कल्पनापर बात चलेगी, न कोई ऐसा कर सकता है न किया जा सकेगा। परन्तु इतना लम्बा समय कितना है इसका परिज्ञान करनेके लिए एक उपमारूपमे बताया गया है। उस विशाल गड्ढे मे छोटे-छोटे रोम खण्ड जिनका दूसरा खण्ड किया न जा सके, भर दिया जाय ठसकर और मानो उसपर हाथी फिरा दिया जाय, फिर उन बालोको सौ-सौ वर्ष बाद एक-एक टुकडा निकाला जाय, सब यह उपमाकी बात है, जितने वर्षोंमे वे सब बाल निकल सकेंगे उसका नाम है व्यवहारपल्य। उससे असख्यातगुणा समय लगता है उद्धारपल्यमे, उससे असख्यात गुणा समय लगता है अद्धापल्यमे। एक करोड अद्धापल्यमे एक करोड अद्धापल्यका गुणा करे उसका नाम है एक कोडाकोडी अद्धापल्य। ऐसे १० कोडाकोडी पल्योका एक सागर बनता है। एक सागरमे एक करोड सागरका गुणा करो तब एक कोडाकोडी सागर होता है। यो ७० कोडाकोडी सागर तक ये द्रव्यकर्म इस जीवको जकड डालते हैं।

दुर्लभ मनुष्यजन्मका अवसर—यह मनुष्यजन्म कैसी-कैसी कुयोनियोको भोग-भोगकर आज प्राप्त किया है, जरा दृष्टि तो डालो—अन्य जीवोकी अपेक्षा मनुष्य जीवन कितना श्रेष्ठ है। वृक्ष, पृथ्वी इन जीवोकी जिन्दगी क्या जिन्दगी है ? कीडा मकोडा भी क्या मूल्य रखते है, लोग जूतोसे कुचलते हुए चले जाते है, उनका कुछ भी मूल्य नही समझते। पशु पक्षी भी बन जाय तो भी क्या है, अक्षर नही बोल सकते। दूसरेकी बात नही समझते। अटपट उनका भोजन, कैसी उनकी आकृति ? परन्तु मनुष्यको देखो यह विवेक कर सके सबपर हूकूमत कर सके, बडे-बडे साहित्य रच सके, एक दूसरेके हृदयकी बात समझ सके, कितने विकास वाला यह मनुष्य जीवन है ? इतना विकास पानेके बाद यदि विषयकषाय पापोमें ही अपना समय गवाया तो उसका फल यह होगा कि जिन कुयोनियोमे निकलकर मनुष्य पर्यायमे आये है उन ही कुयोनियोमे जन्म लेना पडेगा।

आत्मप्रभुपर अन्यायके दुष्परिणामका दृष्टान्तपूर्वक प्रदर्शन—एक साधु था। उसके पास एक चूहा बैठा रहा करता था। चूहाको साधुका विश्वास रहा करे सो वहाँ बैठ जाय

करे। एक बार कोई बिलाव उस चूहेपर झपटा तो साधुने आशीर्वाद दिया चूहेको कि बिडालो भव, तू भी बिलाव हो जा, सो वह चूहा भी बिलाव हो गया, उसपर झपटा एक कुत्ता तो साधुने आशीर्वाद दिया कि श्वा भव। तू भी कुत्ता बन जा, सो वह कुत्ता हो गया। अब उस पर झपटा एक तेंदुवा (व्याघ्र)। तो साधुने आशीर्वाद दिया कि व्याघ्रो भव। तू व्याघ्र हो जा। तो वह कुत्ता भी व्याघ्र हो गया। उसपर झपटा एक शेर। सो साधुने आशीर्वाद दिया कि सिंहो भव। तू सिंह बन जा। वह भी सिंह बन गया। अब उसे लगी भूख, सो उसने सोचा कि क्या खाना चाहिए? ध्यान आया कि अरे ये ही साधु महाराज तो बैठे हैं इन्हीको खाकर पेट भर लेना चाहिए। सो ज्यो ही साधुको खानेका सकल्प किया और कुछ उद्यम करना चाहा त्यो ही साधुने उसे आशीर्वाद दिया कि पुन मूषको भव, तू फिर चूहा बन जा, वह फिर चूहा बन गया। अरे कितना उठकर सिंह बन गया और जरासी गफलतमे चूहा बनना पडा। ऐसे ही हम आपके भीतर विराजमान जो कारणपरमात्मतत्त्व है, परमब्रह्म स्वरूप है, विशुद्ध समयसार है, ज्ञानानन्द स्वभाव है उसका आशीर्वाद मिला, कुछ विकास बना तो यह स्थावरोसे उठकर कीडा मकोडा बना, उससे भी और बढकर पशु पक्षी बना, वहाँसे भी उठकर अब यह मनुष्य बना। अब मनुष्य बनकर इस परमब्रह्मस्वरूपपर, इस कारणपरमात्मतत्त्वपर हमला करनेकी ठान रहा है।

आत्मदेवपर मनुष्यका अन्याय—जो मनुष्य विषय भोगता है, कषायोमे प्रवृत्त होता है, मोह रागद्वेषको अपनाता है, वह इस प्रभुपर ही तो अन्याय कर रहा है। जिस प्रभुके आशीर्वादसे, प्रभुके प्रसादसे जघन्य योनियोसे निकलकर मनुष्य जैसे उत्तम पदमे आए है, तो अब यह मनुष्य कैसी कलावोसे विषयोका सेवन कर रहा है, यह कभी बैल, घोडा, गधा था। ये कलापूर्वक कुछ विषयसेवन नही कर पाते है और मनुष्यको योग्यता विशेष नही मिली ना, सो बढिया, साहित्यिक ढगसे बढिया रागभरी कविताएँ बनाकर कितनी कलावोसे यह विषय भोग रहा है और कितना प्रसार कर रहा है? सब जीवोसे अधिक अन्याय कर सकने वाला यह मनुष्य है, यह अपने आपके प्रभुपर अन्याय कर रहा है। यह जीव अनादिसे निगोद अवस्थामे था। निगोद कहते है पेड और पृथ्वीसे भी खराब योनिको। एक शरीरके अनन्त जीव स्वामी है। कितनी कलुषित निगोदकी योनि है? वहाँसे निकलकर धीरे-धीरे विकास करके यह मनुष्य बना और अब यह अपने आश्रयभूत इस परमात्मप्रभुपर हमला करने लगा, विषय कषायोका परिणमन करने लगा, यही तो प्रभुपर अन्याय है। तो इस प्रभुने भीतरसे फिर आशीर्वाद दिया कि पुन निगोदो भव। तू फिरसे निगोद बन जा। तो मनुष्य जैसी उत्कृष्ट योनि पाकर फिर निगोद बन जाता है। ऐसे ये विकट कर्म बधन है।

धर्मका आनन्द और कर्मक्षय— इन विकट कर्म ईंधनोको जलानेमे समर्थ शुद्ध आनन्द है, कष्ट नही है। धर्म कष्टके लिए नही होता। धर्म कष्टपूर्वक नही होता। धर्म करते हुएमे कष्ट नही होता। कोई पुरुष जो यथार्थ धर्मात्मा है वह धर्म करनेकी भावना कर रहा हो तो वह प्रसन्नता और आनन्दपूर्वक ही कर सकेगा, कष्टमे नही। जिस कालमे धर्म किया जा रहा है उस कालमे भी कष्ट नहीं हो सकता है, वहाँ भी आनन्द ही झर रहा होगा और धर्म करनेके फलमे उसे आनन्द ही मिलेगा। आनन्दमे ही सामर्थ्य है कि भव-भवके सञ्चित कर्मोको क्षणमात्रमे जला सकता है। "कोटि जन्म तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरें जे। ज्ञानीके छिनमाहि त्रिगुप्ति हैं सहज टरेते।" अज्ञानी पुरुष बडी-बडी तपस्या करके करोडो भवोमें जितने कर्म जला सकते हैं उतने कर्मोको ज्ञानी एक क्षणमे ज्ञानबलसे नष्ट कर देता है। इस मनुष्य-जीवनका सुन्दर फल प्राप्त करना हो तो एक निर्णय बना लो कि हमे ज्ञानप्रकाशका आनन्द लूटना है। घरमे चार-छः जन है ना, सो उनका कुछ ख्याल रहता है, तो उनको भी धर्मके रगमे ऐसा रग दो कि वे सब भी धर्मी बन जाये मोह रागद्वेपकी फिर पद्धति न रहेगी। उनका भी भला करवा दो और अपना भी भला कर लो। दूसरेका भला करना अपने आधीन तो है नही लेकिन सम्बध है तो व्यवहार ऐसा करो कि उनमे भी धर्मभावना जागृत हो, और एक ज्ञानप्रकाशके लिए ही मनुष्य-जीवन समझो।

धर्मपथ—भैया! आत्माके हितका पथ निराला है और दुनियादारीका पथ निराला है। कोई मनुष्य चाहे कि मैं दुनियाका आनन्द भी लूट लूँ, और साथ ही आत्माका हित भी कर लूँ तो ये दोनो बाते एक साथ नही मिलती हैं। निर्णय कर लो कि तुम्हे क्या प्यारा है? देखो दुनियामे अपना नाम कर जानेकी धुन बनाना, धनसचयकी भावना बनाना, देशके लिए मर मिट जाना, इनसे भी ज्ञानभावना प्रकट नही होती है। इस धर्मीको समूचे देशसे अथवा धन वैभवसे क्या मिलेगा? कुछ भी तो न मिलेगा। यह परोपकारके लिए नही है, किन्तु ज्ञानी पुरुष अपनेको ज्ञानमे, ध्यानमे लीन होनेमे असमर्थ समझ रहा है जब तक तब तक विषय कषाय जैसे गदे परिणाम मेरेमे घर न कर पाये इनसे बचनेके लिए परका उपकार है। जो केवल परके लिए ही परका उपकार समझते हैं वे धर्मसे भी गये और धनसे भी गए, और श्रम कर करके तकलीफ भी भोगी, और जो परोपकारका अत मर्म समझते है उनसे परोपकार भी वास्तविक मायनेमे हुआ, स्वय भी प्रसन्न रह गया। मोक्षमार्ग भी, धर्मपालन भी साथ-साथ चला।

अध्यात्मयोगीके संकटोमे खेदका अभाव—यह योगी पुरुष अपनी ध्यानसाधनामे रहकर जिन सकटोका सामना कर रहा है उन्हे यह कष्ट नही समझता। लोग समझते है कि सकट आ रहे है लेकिन वह उन दुःखोको दुःख नही समझ रहा है। वह तो अपने अनादिकाल

से बिछुडे हुए परमपिता, परमशरण चिदानन्दात्मक प्रभुताका दर्शन मिला, उस आनन्द मे यह मग्न हो रहा है, और इस शुद्ध आनन्दका ही प्रताप है कि भव-भवके सचित कर्म उसके क्षण मात्रमे नष्ट हो जाते है, उसे खेद नही होता। खेद करनेसे खोटे कर्मोका बध होता है। प्रसन्नता तो तब मिल सकती है जब इन बाह्यपदार्थोमे मोह ममताका सम्पर्क न बढाये, ज्ञाताद्रष्टा रहे, जो कुछ बाह्यमे होता है उसके जाननहार रहे।

दुनियाके अजायबघरमे निःसंकट रहनेका उपाय—यह दुनिया अजायबघर है, अजायबघरमे दर्शकोको केवल देखनेकी इजाजत है, छूनेकी या कुछ जेबमे धरनेकी इजाजत नही है। यदि कोई आज्ञाविरुद्ध काम करेगा तो वह गिरफ्तार हो जायगा, ऐसे ही ये सर्वसमागम अजायबघर है, परमार्थ नही है, इनको देखनेकी इजाजत है ईमानदारीसे। छूनेकी इजाजत, अपनानेकी इजाजत नही है। जो किसी भी अनात्मतत्त्वको अपनायेगा वह बन्धनमे पडेगा और अनेक भवो तक उसे कष्ट भोगना होगा। सब जीव है, एक समान है, उनमेसे किसी एक दो को ही अतरङ्गमे पकडकर रह जाना है, इसका क्या फल मिलेगा ? सो यह बिलबिलाता दृश्यमान जीवलोक ही प्रमाण है। अब तो ऐसा अतः पुरुषार्थ बनाये और अपने आपके स्वरूप मे रमनेका यत्न करे जिससे सकटोका समूल विनाश हो। इसके लिए सत्सगति, ज्ञानार्जन, परोपकार सब कुछ उपाय करे। आत्मदृष्टिसे ही हमारे सकट दूर हो सकेंगे।

अविद्याभिदुर ज्योति पर ज्ञानमय महत्।
तत्प्रष्टव्य तदेष्टव्य तद्द्रष्टव्य मुमुक्षुभिः ॥४९॥

आत्महितकर परमज्योति—आत्माका परमहित करने वाला परमशरण तत्त्व क्या है ? इस सम्बधमे बहुत पूर्व प्रसगसे वर्णन चल रहा है। आत्माका हित आत्मतत्त्वके सहज ज्ञानज्योतिके अवलम्बनमे ही है। वही जिन आत्मावोको इष्ट हो जाता है उनका कल्याण होता है, किन्तु जो व्यामोही पुरुष केवल परिजन सम्पदाको ही ही इष्ट मान पाते है और रात दिवस उन ही परिजनोकी चिन्तामे समय खो दिया करते है उनका शरण इस लोकमे कोई नही है। शरण तो किसीका कोई दूसरा हो ही नही सकता है, हम ही हमारे शरण है। तब शरण होनेकी पद्धतिसे खुदमे खुदका अनुभव किया जाय। यह ज्ञानज्योति यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप जो निर्विकल्प स्थिति करके अनुभवमे आ सकने योग्य है यह ज्ञानज्योति समस्त चाहका भेदन कर देने वाली है। जैसे सूर्य प्रकाश गहन अधकारको भी भेद देता है उस ही प्रकार यह ज्ञानज्योति भ्रमके गहन अधकारको भेद देती है।

अज्ञानान्धकार और उसका भेदन—भैया ! कितना बडा अधेरा है यहाँ है कि है तो मेरा परमाणु मात्र भी कुछ नही और उपयोग ऐसा परकी ओर दौड गया है कि परिजन और सम्पदाको यह अपना सर्वस्व मानता है। यह विचित्र गहन अधकार है। सर्व पदार्थ विमुक्त

हो जायेंगे, इसपर अज्ञानी घुटने टेक देते है। जीवनभर कितने ही काम कर जाय अर्थात् कितनी ही धन सम्पदा निकट आ जाय, पर एक नियम सबपर एक समान लागू है। वह क्या कि सब कुछ छूट जायगा। इस व्यामोही जीवने यहाँ घुटने टेक दिये। वहाँ तो अज्ञानकी प्रेरणासे रात दिवस खोटे-खोटे कार्योंमे ही जुट रहे है लेकिन यहाँ वश नही चलता, और इसी कारण अज्ञानी मोहियोके दिमाग भी कभी-कभी सुधारपर आ जाया करते है। यह ज्ञान-प्रकाश अज्ञान अंधकारको नष्ट करने वाला है। यह ज्ञानस्वरूप खुदका भी प्रकाश करता है और दूसरोका भी प्रकाश करता है। खुद ज्ञानस्वरूप है इसलिए खुद ज्ञानका प्रकाश कर ही रहा है, किन्तु उस ज्ञानमे ये समस्त परपदार्थ भी आते है, उनका भी प्रकाश है। यह उत्कृष्ट ज्ञानरूप है।

भेदविज्ञानसे स्वातन्त्र्यपरिचय—वस्तुमे पूर्ण स्वतन्त्रता भरी हुई है, इसका जिस ज्ञानी को परिचय हो जाता है वह सम्यग्ज्ञानपर न्यौछावर हो जाता है। लोग कहा करते है कि मकान बनाया, दूकान बनाया, यह बात तो बिल्कुल विपरीत है। यह मनुष्य कहाँ ईंट पत्थर को बनाता है। ईंट पत्थरमे अपना कुछ लगा दिया हो ऐसा तो कुछ नजर ही नही आता है। अब इससे और कुछ गहरे चले तो यह कह देते है कि मकान दूकान तो नही बनाता है जीव किन्तु अपने-अपने पैरोको चलता है। यह भी बात विपरीत है। आत्माके हाथ पैर ही नही है। वह तो एक ज्ञानप्रकाश है, आकाशकी तरह अमूर्त और निर्लेप है, यह हाथ भी नही चलाता है, पैर और जिह्वा भी नही चलाता है। ये क्रियापरिणत हो जाते है निमित्त-नैमित्तिक सम्बधसे, इस बातका भी ख्याल रहा तो बतावेंगे। अब आगे और चले तो यह ध्यानमे आता कि आत्मा हाथ पैर भी नही चलाता है किन्तु रागद्वेषकी कल्पनावोको तो करता है, यहाँ भी विवेक बनाये। आत्मा है ज्ञानस्वरूप। आत्मामे रागद्वेष विकार करनेका स्वभावतः कर्तृत्व नही है। ये रागादिक हो जाते है, इन्हे आत्मा करता नही है।

दृष्टान्तपूर्वक वस्तुस्वरूपका परिचय—वस्तुका स्वतन्त्र परिणमन समझनेके लिये एक दृष्टान्त लो—दर्पण सामने है, उस दर्पणमे सामने खडे हुए दसो लडकोके प्रतिबिम्ब आ गए है। यद्यपि वह प्रतिबिम्ब दर्पणमे है लेकिन दर्पणने इस प्रतिबिम्बको पैदा नही किया है। प्रतिबिम्ब दर्पणमे आ गया है। दर्पण तो अपनेमे अपनी स्वच्छताकी वृत्ति बना रहा है। ऐसे ही इस आत्मामे रागद्वेषोके परिणमन आ गए है, इस आत्माने रागद्वेषोको पैदा नही किया है। यह आत्मा रागद्वेषोका भी कर्ता नही है। इस समय बात अध्यात्ममर्मकी बात चल रही है और चलेगी, लेकिन ध्यानसे सुननेपर सब सरल हो जायगा हाँ इन रागद्वेषोका भी करने वाला यह आत्मा नही है।

निजमे निजका परिणमन—अब कुछ और आगे चलकर यह समझ रहा है जीव कि

यह रागद्वेषका करने वाला तो है नही, किन्तु यह चौकीको, पुस्तकको, जितनी भी वस्तुयें सामने आयी है उन सबको जानता तो है । अपने आत्माको तके जग, यह कितना बडा है, कितनी जगहमे फैला है, कैसा स्वरूप है ? तब ध्यानमे आयगा कि यह जो कुछ कर पाता है अपने प्रदेशोमे कर पाता है, बाहर कुछ नही करता है । तब आत्मामे एक ज्ञानगुण है, इस ज्ञानगुणका जो भी काम हो रहा है वह आत्मामे ही हो रहा है, अत इस आत्माने आत्मा को ही जाना, किन्तु ऐसा अलोकिक चमत्कार है इस ज्ञानप्रकाशमे कि यह ज्ञान जानता तो है अपने आपको ही किन्तु झलक जाता है यह सारा पदार्थसमूह । जैसे हम कभी दर्पणको हाथमे लेकर देख तो रहे है केवल दर्पणको, पर पीछे खडे हुए लडको की सारी करामातोको बताते जाते है तो जैसे दर्पणको देखकर पीछे खडे हुए सारे लडकोकी करामात बताते जाते है इसी तरह हम आप पदार्थोंको जान नही रहे हे किन्तु इन पदार्थोके अनुरूप प्रतिबिम्बित हम अपने ज्ञानस्वरूपको जान रहे है और इस अपने आपको जानते हुएमे सारा बखान कर डालते है ।

परसे असम्प्रक्त जीवका परसे कैसा नाता—भैया ! अब परख लिया अपने इस आत्माको ? इसका परपदार्थोके जानने तकका भी सम्बन्ध नही है, किन्तु यह मोही प्राणी यह मेरा कुटुम्बी है, सम्बन्धी है इत्यादि मानता है । अहो ! यह कितना बडा अज्ञान अधकार है ? इस महान् अधकारको भेदने वाली यह ज्ञानज्योति है । यह ज्ञानज्योति उत्कृष्ट ज्ञान-स्वरूप है । इसका जिसे दर्शन हो जाता हे उसकी समस्त आकुलताए दूर हो जाती है । इस कारण हे मुमुक्षु पुरुषो ! ससारके सकटोसे छूटने की इच्छा करने वाले ज्ञानीसन जनो ! एक इस परम अनुपम ज्ञानज्योतिकी ही बात पूछा करो, एक इस ज्ञानस्वरूपकी ही बात चाहा करो और जब चाहे इस ज्ञानस्वरूपकी ही बात देखा करो, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ चीज न चाहने लायक है और न देखने लायक है । इस ज्ञानस्वरूपके दर्शनसे अर्थात् अपने आपको मैं केवलज्ञानमात्र हू—ऐसी प्रतीति बनाकर उत्पन्न हुए परमविश्रामके प्रसादसे अनुभव करने वाले पुरुषके अज्ञानका सर्वथा नाश हो जाता है और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है, जिस ज्ञानके प्रसादसे समस्त लोक और अलोकको यह आत्मा जान लेता है ।

स्वकीय अनन्त तेजकी स्मृति—हम आप सबमे अनन्त महान तेज स्वरसत बसा हुआ है, लेकिन अपने तेजको भूलकर पर्यायरूप मानकर कायर बना हुआ यह जन्तु विषयके साधनोके आधीन बन रहा है । जैसे कोई सिहका बच्चा भेडोके बीच पलने लगा तो भेडो बकरियोकी तरह ही वह रहने लगा, इसको जो जैसा चाहे वैसे ही सींग मारे, गडरिया कान पकडकर खीचता है और वह सिहका बच्चा उसी तरह दीन होकर रहता है जैसे भेड बक-

गियाँ रहती है। कभी किसी दूसरे सिंहकी दहाडको सुनकर, उसकी स्थिति को देखकर कभी यह भान करले कि ओह मेरे ही समान तो यह है जिसकी दहाडसे ये सारे मनुष्य ऊटपटाग भाग खडे हुए है। अपनी शूरताका ध्यान आए तो यह भी दहाड मारकर सारे बधनको तोड कर स्वतत्र हो जायगा, ऐसे ही हम आप ससारी प्राणी उस तेजपुंजके प्रतापको भूले हुए है जिस विशुद्ध ज्ञानमे यह सामर्थ्य है कि सारे सकट दूर कर दे। इस भवकी बातोमे ज्यादा न उलझें, यहाँ कोई सकट नही है। सकट तो वह है जो खोटे परिणाम उत्पन्न होते है, मोह रागद्वेषकी वासना जगती है यह है सकट। यह मोही प्राणी प्रतिक्षण आकुलित रहता है। ये ही हम आप जब इस मोहको दूर करे, विवेकका बल प्रकट करे और अपने तेजपुंजकी सभाल करे, अतरगमे दृढ प्रतीति करलें तो समस्त सकट दूर हो जायेगे।

आत्मोन्नतिसे महत्त्वका यत्न—भैया! दूसरे नेतावोको, धनिकोको देखकर विषाद न करें। वे दुःखी प्राणी है। यदि उन्हे ज्ञानज्योतिका दर्शन नही हुआ है, तुम उनसे भी बहुत बडे बनना चाहते हो तो सासारिक मायाका मोह दूर करके अपने आपमे शाश्वत विराजमान इस ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर लो, तुम सबसे अधिक बडे हो। जिन्हे कल्याणकी वाञ्छा है उनका कर्तव्य है कि वे ऐसी धुन बनाएँ कि जब पूछें तो इस आत्मस्वरूपकी बात पूछे, जब चाहे तब आत्मस्वरूपकी बात चाहे और देखे जाने तो आत्मस्वरूपकी बात ही देखे जाने, ऐसी ज्ञानज्योति प्रकट हो जाय तो फिर आकुलता नही रह सकती है।

सम्यग्ज्ञानका चमत्कार—भैया! लग रहा होगा ऐसा कि यह योगी सतोके करनेकी बात गृहस्थजनोको क्यो बताना चाहिए? इससे गृहस्थ कुछ फायदा लेगे क्या? अपने हृदयसे ही बतावो। इस समय जो इस उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूपकी बात कुछ जानने और सुननेमे आयी है तो विपदा, विडम्बनाका बोझ कुछ हल्का हुआ है या नही? कुछ अतरङ्गमें प्रसन्नता जगी है या नही? अरे इतना आचरण नही कर सकता तो न सही, किन्तु करने योग्य परमार्थतः क्या काम है, उसका ज्ञान करनेमे ही महान् आनन्द उत्पन्न होने लगता है। सूर्य जब उदित होकर सामने आये तब आयगा, किन्तु उससे पौन घटा पहिलेसे ही अधकार सब नष्ट हो जाता है। यह चारित्र आचरण आत्मरमण, स्थिरता जब आए तब आए, किन्तु इसका ज्ञान, इसकी श्रद्धा तो पहिलेसे ही आकुलताको नष्ट करने लगती है। यह ज्ञानभावना समस्त दुःखों का नाश करने वाली है और आत्मामे बल उत्पन्न करने वाली है। इस ज्योतिके अनुभवसे जो उत्कृष्ट आनन्द होता है उससे कर्म भी क्षीण होने लगते है और आत्मामे भी एकाग्रता होने लगती है।

आत्मलाभकी प्रारम्भिक तैयारी—आत्माके सहज स्वरूपकी बात तो जाननेकी और लक्ष्यकी है। अब इसकी प्राप्तिके लिए हम अपने पदमे कैसा व्यवहार करे कि हम इसके धारण

के पात्र रह सकें। प्रथम कर्तव्य यह है कि सम्पदाको भिन्न, असार, नष्ट होने वाली जानकर इस सम्पदाके खातिर अन्याय करना त्याग दे। कोई भी ऊँची बात मुझे पुरुषार्थ बिना मिलेगी कैसे ? और कुछ उससे नुक्सान भी नहीं है, तो हम अन्याय त्याग दें। क्योंकि जगतमे जीवन के आवश्यक पदार्थोका समागम पुण्योदयके अनुसार सहज सुगमतया मिलता रहता है। अन्याय से सिद्धि नही होती। अन्याय वह है जिसे अपने आपपर घटाकर समझ सकते है कि जो बात अपनेको बुरी लगती है वह बात दूसरेको भी बुरी लगती है, उसका प्रयोग दूसरोपर करना अन्याय है। ऐसा जानकर उसका प्रयोग दूसरोपर न करें, यही है अन्याय त्याग। हमारे बारे मे कोई झूठ बोले, हमारी चीज चुरा ले, हमारी माँ बहिनपर कोई कुदृष्टि डाले तो हमको बुरा लगता है, तो हम भी किसी का दिल न दुखावे, किसीकी झूठ बात मत कहे, किसीकी चीज न चुरायें, किसी परस्त्रीपर कुदृष्टि न करे और तृष्णाका आदर न करें। बतावो क्या कष्ट है इसमे ? इसमे न आजीविका का भग होता है और न आत्महितमे बाधा आती है।

अन्याय व मिथ्यात्वके त्यागका अनुरोध—भैया ! अन्यायका त्याग और मिथ्या श्रद्धानका त्याग करो। परसे हित मानना, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुमे रमना, अपने आपको सर्व से विविक्त न समझ पाना—ये सब मिथ्या आशय है। ज्ञानप्रकाश करके इस मिथ्या आशयका भी त्याग करें और अभक्ष्य पदार्थ न खायें, ज्ञानार्जनमे रत रहे, अपनी आजीविका बनाये रहे और इस शुद्धज्ञानके पालनेमे भी लगें। तुम्हे क्या कष्ट है इसमे ? कौनसा नुक्सान पडता है ? व्यर्थकी गप्पोमे और काल्पनिक मौजोकी चर्चावोमे समय खोनेसे कुछ भी हाथ न लगेगा।

एक ज्ञानस्वरूपकी धुनिकी आवश्यकता—इस ज्ञानार्जनमे शान्ति व सतोष मिलेगा। इससे इस ज्ञानज्योतिके अर्जनमे, इसकी चर्चामे ही अपना समय लगाये। इससे ही अपना सम्बन्ध बनाएँ। जैसे कोई कामी पुरुष जिस किसी परस्त्री पर आसक्त हो गया हो या किसी पर कन्या पर जैसे कि पुराणोमे भी कितने ही मोहियोकी चर्चा सुनी है, तो वह पूछेगा तो वही बात, जानेगा देखेगा तो वही बात, अकेलेमे भी भजन बोलेगा तो वही। कैसी इस कामी पुरुषकी तीव्र धुनि हो जाती है। ऐसे ही ज्ञानी पुरुषके ज्ञानस्वरूपके रुचिकी तीव्रता धुनि हो जाती है। वह पूछेगा, जानेगा, चाहेगा तो एक ज्ञानस्वरूपको। हम आपका भी यही कर्तव्य है कि इस ज्ञानस्वरूपका आदर करें और ससारसकटोसे सदाके लिए छुटकारा पायें।

जीवोऽन्य पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसग्रह ।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तर ॥५०॥

संक्षिप्त तत्त्वसंग्रह—ग्रन्थ समाप्तिसे पहिले द्विचरम श्लोकमे यह बताया जा रहा है कि समस्त प्रतिपादित वर्णनोका सारभूत तत्त्व क्या है ? हमे यह पूर्ण ग्रन्थ सुननेपर शिक्षा लेने योग्य बात कितनी ग्रहण करनी है, यह जानना है, वही कहा जा रहा है कि जीव जुदा

है, पुद्गल जुदा है, इतना ही मात्र तत्त्वका सग्रह है, इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ कहा जाता है वह सब इसी तत्त्वका विस्तार है ।

मूलमें सत्स्वरूपता—मूलमे तत्त्व सन्मात्र कहा गया है । जो है वह तत्त्व है, इस दृष्टिसे जितने भी पदार्थ है वे समस्त पदार्थ सत्रूप है और इस ही दृष्टिको लेकर अद्वैतवादोकी उत्पत्ति होती है । कोई तत्त्वको केवल एक सद्ब्रह्म मानते है, कोई तत्त्वको केवल शून्य मात्र मानते है, कोई ज्ञानमात्र, कोई चित्राद्वैतरूप । नाना प्रकारके इन अद्वैतवादोकी एक इस सद्वादसे उत्पत्ति हुई है, और इस स्थितिसे देखो तो कोई भी पदार्थ हो, प्रत्येक पदार्थ है, है की अपेक्षा सब समान है । जैसे मनुष्यकी अपेक्षा बालक जवान बूढ़ा किसी भी जाति कुलका, देशका हो सबका सग्रह हो जाता है और जीवकी अपेक्षासे मनुष्य हो, पशु हो, कीट हो सबका सग्रह हो जाता है और सत्की अपेक्षा जीव हो अथवा दिखने वाले ये चौकी, भीत आदि अजीव हों सबका सग्रह हो जाता है ।

विशेषसे अर्थक्रियाकी सिद्धि—सत्की दृष्टि समस्त अर्थोके समान होनेपर भी अर्थ क्रियाकी बात देखना आवश्यक है । काम करनेकी बात है, प्रत्येक पदार्थ है और वे सब कुछ न कुछ काम कर रहे है, उनमे ही परिणमन हो रहा है । और इस अर्थक्रियाकी दृष्टि से जितने भी पदार्थ है वे सब एक अपने-अपने स्वरूपमे अपना एकत्व लिए हुए है । जैसे गौ जाति और न्यारी-न्यारी गौये । आप दूध किसका पीते है ? गौ जातिका या न्यारी-न्यारी गौ का । गऊ जातिसे दूध नही निकलता किन्तु जो व्यक्तिगत गौ है उससे दूध निकलता है । जाति तो काम करने वाले अर्थक्रियासे परिणमने वाले, पदार्थके सग्रह करने वाले धर्मका नाम है । जो ऐसी-ऐसी अनेक गौये है उनका सग्रह गौ जातिमे होता है । तो वास्तवमे पदार्थ अनन्तानन्त तो जीव है, अनन्तानन्त पुद्गल है, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असख्यात कालद्रव्य है । उन सबका सत्त्वधर्मसे सग्रह हो जाता है ।

जीव और पुद्गलोकी अनन्तता—जीवद्रव्य अनन्त है, इसका प्रमाण यह है कि प्रत्येक जीव अपनेमे अपना ही परिणमन करता है । एक परिणमन जितनेमे समाये और जितनेसे बाहर कभी न जाय उसको एक पदार्थ बोला करते है । जैसे मेरा सुख दु ख मेरी कल्पना आदिक रूप परिणमन जितनेमे अनुभूत होता है और जिससे बाहर होता ही नही है उसको हम एक कहेगे । यह मै एक हू, ऐसे ही आपका सुख दुःख रागद्वेप समस्त अनुभव आप मे ही परिसमाप्त होते है सो आप एक है । इस प्रकार एक एक करके अनन्त जीव है, लेकिन सभी जीवोका मूल स्वरूप एक समान है । अत सब जीव एक जीव जातिमे अतर्निहित हो जाते है । पुद्गल भी अनन्त है । जिसमे रूप रस गध स्पर्श पाया जाय, उसे पुद्गल कहते है । पुद्गल शब्दमे यह अर्थ भरा है—पुद् मायने जो पूरे और गल मायने जो गले । जहाँ मिल-जुल

कर एक बडा रूप बन सके और बिखर बिखरकर हल्के क्षीण रूप हो जायें उनको पुद्गल कहते है। ये रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणके पिण्ड रूप जो इन्द्रिय द्वारा ज्ञानमे आते है वे सब पुद्गल है।

अचेतन अमूर्त द्रव्योकी प्रसिद्धि—धर्मद्रव्य एक ही पदार्थ है। जो ईथर, सूक्ष्म समस्त आकाशमे नही किन्तु केवल लोकाकाशमे व्याप्त है वह जीव व पुद्गलके चलनेके समय निमित्तभूत होता है। जैसे मछलीको चलानेमे जल निमित्तमात्र है। जल मछलीको जबरदस्ती नही चलाता किन्तु जलके अभावमे मछली नही चल पाती है। मछलीके चलानेमे जल भी निमित्त है, इसी प्रकार व्याप्त यह धर्मद्रव्य हम आपको जबरदस्ती नही चलाता, किन्तु हम आप जब चलनेका यत्न करते है तो धर्मद्रव्य एक निमित्तरूप होता है। इसी प्रकार चलकर ठहरनेमे निमित्तभूत अधर्मद्रव्य है। वह भी एक है। आकाशके बारेमे यद्यपि वह अमूर्त है, इस धर्म आदिक की तरह अरूपी है फिर भी लोगोके दिमागमे आकाशके सम्बन्धमे बडी जानकारी बनी रहती है। यह ही तो है आकाश जो पोल है और हाथ फैलाकर बता देते है। है वह भी अमूर्त, न हाथसे बताया जा सकता और न दिखाया जा सकता और इस लोकमे एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य स्थित है जिसपर स्थित हुए समस्त द्रव्योकी वर्तनामे जो कारण है।

जीवगत क्षोभ व उसके विनाशके लिये निज ध्रुव तत्त्वके आश्रयकी आवश्यकता—इन सब द्रव्योमे से केवल जीव और पुद्गल ही विभावरूप परिणाम सकते है। हम आप जीवो को क्षोभ लगे है तो इस पुद्गलके सम्बन्धसे धन सम्पदा घर मकान शरीर ये कुटुम्बी जन इनको देखकर न कहना, ये तो निमित्तभूत कार्माण पुद्गलके नोकर्म है, आश्रयभूत है। जो यह सब दृश्यमान है उसको देखकर इन सबके झझट कल्पनामे आते है, जो रात दिन परेशान किए रहते है इस जीवको। तो जीवका हित इसमे है कि वह झझटोसे मुक्त हो। झझटोसे मुक्त तब ही हो सकता है जब इसको कोई ध्रुव आशय मिले। जितने भी ये बाह्य पदार्थ है जिनका यह मोही जीव आश्रय किए रहता है वे सब अध्रुव है। जैसे चलते हुए मुसाफिरका रास्तेमे पेड मिलते है तो पेड निकलते जाते है, उन पेडोसे मुसाफिरको मोहब्बत नही होती है, उनको देखकर निकल जाता है, ऐसे ही यात्रा करते हुए हम आप सब जीवोको ये समागम थोडी देरको मिलते है, निकलते जाते है, इन अध्रुव पदार्थोके प्रीति करनेमे हित नही है। जिनको अपने ध्रुव तत्त्वका परिचय नही है वे आश्रय लेगे अध्रुवका।

देहदेवालयस्थ देवके शुद्ध परिचयकी शक्यता—इन पुद्गलोसे भिन्न मै हू, ऐसा समझने के लिए स्वरूप जानना होगा, यह मै जीव चेतन हू और ये पुद्गल अचेतन है, इनसे मै न्यारा हू। शरीरमे बँधा होकर भी यह जीव अपने स्वरूपको पहिचान ले, इसमे क्या कुछ अनुमान

प्रमाण भी हो सकता है ? हाँ है। जब हम आप किसी एकांतमे बैठ जाते है तो वहाँ केवल एक प्रकारकी कल्पना-कल्पनामे ही उपयोग बसा रहता है। उस समय यह भी स्मरण नही रहता कि मेरा देह है, मेरा घर है। केवल एक कल्पना ही रहा करती है। कोई काम धुनि-पूर्वक कर रहे हो, उसमे किसी तत्त्वकी धुन लगी हो तो अपने शरीरका भी भान नही रहता है। कोई एक तत्त्व ज्ञानमे रहता है। अब जो जाननहार तत्त्व है उस ही का स्वरूप कोई जाननेमे लग जाय, ऐसी धुन बने तो उसे इस देहका भी भान नही रहता है, जिसपर दृष्टि हो उसव। ही स्वाद आता है चाहे कही बस रहे हो, जहाँ दृष्टि होगी अनुभव उसका ही होगा।

दृष्टिके अनुसार स्वाद—एक छोटीसी कथानक है—किसी समय सभामे बैठे हुए बादशाहने बीरबलसे मजाक किया बीरबलको नीचा दिखानेके लिए। वीरबल! आज हमे ऐसा स्वप्न आया है कि हम और तुम दोनो घूमने जा रहे थे। रास्तेमे दो गड्ढे मिले, एकमे शक्कर भरी थी और एकमे गोबर, मल आदि गंदी चीजें भरी थी। सो मै तो गिर गया शक्करके गड्ढेमे और तुम गिर गये मलके गड्ढेमे। बीरबल बोला— हजूर ऐसा ही स्वप्न हमे भी आया। न जाने हम और आपका कैसा घनिष्ट सम्बन्ध है कि जो आप देखते स्वप्नमे सो ही मै देखता। सो मैने स्वप्नमे देखा कि हम और तुम दोनो घूमने जा रहे थे, रास्तेमे दो गड्ढे मिले। एक था शक्करका गड्ढा और एक था मल, गोबर आदिका गड्ढा। शक्कर के गड्ढेमे तो आप गिर गये और मै गोबर मलके गड्ढेमे गिर गया, पर इसके बाद थोडा और देखा कि आप हमको चाट रहे थे और हम आपको चाट रहे थे। अब देखो—बादशाह को क्या चटाया ? गोबर, मल आदि, और स्वयने क्या चाटा ? शक्कर। तो कहाँ हम पडे है, कहाँ विराजे है, इसका ख्याल न करना, किन्तु जहाँ दृष्टि लगी है उसपर निगाह करना। स्वाद उसीका आयगा जहाँपर दृष्टि लगी है। यह ज्ञानी गृहस्थ अनेक झझटोमे फसा है, घर मे है, कितना उत्तरदायित्व है ऐसी स्थितिमे रहकर भी उसकी दृष्टि वस्तुके यथार्थ स्वरूपपर है। अपने सहज ज्ञानस्वरूपका भान है, उस ओर कभी दृष्टि हुई थी उसका स्मरण है तो उसको अनुभव और स्वाद परमपदार्थका आ रहा है।

श्रद्धाभेदसे फलभेद—कोई पुरुष बडी विद्याएँ सीख जाय, अनेक भाषाएँ जान जाय, और ग्रन्थोका विषय भी खूब याद कर ले, लेकिन एक सहजस्वरूपका भान न कर सके और अपनी प्रकट कलावो द्वारा विषयोके पोषणमे ही लगा रहे तो बतलावो कि ऐसे जानकारोके द्वारा स्वाद किसका लिया गया ? विषयोका, और एक न कुछ भी जानता हो और स्थिति भी कैसी ही विचित्र हो, किन्तु भान हो जाय निज सहजस्वरूपका तो स्वाद लेगा अतस्तत्त्व का आनन्दका। भैया! श्रद्धा बहुत मौलिक साधन है। हो सकता है कि पशु, पक्षी, गाय, बैल भैस, सूवर गधा, नेवला, बदर आदि ये अतस्तत्त्वका स्वाद करले अर्थात् ब्रह्मस्वरूपका अनु

भव करले, इस ज्ञानशक्तिका प्रत्यय करलें—मैं ज्ञानानन्दमात्र हू । जो जिह्वामे बोल भी नही सकते, जिनकी कोई व्यक्ति भी नही हो पाती है । कहो उन जीवोमे से कोई निज सहज-स्वरूपका भान करले और बहुत विद्यावोको पढकर भी न कर सके तो अन्तर एक श्रद्धाकी पद्धतिका रहा । सप्तम नरकका नारकी जीव तो सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकता है और भोग विषयोमे आसक्त जीव मनुष्य है और बडी प्रतिष्ठा, यश अनेक बातें हो, पर विषयोका व्यामोही पुरुष इस सम्यक्त्वका अनुभव नही कर सकता है । श्रद्धा एक मौलिक साधन है उन्नतिके पथमे बढनेका ।

पार्थक्य प्रतिबोध—यहाँ इतना ही समझना है सक्षेपरूपमे कि जीव जुदे है और पुद्गल जुदे है । ये सामने दो अगुली है, ये दोनो अगुली जुदी जुदी है, क्योकि यह अनामिका अगुली मध्यमा रूप नही हो सकती और मध्यमा अगुली अनामिका अगुलीरूप नही हो सकती । इस कारण हम जानते है कि ये दो अगुलियाँ जुदी-जुदी है । ऐसे ही ये दो मनुष्य जुदे-जुदे है क्योकि यह एक मनुष्य दूसरे मनुष्यरूप नही हो पाता और यह दूसरा मनुष्य इस मनुष्य रूप नही हो पाता । यही तो भिन्नता समझनेका साधन है । तो ये समस्त पुद्गल प्रसग जिनके व्यामोहमे विपत्ति और विडम्बना रहती है, ये अचेतन है और यह मै जीव चेतन हू । इस प्रकारका उनका असाधारणस्वरूप जानना, बस यही एक हेय पदार्थसे अलग होकर उपादेय पदार्थमे लगनेका साधन है । इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसका विस्तार है । सात तत्त्व जीव पुद्गलके विस्तार है, तीन लोकका वर्णन यह जीव पुद्गलका विस्तार है । सर्वत्र जानना इतना है कि यह मै ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा जुदा हू और ये देहादिक पुद्गल मुझसे जुदे है ।

यथार्थ प्रतिबोधके बिना शान्तिका अनुपाय—भैया ! शान्ति यथार्थ ज्ञान बिना नही मिल सकती, चाहे कैसा ही कुटुम्ब मिले, कितनी ही धन सम्पदा मिले, पर अपना ज्ञानानन्द स्वभाव यह मै हू ऐसी प्रतीतिके बिना सतोष हो ही नही सकता । कहाँ सतोष करोगे ?

तृष्णाके फेरमे अशान्ति—एक सेठ जी और एक बढई ये दोनो पास-पासके घरमे रहते थे । बढई दो रुपये रोज कमाता था और सब खर्च करके खूब खाता पीता था और सेठ सैकडो रुपये कमाता था और दाल रोटीका ही रोज-रोज उसके यहाँ भोजन होता था । सेठानी सेठजीसे कहती है कि यह गरीब तो रोज पकवान खाता है और आपके घर दाल रोटी ही बनती है तो सेठ जी बोले कि अभी तू भोली है, जानती नही है यह बढई अभी निन्यानवे के फेरमे नही पडा है । निन्यानवेका फेर कैसा ? सेठ जी ने एक थैलीमे ९९ रुपये रखकर रात्रिको बढईके घरमे डाल दिये । सोचा कि एक बार ९९ रुपये जाये तो जायें, सदाके लिए झझट तो मिटे, घरकी लडाई तो मिटे । बढई ने सुबह थैली देखी तो बडा खुश

हुआ। गिनने लगा रुपये—एक, दो, १०, २०, ५०, ७०, ८०, ९०, ९८ और ९९। अरे भगवानने सुनी तो खूब है मगर एक रुपया काट लिया। कुछ हर्ज नही, हम आजके दिन आधा ही खर्च करेंगे, १ रुपये उसमे मिला देगे तो १००) हो जायेंगे। मिला दिया। अब १००) हो गये। सोचा कि हमारा पडौसी तो हजारपति है उसको बहुत सुख है, अब वह जोडनेके चक्करमे पड गया। सो हजार जोडनेकी चिन्ता लग गई। अब तो वह दो रुपये कमाए तो चार आनेमे ही खाने पीनेका खर्चा चला ले। अब जब यह हालत हो गयी तो सेठ कहता है सेठानीसे कि देख अब बढईके यहा क्या हो रहा है ? तो सेठानी ने बताया कि अब तो वहाँ बडा बुरा हाल है। बस यही तो है निन्यानवेका फेर।

शान्तिका स्थान—यह अनुमान तो कर लो कि कहाँ शान्ति मिलेगी ? निर्लेप आकिञ्चन्य ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र मै हू, मेरा कही कुछ नही है, ऐसा अनुभव करनेमे ही शान्ति मिलेगी, अन्यत्र नही। इसलिए कहा है कि तत्त्वका सग्रह इतना ही है। पुद्गल जुदे है और मै इस पुद्गलसे जुदा हू।

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य विद्वान्, मानापमानसमता स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्स्वजनेऽजने व मुक्तिश्रिय निरुपमामुपयाति भव्य ॥५१॥

इष्टोपदेशके अध्ययनका फल—यह इष्टोपदेश ग्रन्थका अतिम छद है। इस छदमे इस ग्रन्थके अध्ययनका फल बताया है। ग्रन्थका नाम है इष्टोपदेश। जो आत्माको इष्ट है अर्थात् आत्महित करने वाला है ऐसे तत्त्वका उपदेश, तत्त्वकी दृष्टि और तत्त्वके ग्रहणका उपाय जिसमे बताया है इस ग्रन्थकी समाप्तिपर आज यह अन्तिम छद कहा जा रहा है। किसी भी विषयको, ग्रन्थको, उपदेशको जाननेका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है। ज्ञानके फल चार बताये गए है—अज्ञान निवृत्ति, हेयका त्याग करना, उपादेयका ग्रहण करना व उपेक्षा हो जाना। ज्ञानके फल चार होते है जिसमे अज्ञाननिवृत्ति तो सबमे रहता है। चाहे हेयका त्याग रूप फल पाये, चाहे उपादेयका ग्रहणरूप फल पाने और चाहे उपेक्षा पाये, अज्ञाननिवृत्ति सबमे फल मिलेगा। जिस तत्त्वका परिज्ञान कर रहे है, जब तक हमारा अज्ञान दूर न हो जाय तब तक हेयको छोडेगा कैसे कोई, अथवा विषयोको त्यागेगा कैसे या उदासीनता भी कैसे बनेगी ? जगतके जीव अज्ञान अधकारमे पडे है। अज्ञान अधकार यही है कि वस्तु है और भाति व जानता है और भाति, यही अज्ञान अधकार है।

कल्पित चतुराई—यो तो भैया ! अपनी कल्पनामे अपनी बडी चतुराई जच रही है। दस आदमियोमे हम अच्छा बोलते है, हम अनेक कलाये जानते है और अनेकोसे बहुत-बहुत चतुराईके काम कर डालते है, इतनी बडी सम्पदा बना ली है, ऐसा मिल और फैक्टरी खोल ली है। हम तो चतुर है और बडे ज्ञानवान है। सबको अपने आपमे अपनी चतुराई नजर

आती है, और यो अलकारमे कह लो कि मान लो दुनियामे कुल डेढ अकल हो तो प्रत्येक मनुष्य एक अकल तो अपनेमे सोचता है और आधी अकल दुनियाके सब लोगोमे मानता है। अपनी चतुराई सभी मानते है। भिखारी भी भीख माग लेनेमे अपनी चतुराई समझते है। वाह मैने कैसी चतुराई खेली कि इसने मुझे इतना कुछ दे दिया। लेकिन यह सब अज्ञान अधकार है।

निष्पक्ष वृत्तिमे आत्महित—आत्माका हित आत्माका मर्म निष्पक्ष हो सके बिना नही मिल सकता है। केवल अपने आपमे आत्मत्वका नाता रखकर सब कुछ जाने, करे, बोले, नाता केवल आत्मीयताका हो, किसी अन्य सम्बन्धोका न हो। एक वस्तुका दूसरे वस्तुके साथ कोई तात्विक सम्बध नही है, क्योकि वस्तुका सत्त्व इस बातको सिद्ध करता है कि इस वस्तु का द्रव्य गुण पर्याय कुछ भी इस वस्तुसे बाहर नही रहता है और ऐसे ही समस्त पदार्थ है। जब समस्त वस्तुवोमे स्वतन्त्रता है क्योकि अपने स्वरूपकी स्वतन्त्रता आये बिना उसकी सत्ता ही नही रह सकती है, तब किस पदार्थका किससे सम्बध है?

प्रकाश दृष्टान्तपर वस्तुस्वातन्त्र्य का दिग्दर्शन—वस्तुस्वातन्त्र्य के सम्बन्धमे कुछ दो-चार चर्चायें कोई छेड दे तो प्रथम तो कोई थोडी बहुत आलोचना करेगा, लेकिन कुछ सुननेके बाद, मननके बाद समझमे आ जायगा कि ओह! वस्तुकी इतनी पूर्ण स्वतन्त्रता है। यहाँ यह जो प्रकाश दिख रहा है, इसीके बारेमे पूछे कि बतावो यह प्रकाश किसका है, सब लोग प्राय यह कहेगे कि यह प्रकाश लट्टूका है, बल्बका है। कितना? जितना इस कमरेमे फैला है। लेकिन यह तो बतावो कि लट्टू किसको कहते है और वह कितना है? इसके स्वरूपका पहिले निर्णय करे। कहनेमे आयगा कि वह तो एक तीन चार इच घेरका है और उसमे भी जितने पतले-पतले तार है उतना मात्र है। तो यह नियम सर्वत्र लगेगा कि जो वस्तु जितने परिमाणकी है उस वस्तुका द्रव्य गुण पर्याय, पर्याय मीन्स मोडीफिकेशन वह उतनेमे ही होगा, उससे बाहर नही। इस नियमसे कही भी विघात नही होता है। यह प्रकाश जो इस माइकपर है यह लट्टूका प्रकाश नही है, यह माइकका प्रकाश है। चौकी पुस्तक कपडे आदिपर जो प्रकाश है वह लट्टूका प्रकाश नही, वह कपडा चौकी आदिका प्रकाश है। इसमे कुछ युक्तिया देखो। लट्टू भी एक पौद्गलिक चीज है, भौतिक चीज है। जैसे उस भौतिक चीजमे इतना तेज स्वरूप होनेकी योग्यता है तो इस पदार्थमे भी अपनी-अपनी योग्यता के माफिक तेज स्वरूप होनेका स्वभाव है। दूसरी बात यह है कि लट्टूका ही प्रकाश हो तो यह सर्व चीजोपर एक समान होता, यह भेद क्यो पड गया कि काच ज्यादा चमकीला बन गया, पालिशदार चीज उससे कम चमकीली है और यह फर्श अत्यन्त कम चमकीला है। यह अन्तर कहाँसे आया? ये पदार्थ स्वय अपनी योग्यताके अनुसार प्रकाशमान हो गए है।

छायाके दृष्टान्तपर वस्तुस्वातन्त्र्यका दिग्दर्शन—वस्तुस्वातन्त्र्यके बारेमे दूसरी बात देखो—इस हाथकी छाया चौकी पर पड रही है, सब लोग देख रहे होगे। अच्छा बताइए कि यह किसका परिणमन है ? लोग तो यही कहेंगे कि यह तो हाथकी छाया है। लेकिन हाथ कितना है, कहाँ है ? जितना हाथ है, जितनेमे है, हाथका सब कुछ प्रभाव परिणमन गुण सब कुछ हाथमे ही गर्भित हो गया, हाथसे बाहर नही हुआ, लेकिन आप यह शका कर सकेंगे कि हाथ न हो तो यह छाया कैसे हो जायगी ? बस यही है निमित्तके सद्भावको बतानेका समाधान। यही निमित्त है, निमित्तकी उपस्थिति बिना इस उपादेयमे इस रूप कार्य न हो सके यह बात युक्त है, पर निमित्तभूत पदार्थका द्रव्य, गुण, पर्याय, प्रभाव कुछ भी परवस्तुमे उपादायमे नही आता।

परके अकर्तृत्वपर एक जजका दृष्टान्त—एक जज साहब थे, वे कोर्ट जा रहे थे, ठीक टाइमसे जा रहे थे। रास्तेमे एक गधा कीचडसे फसा हुआ दिखा। जज साहबसे न रहा गया, सो मोटरसे उतरकर उसे कीचडसे निकालने लगे। साथके सिपाही लोगोने मना किया कि हम लोग निकाले देते है आप न निकालो, पर वे नही माने। उस गधेके निकालनेमे जज साहब कीचडसे भर गए और उसी हालतमे कोर्ट चले गए। वहा लोगोने देखा कि आज जज साहबकी बडी बुरी हालत है, कोट पैंट आदिमे मिट्टी लगी हुई है। साथके सिपाही लोगोने उनसे बताया कि आज जज साहबने एक गधेको कीचडसे फसा हुआ देखकर उसके ऊपर दया करके उसे कीचडसे निकाला है। तो जज साहब बोले कि मैने गधेपर दया नही की, गधेकी वेदनाको देखकर मेरे हृदयमे एक वेदना उत्पन्न हुई, सो उस अपनी ही वेदनाको मैने मिटाया।

स्वातन्त्र्यसिद्धिमे दृष्टान्तोका उपसंहार—ऐसे ही जजकी घटनामे निमित्तनमित्तिक सम्बध था कि वह गधा बच गया। इसीको कहते है निमित्तनैमित्तिक सम्बध। ऐसे ही सभी पदार्थोंमे निमित्तनैमित्तिक सम्बध चलता है। जैसे यह छाया बनी तो निमित्त तो इसमे हाथ हुआ और यह ही प्रदेश, यह ही चौकीकी जगह यह छाया रूप परिणमी। यह छाया निश्चय से चौकीकी है, व्यवहारसे हाथकी है। यह समस्त प्रकाश निश्चयसे इन वस्तुवोका है व्यवहार से लट्टूका है। हम बोल रहे है, आप सब सुन रहे है। लोगोको दिखता है कि महाराज हमको समझाया करते है, लेकिन मै कुछ भी नही समझा पाता हू, न मुझमे सामर्थ्य है कि मै आपको समझा सकूँ, या आपमे कोई परिणमन कर दू। जैसे आप अपने भावोके अनुसार अपना हित जानकर अपनी चेष्टा करते है, सुनने आते है, उपयोग देते है और उन वचनोका निमित्त पाकर अपने ज्ञानमे कुछ विलास और विकास पैदा करते है, ऐसे ही मै भी अपने ही मनमे अपने ही विकल्पमे विकल्प करता हुआ बट जाता हू बोलने लगता हू और यहाँ आता हूँ

हू । मै जैसे आपमे कुछ नही करता हू, आप मुझमे कुछ नही करते किन्तु यह प्रतिपादक और प्रतिपाद्यपनेका सम्बन्ध तो लोग देख ही रहे है, यह निमित्तनैमित्तिक सम्बधकी बात है ।

अन्त स्वरूपके परिचयसे स्वातन्त्र्यका परिज्ञान—भैया ! अत स्वरूपमे प्रवेश पा के बाद वस्तुकी स्वतत्रता विदित होती है । ऐसी स्वतत्रता विदित होनेपर मोह रह नही सकता । कैसे रहेगा मोह ? मोह कहते है उसको कि किसी वस्तुको किसी दूसरेकी वस्तु मानना । जहाँ स्वतत्र वस्तु नजर आ रहे है वहाँ सम्बध कैसे माना जा सकता है, मोह ठहर नही सकता है । किसी भी उपदेशके अध्ययनका फल साक्षात् अज्ञाननिवृत्ति है । यह जीव पहिले अपनाए हुए परवस्तुका त्याग करता है यह भी ज्ञानका फल है । जो चीज ग्रहणके अयोग्य है उसे ग्रहण नही करना है, किन्तु मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना है, उदासीन रहना है । इसके फलसे उत्कृष्ट फल है उदासीनताका । यो इस ग्रन्थका भली प्रकार अध्ययन करे । भली प्रकारका अर्थ है अपेक्षा लगाकर ।

स्याद्वादके बिना मन्तव्योमे विरोध—देखिये विडम्बनाकी बात, जीव सब ज्ञानमय है और एक पुरुप दूसरेकी बातका खण्डन करता है । यह कैसी विडम्बना हो गयी है ? जब ज्ञानमय दूसरे जीव है, ज्ञानमय हम भी है तो हम दूसरेके तत्त्वनिर्णयका खण्डन करे, यही तो एक विडम्बनाकी बात है । यह विडम्बना क्यो बनी ? इसने नयका अवलम्बन छोड दिया । दूसरेकी बात सुननेका धैर्य रक्खो और उस कहने वालेके दिमाग जैसा अपना दिमाग बनावो और उसे सुनो, दूसरेकी बात मानो अथवा न मानो, इसके दोनो ही उत्तर है, मानना भी और न मानना भी, लेकिन दूसरेकी बातको हम गलत न कह सके । जिस दृष्टिमे वह तत्त्व है उस दृष्टिसे मान लिया और अन्य दृष्टिमे वह बात नही मानी जा सकती है । जैसे कोई पुरुप किसी पुरुपके बारेमे परिचय बताने वाली एक बात कह दे कि यह अमुकका बाप है, हाँ अमुकका बाबा है, यह दृष्टि बननेपर तो विडम्बनापूर्ण वचन नही हुए, यहाँ कोई दृष्टि छोड दे, यह साहब तो बाप कह रहे है, वही विवाद हो जायगा । वह पुरुप किसीका पुत्र है, किसीका कोई है । यदि हम अपेक्षा समझते है तो वहाँ कोई विसम्वाद उत्पन्न न होगा । अपेक्षा त्यागकर तो विडम्वना बनती ही है । ऐसे ही जीव और समस्त पदार्थोके स्व-रूपके बारेमे जिसने जो कुछ कहा है उनके दिमागको टटोले, सबकी बातको आप सही मान जायेंगे । लेकिन वे सब परस्पर विरुद्ध तो बोल रहे है, इन सबको सही कैसे मान लोगे ? अरे भले ही परस्पर विरुद्ध बोले लेकिन जिस दृष्टिसे जो कहता है उस दृष्टिसे उसकी बात जान लेना है, इसमे कोई विडम्बनाकी बात नही है ।

सम्यग्ज्ञान होनेपर कर्तव्य—नयो द्वारा वस्तुत्वको जान लेनेपर फिर कर्तव्य यह होता है कि जो ध्रुव तत्त्वसे सम्बद्ध दृष्टि है उसे ग्रहण कर ले और अध्रुव तत्त्वरूप जो

निर्णीत है उसे छोड दे और अतमे ध्रुव और अध्रुव दोनोकी कल्पना हटाकर एक परम उदासीन अवस्था प्राप्त करे । यह है आत्महित करनेकी पद्धति । इस इष्टोपदेशको भली प्रकार विचारकर आत्मज्ञानके बलसे सम्मान और अपमानमे समतापरिणाम धारण करना, न राग करना, न द्वेप करना और ग्राम बन जगल किसी भी जगह ठहरते हुए समस्त आग्रहोको छोड देना, मूल सत्यके आग्रहके सिवाय अन्य समस्त आग्रहोका परित्याग कर दे, अन्तमे यह सत्य-सत्यरूप रह जायगा । सत्यका भी आग्रह न रह जायगा । सत्यका भी जब तक आग्रह है तब तक विकल्प है, भेद है. और जब सत्यका भी आग्रह नही रहता किन्तु स्वय सत्यरूप विकसित हो जाता है वह है आत्माकी उन्नतिकी एक चरम अवस्था । यह जीव फिर ऐसे ही अनन्त ज्ञानानन्द गुणोसे सम्पन्न एक निरुपम अवस्थाको प्राप्त कर लेता है ।

इष्टोपदेशके सम्यक् अध्ययनका फल—इस ग्रन्थके अध्ययनके फलमे बताया है कि अज्ञाननिवृत्ति, हेय पदार्थोका त्याग, उपादेयका ग्रहण, फिर परम उदासीन अवस्था—यह क्रमशः होकर अतमे इस निरुपम निर्वाणकी अवस्था प्राप्त होती है । साक्षात् फल तो अज्ञान निवृत्त हो गया यह है, साथ ही चूँकि निश्चय और व्यवहारनयसे पदार्थोको समझा भी है तो उस ही के फलमे बाह्यका त्याग करना, ध्रुव निज ब्रह्मस्वरूपमे मग्न होकर समस्त रागद्वेप मान अपमान सकल्प विकल्प विकारोको त्याग देना है । अब इसके इस योग साधनके सम्बधमे शत्रु, मित्र, महल, मकान, काच, कचन निन्दा स्तवन—ये सब समानरूपसे अनुभवमे आते है । जो पुरुष आत्माके अनुष्ठानमे जागरूक होता है, स्वाधीन, नय पद्धतिसे निर्णय करके उन सब नयपक्षोको छोडकर केवल एक ज्ञानस्वरूपमे जो अपना उपयोग करता है, वीतराग शुद्ध ज्ञान-प्रकाशमे मग्न होता हुआ सर्व विकारोसे दूर होकर विशुद्ध बन जाता है, फिर यह जीव अनत ज्ञान जिसके द्वारा समस्त विश्वका ज्ञाता बनता है, अनन्त दर्शन, जिसके द्वारा समस्त अनन्त ज्ञेयोको जानने वाले इस निज आत्मतत्त्वको दृष्टिमे परिपूर्ण ले लेता है । अनन्त आनन्द, जिसके बलमे कोई भी आकुलता कभी भी न होगी और अनन्त सामर्थ्य, जिसके कारण यह समस्त विकास एक समान निरन्तर बना रहेगा, ऐसे अनन्त चतुष्टयसम्पन्न स्थितिको भव्य जीव प्राप्त होता है ।

इष्टोपदेशसे सारभूत शिक्षण—इस उपदेशको सुनकर हमे अपने जीवनमे शिक्षा लेनी है कि हम अपनेको समझे और आत्मधर्मके नाते हम अपने आपमे कुछ अलौकिक सत्य कार्य कर जाये, जिससे हमारा यह दुर्लभ नर-जन्म पाना सफल हो । उसके अर्थ हम रागद्वेप निवारक शास्त्रोका अध्ययन करे और सत्सग, गुरुसेवा, स्वाध्याय, ज्ञानाभ्यास इत्यादि उपायो से अपने आत्मतत्त्वको रागद्वेपोकी कलुपतावोसे रहित बनाये । यह चर्या हम आपकी उन्नति का प्रधान कारण बनेगी ।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावा प्राप्स्यन्ति चापुरचल सहज सुशर्म ।
एकस्वरूपममल परिणाममूल, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्ध चिदस्मि जपतो निजमूलमत्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहित स्पृशतः स्वतत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलय विपदो विकल्पा, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्न समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्ण सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूर, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योति पर स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्त, ज्ञानिस्ववेद्यमकल स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियत सततप्रकाश, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्य, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसश्रयणजामलवृत्तितान, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमश भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्ड, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविशासविकासभूमि, नित्य निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेज, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदित समाधि ।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्ग, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्व स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्प य ।
सहजानन्दसुवन्द्य स्वभावमनुपर्यय याति ॥